कुहासे में उगता सूरज

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

सम्पादिका : साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

श्री फतेहचैन भंसाली
ट्रस्टी : श्रीमती झमकूदेवी भंसाली मेमोरियल ट्रस्ट, सुजानगढ़–कलकत्ता
सी० आर० वी० कैपिटल मार्केट्स लि०, ३१ मर्जबन रोड, बम्बई के सौजन्य से

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान) /
मूल्य : पैंतीस रुपये, तृतीय संस्करण : १९९५ / मुद्रक : कलरप्रिंट, दिल्ली-३२

KUHASE MEN UGATA SOORAJ by Acharya Tulsi Rs. 35.00

स्वकथ्य

लगभग दो दशक पहले की बात है। उन दिनों हम दक्षिण भारत की यात्रा पर थे। सन् १९६८ का चातुर्मास मद्रास था। चातुर्मास पूरा हुआ। मर्यादा महोत्सव चिदम्बरम् करना था। मद्रास से चले। तिरुवण्णामलै पहुंचे। समय का सूत्र हाथ में था। उसमें एक गांठ और लगी। ईसवी सन् १९६८ की पूर्णता और १९६९ का प्रारंभ। १ जनवरी १९६९ को एक साप्ताहिक विज्ञप्ति अस्तित्व में आई। उद्देश्य था—दक्षिण और उत्तर के बीच संवाद स्थापित करना। दूसरे शब्दों में केन्द्र के साथ पूरे धर्मसंघ को जोड़ना। आदर्श साहित्य संघ का शिविर कार्यालय साथ में था। विज्ञप्ति प्रकाशन का दायित्व उसी ने संभाला। दक्षिण यात्रा में जो सिलसिला शुरू हुआ, अब तक अबाध गति से चल रहा है। विगत बीस वर्षों में विज्ञप्ति के ९२९ अंक उसके पाठकों तक पहुंच चुके हैं। केवल तेरापंथ समाज में ही नहीं अन्य लोगों में भी विज्ञप्ति के प्रति आकर्षण है। इसमें प्रमुख रूप से केन्द्र के कार्यक्रमों एवं समाचारों का आकलन होता है। अन्य संवादों की एक सीमा है। सीमित साधन, सीमित प्रकाशन और सीमित वितरण। फिर भी विज्ञप्ति की लोकप्रियता बढ़ती गई।

दो वर्ष पहले एक चिन्तन सामने आया कि विज्ञप्ति के माध्यम से समसामयिक सन्दर्भ में कुछ सामग्री परोसी जाए। चिन्तन ठीक लगा। क्योंकि विज्ञप्ति पाठकों को विवरणात्मक संवादों से परिचित कराने से भी आवश्यक था उनकी सोच को नया क्षितिज देना। कोई बात सामने आने पर ही पाठक उसमें अपना विचार जोड़ सकता है और नया प्रकाश पा सकता है। इस बिन्दु पर केन्द्रित होकर निर्णय लिया गया कि विज्ञप्ति में एक स्थायी स्तंभ जोड़ा जाए। वह स्तम्भ कब तक रहेगा, इस सम्बन्ध में उस समय कुछ भी नहीं सोचा गया। मेरा अपना चिन्तन था कि चार-छह महीनों तक यह क्रम चलेगा। किन्तु 'दिशा-दर्शन' नाम से जो स्तंभ शुरू हुआ, उसमें पाठकों की रुचि जुड़ गई। किसी भी पत्र या बुलेटिन प्रकाशक का कौशल पाठकों की अभिरुचि के संवर्धन से प्रकट होता है। पाठक लेखन के लिए प्रेरणास्रोत होते हैं। मुझे अवगति दी गई कि विज्ञप्ति में पाठक दिशा-दर्शन को विशेष रूप

से पढ़ते हैं और पसंद करते हैं। उनकी पसन्द ने मेरे चिन्तन-प्रवाह को आगे-से-आगे बढ़ने में योग दिया और मैं सामयिक विषयों पर अपने विचार देता रहा।

प्रश्न हो सकता है कि धर्माचार्यों को सामयिक प्रसंगों से क्यों जुड़ना चाहिए? उनका काम होता है–शाश्वत को उजागर करना। वे धर्म की चर्चा करें। पुण्य-पाप को समझाएं। मोक्ष और उसके उपायों का विवेचन करें। पर दूरदर्शन, सोवियत महोत्सव, संयुक्त परिवार, दक्षेस सम्मेलन आदि विषयों पर उन्हें दिशा-दर्शन देने की क्या जरूरत है? इस सन्दर्भ में धर्मक्रान्ति के पांच सूत्रों का उल्लेख असमीचीन नहीं होगा। कुछ वर्षों पूर्व मैंने उन सूत्रों की चर्चा की थी। उसे सुनकर भी बहुत लोग चौंके थे। एक धर्माचार्य, धर्मक्रान्ति की बात करे, यह समझ में आने जैसी घटना नहीं थी। पर जैसे-जैसे समय बीत रहा है परिस्थितियां बदल रही हैं, वह बात समझ में आने लगी है। मेरा यह विश्वास है, कि शाश्वत के साथ पूरी तरह से अनुबंधित रहने पर भी सामयिक की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शाश्वत से वर्तमान को निकाला भी नहीं जा सकता। क्योंकि यथार्थ वही है। धर्मक्रान्ति के पांच सूत्रों में दो सूत्र हैं–समाधान-परकता और वर्तमान-प्रधानता। जो धर्म व्यक्ति को समस्याओं का समाधान नहीं दे सकता, वह उसे त्राण कैसे दे सकेगा? इसी प्रकार केवल परलोक सुधार का मीठा आश्वासन किसी भी धर्म को कब तक तेजस्वी रख सकेगा? वर्तमान का सुधार और समस्या का समाधान इन दो विन्दुओं पर सोचने वाला कोई भी व्यक्ति अपने समय में होने वाले घटना-प्रसंगों को अनदेखा नहीं कर सकता। यही कारण है, जिससे विज्ञप्ति में धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा अन्य समसामयिक विषयों को आधार बनाकर कुछ लिखा गया।

मेरा अपना चिन्तन यह है कि धर्म और धर्मगुरु की अपनी सीमाएं होती हैं। उन सीमाओं में रहकर भी वे जागतिक समस्याओं का समाधान दे सकते हैं। यदि उनके माध्यम से समाज को पथदर्शन न मिले, दिशाबोध न मिले, गतिशील रहने की प्रेरणा न मिले तो जागरण का संदेश कौन देगा? जनता को जगाने का दायित्व कौन निभाएगा? लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रतिष्ठित होने पर भी सरकार की बधिरता और जनता की मूकता समाप्त नहीं होगी तो तानाशाही शासन-पद्धति में उसकी आशा कैसे की जा सकती है.?

तेरापंथ धर्मसंघ कुछ विषयों में अपना स्वतंत्र चिन्तन रखता है। परंपरा के प्रति प्रगाढ़ आस्थाशील होकर भी वह नवीनता से आंखें नहीं मूंदता। शाश्वत सत्य को आधुनिकता के चौखटे में विठाने की कला उसकी एक पहचान है। अध्यात्म और व्यवहार में सामंजस्य स्थापित करने के लिए इसी कला का आलम्बन लिया

जाता है । दिशा-दर्शन की सिरीज भी उसी शृंखला की एक कड़ी है ।

२२ जनवरी १९८९ तक यह स्तंभ १०१ बोधपाठ दे चुका है । कुछ लोगों ने इनको एक साथ संकलित करने की मांग की । साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा प्रारंभ से ही उन्हें सहेज कर रखे हुए थी । कमलेश चतुर्वेदी ने तत्परता दिखाई और दिशा-दर्शन की सामग्री 'कुहासे में उगता सूरज' नाम से प्रेस में चली गई । इस अभिक्रम ने एक सामयिक अपेक्षा को स्थायी मूल्य दिया है । मैं आशा करता हूं कि इस संकलन का अच्छा उपयोग होगा । पाठक इसे पढ़कर अपने चिन्तन और व्यवहार को बदलें तथा नयी-नयी संस्कृतियों की चमक-दमक में अपनी मौलिक संस्कृति—संयम और त्याग की संस्कृति को विस्मृति के कोहरे में डूबने से बचाएं ।

आचार्य तुलसी

वांठिया-भवन
बीदासर (राजस्थान)
१८ जनवरी १९८९

अनुक्रम

१.	वही दरवाजा खुलेगा, जिसे खटखटाएंगे	१
२.	नया युग : नया जीवन-दर्शन	४
३.	सांस्कृतिक मूल्यों का विनिमय	६
४.	यह सत्य है या वह सत्य है	९
५.	संवेदनहीन जीवन-शैली	११
६.	अहिंसक जीवन-शैली	१४
७.	युद्ध की संस्कृति कैसे पनपती है ?	१६
८.	अध्यात्म की एक किरण ही काफी है	१९
९.	एटमी युद्ध टालने की दिशा में पहला प्रयास	२२
१०.	अहिंसा प्रकाश है	२५
११.	शस्त्र बनाने वाली चेतना का रूपांतरण	२७
१२.	मूल्यहीनता का संकट	३०
१३.	जापान और भारत का अन्तर	३२
१४.	मन से भी होती है हिंसा	३४
१५.	आदमी का आदमी पर व्यंग्य	३७
१६.	अतीत की समस्याओं का भार	३९
१७.	दूरदर्शन से मूल्यों को खतरा	४२
१८.	दूरदर्शन एक मादक ओषधि	४४
१९.	दूरदर्शन की संस्कृति	४७
२०.	प्रसाधन सामग्री में निरीह पशुओं की आहें	५०
२१.	कला और संस्कृति का सृजन	५३
२२.	युद्ध समस्या है समाधान नहीं	५६
२३.	हरिजनों का मंदिर-प्रवेश	५९
२४.	सती-प्रथा आत्महत्या है	६१
२५.	समस्या का मूल : परिग्रह चेतना	६४
२६.	नीतिहीनता के कारण	६६

२७. राजतंत्र और धर्म तंत्र ६८
२८. धर्म अच्छा : धार्मिक अच्छा नहीं ७०
२९. धर्म और राजनीति ७२
३०. परमार्थ की चेतना ७४
३१. संसद की पीड़ा ७६
३२. पशु-शोषण का नया तरीका ७९
३३. साधु-संस्थाओं का भविष्य ८२
३४. प्राकृतिक आपदा और संयम ८५
३५. समन्दर चुनाव का : नौका सिद्धान्त की ८७
३६. अपनी धरती पर उपेक्षा का दंश ९०
३७. विलक्षण परीक्षण ९३
३८. मानविकी पर्यावरण में असंतुलन ९६
३९. संयुक्त परिवार की वापसी आवश्यक ९९
४०. वालक कुछ लेकर भी आता है १०३
४१. संस्कार-हीनता की समस्या १०६
४२. संतान का कोई लिंग नहीं होता १०९
४३. नारी-शोषण का नया रूप ११२
४४. दक्षेस : वालिका वर्ष ११५
४५. व्यक्तित्व की कमी को भरना ११८
४६. संकल्प की स्वतंत्रता १२०
४७. खानपान की संस्कृति १२२
४८. सभ्यता के नाम पर १२२
४९. उत्तर की प्रतीक्षा में १२७
५०. कौन किसको कहे १३०
५१. शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग का अवसर १३३
५२. शिक्षा का उद्देश्य १३६
५३. सर्वोत्तम क्षण १३८
५४. विषमता की धरती पर समता की पौध १४१
५५. धर्म आत्मा : सम्प्रदाय शरीर १४३
५६. धर्म-क्रान्ति के सूत्र १४५
५७. दो रत्ती चन्दन १४७
५८. मन की ग्रन्थियों का मोचन १४९
५९. जीवनशैली में वदलाव जरूरी १५२

६०. कर्तृत्व अपना १५५
६१. कुछ अनुत्तरित सवाल १५७
६२. सावधानी की संस्कृति १६०
६३. जीवन क्या है ? १६३
६४. तपस्या का कवच १६५
६५. क्षमा है अमृत का सरोवर १६७
६६. प्राकृतिक समस्या और संयम १६९
६७. अहिंसा शास्त्र ही नहीं, शस्त्र भी १७२
६८. शाश्वत और सामयिक १७४
६९. कभी गाड़ी नाव में १७६
७०. भारतीय कहां रहते हैं १७९
७१. नकारात्मक चिन्तन १८१
७२. अपभाषण सुनना भी पाप है १८४
७३. धर्म की कसौटियां १८६
७४. सीमा में असीमता १८९
७५. शास्त्रों में गुंथा चरित्र जीवन में १९१
७६. संकल्प का बल : साधना का तेज १९४
७७. परिवर्तनऔर विवेक १९७
७८. क्रान्ति के लिए बदलाव १९९
७९. संस्थाएं : अस्तित्व और उपयोगिता २०२
८०. योग्यता की कसौटी २०५
८१. अणुबम नहीं : अणुव्रत चाहिए २०८
८२. ऊर्ध्वगमन की दिशा २१०
८३. संबंधों की मिठास २१२
८४. निन्दक नियरे राखिये २१५
८५. पर्युषण पर्व : प्रयोग का पर्व २१८
८६. हे प्रभो ! यह तेरापंथ २२१
८७. व्यक्तित्व निर्माण का वर्ष २२३
८८. वेहतर भविष्य की संभावना २२६
८९. सूरज की सुवह से वात २२८
९०. निर्माण-यात्रा की पृष्ठभूमि २३१
९१. अमृत संसद २३५
९२. जीवन की दिशा में वदलाव २३८

९३.	स्वास्थ्य का पर्व	२४०
९४.	आलोक का त्योहार	२४२
९५.	तमसो मा ज्योतिर्गमय	२४५
९६.	रामायण और महाभारत का अन्तर	२४७
९७.	जितने प्रश्न : उतने उत्तर	२५०
९८.	एक क्षण ही काफी है	२५२
९९.	एक तपोवन, जहां सात सकारों की युति है	२५५
१००.	मंजिल तक ले जाने वाला आस्था-सूत्र	२५८
१०१.	बदलाव जीवन शैली का	२६१

१. वही दरवाजा खुलेगा, जिसे खटखटाएंगे

मनुष्य जो कुछ बनता है, अपने विचारों से बनता है, इच्छाशक्ति से बनता है, संकल्पशक्ति से बनता है और कर्मशक्ति से बनता है। बाह्य परिस्थितियां उस पर उतना ही प्रभाव छोड़ती हैं, जितना वह स्वीकार करता है। उसके मस्तिष्क में जैसा चित्र रूपायित होता है, वैसी ही अभिव्यक्ति हो जाती है। वह जिस दरवाजे को खटखटाता है, वही खुलता है। उसके मस्तिष्क का चित्र धुंधला होता है तो वह निराशा और असफलताओं से भरा जीवन जीने के लिए विवश हो जाता है। मस्तिष्क में उभरा हुआ चित्र उजला होता है तो व्यक्ति अंधकार को उजालों में बदल लेता है। उसके जीवन में निराशा, कुंठा या टूटन जैसी कोई स्थिति नहीं रहती। इस सिद्धान्त के आधार पर माना जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति जो कुछ है, वह अपने कारण है। दूसरा व्यक्ति या परिस्थिति उसमें निमित्त बन सकती है उपादान व्यक्ति के अपने भीतर है। जैसा उपादान है, वैसा ही व्यक्तित्व बनता है, इससे कोई भी असहमत नहीं हो सकता।

मनुष्य जैसे सपने देखता है, जैसी कल्पना करता है और जैसी महत्त्वाकांक्षा पालता है, उसी रूप में उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। जार्ज स्टीवेन्सन किसी खदान में मजदूर था। उसने भाप से चलने वाले इंजन का सपना देखा! प्रारम्भ में उसका स्वप्न हास्यास्पद-सा लगा। आखिर वह ऐसे इंजन का आविष्कार करने में सफल हो गया। जो व्यक्ति अपने भीतर संभावनाओं को परखने और उनके उपयुक्त पुरुषार्थ करने में सफल होता है, वह वैसा बन सकता है, जैसा उसका चिन्तन होता है।

मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध भी उसके विचारों एवं काम करने की शैली से है। चिकित्सा विज्ञान में हुई नयी शोध के अनुसार परंपरागत उपचार तरीकों के साथ मनोचिकित्सा का प्रयोग इस तथ्य का स्वयंभू प्रमाण है। कुछ मानस चिकित्सकों का यह अभिमत है कि कोई भी बीमारी मूलतः मनुष्य के मन में होती है। शरीर तो उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है कुछ चिकित्सक पचास प्रतिशत बीमारियों का सम्बन्ध मन से मानते हैं।

कैंसर की बीमारी इस युग की सर्वाधिक भयावह त्रासदी है। इस बीमारी का नाम सुनते ही जीवन की आशा क्षीण हो जाती है। निराश व्यक्ति का जीवन कितना दूभर हो जाता है, अनुभव करने से ही ज्ञात हो सकता है। यह स्थिति क्यों बनती है ? इसका विश्लेषण करने वाले विशेषज्ञों का अभिमत है कि जो व्यक्ति अपनी जिन्दगी में आए उतार-चढ़ावों और मानसिक व्यथाओं को सही ढंग से झेल नहीं पाते हैं, तनावों से भरे रहते हैं, उनके शरीर की रोग-निरोधक प्रणाली पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इससे शरीर की कोशिका-वृद्धि पर लगा हुआ नियंत्रण समाप्त हो जाता है। फलतः कोशिकाएं मनमाने ढंग से बढ़ती हैं और कैंसर का रूप धारण कर लेती हैं।

डॉ० यतीश अग्रवाल के अनुसार कुछ मनोरोग चिकित्सक रोगियों के उपचार में 'साइको सजेस्टिव थेरेपी' अपनाने लगे हैं। इस चिकित्सा के द्वारा वे रोगी के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने तथा उसमें आत्मविश्वास जगाने का प्रयत्न करते हैं जो रोगी अपना दृष्टिकोण बदलने और अपना आत्मविश्वास जगाने में सफल हो जाते हैं, वे आश्चर्यकारक ढंग से स्वस्थ हो जाते हैं। जिनके सोचने या देखने का तरीका नहीं बदलता, जो हीनता के संस्कारों से ऊपर नहीं उठ पाते, वे धीरे-धीरे अपनी जीवनी शक्ति खो बैठते हैं। ऐसे व्यक्तियों को रोग के शिकंजे से मुक्त नहीं किया जा सकता।

व्यक्ति का दृष्टिकोण या विचारधारा उसमें कितना बदलाव ला सकती है, एक घटना से जाना जा सकता है। सम्पन्न परिवार की इकलौती लड़की। स्नातक परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद वह अचानक अपनी आंखों की ज्योति खो बैठी। उपचार कराया गया। कोई लाभ नहीं हुआ। पिता उसे अपने मित्र के पास ले गया। वह मनश्चिकित्सक था। उसने पूरी आत्मीयता के साथ उस समय की परिस्थितियों को समझा, जिस समय वह लड़की अंधी हुई थी। दुर्घटना का कारण उसकी समझ में आ गया। उसका कारण था लड़की का सहपाठी एक पड़ोसी लड़का, जिसके साथ वह शादी करना चाहती थी, विजातीय होने के कारण उसके माता-पिता ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। वे दोनों आपस के आकर्षण से मुक्त हो सकें, इस दृष्टि से दोनों मकानों के बीच में दीवार खड़ी कर दी गई। लड़की के मन पर आघात लगा। जिसे वह देखना चाहती है, उसे ही नहीं देख सकती तो इस दुनिया को देखकर क्या करेगी, इस आक्रामक भावना ने उसकी ज्योति छीन ली।

मनश्चिकित्सक ने लड़की को आश्वस्त करते हुए कहा—'बेटी ! तूने अच्छा नहीं किया। तेरे पास अनन्त शक्ति है, पर तूने उसका प्रयोग उल्टा कर दिया।

उसने लड़की के माता-पिता से भी बात की। उन्होंने कहा–'लड़का अच्छा है, स्वस्थ है, पर ब्राह्मण नहीं है, इसलिए शादी नहीं हो सकती।' चिकित्सक उनका मित्र था। उसने पूरी शक्ति लगाकर उनको समझाया और इस बात के लिए सहमत कर लिया कि लड़की लड़के से मिलकर पूछ लेगी कि क्या वह अंधेपन की स्थिति में उसके साथ शादी कर लेगा।

लड़की पास ही बैठी थी। माता-पिता की सहमति पाते ही वह प्रसन्नता से भर उठी। सुखद भावी की कल्पना में उतरकर उसने आंखें खोलीं तो उसकी ज्योति लौट आई थी।

जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है–'सम्यक् दृष्टि'। यह धर्म या अध्यात्म की बुनियाद है। जब तक दृष्टिकोण सही नहीं होता, धर्म या अध्यात्म की यात्रा आगे नहीं बढ़ सकती। ज्ञान और आचरण की विशिष्टता भी सम्यक् दृष्टि के साहचर्य से सार्थक बनती है। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नहीं होता, वह निषेधात्मक भावों में जीता है। उत्तेजना, अभिमान, वंचना, लालसा, हीनता, मानसिक अवसाद, ऊब, ईर्ष्या, असन्तोष, आग्रह आदि ऐसी व्याधियां हैं, जो दृष्टि के मिथ्यात्व से पनपती हैं। इन व्याधियों का उपचार है विधायक भावों का विकास। जब तक विधायक भावों का विकास नहीं होगा, व्यक्तित्व का सही निर्माण नहीं होगा। व्यक्तित्व के निर्माण में विचारों, भावनाओं एवं व्यवहारों का पूरा हाथ रहता है। इसके लिए व्यक्ति को अपनी विचार-शक्ति, इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति और कर्म-शक्ति को प्रशस्त एवं पुष्ट करना होगा।

२. नया युग : नया जीवन-दर्शन

मनुष्य के पास दो प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं–सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक दृष्टिकोण व्यक्ति की सृजन-चेतना को जगाता है और उसे किसी-न-किसी रचनात्मक प्रवृत्ति से जोड़कर रखता है। नकारात्मक दृष्टिकोण के दो रूप हैं–अस्वीकार की क्षमता और निराशाजनक एवं अकर्मण्यता की स्थिति। सृजनशीलता और अस्वीकार की क्षमता व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण हैं। निराशा एवं अकर्मण्यता व्यक्तित्व के दोष हैं। २१वीं सदी में प्रवेश करते समय यदि आदमी के साथ-साथ उसके ये गुण और दोष दोनों ही संक्रान्त हो गए तो फिर २०वीं और २१वीं सदी में कोई विशेष अन्तर आने वाला नहीं है।

२०वीं सदी की कुछ बातों से मनुष्य पूरी तरह से ऊब गया है। यदि वह उनको छोड़कर नये जीवन-दर्शन के साथ नये युग में प्रवेश करे तो एक नयी क्रान्ति घटित हो सकती है। उत्क्रान्ति की चेतना को जगाने वाला वह जीवन-दर्शन क्या हो? उसकी छोटी-सी रूप-रेखा यहां प्रस्तुत की जा रही है–

- मनुष्य का मन मैत्री एवं अहिंसा के प्रकाश से भरा हुआ हो।
- सत्य के प्रति उसके मन में इतनी गहरी निष्ठा हो कि कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी उसका मन दूसरा विकल्प न खोजे।
- जीवन का व्यवहार और व्यवसाय प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा उतरे
- पवित्रता मनुष्य का साध्य हो। भ्रष्टाचार एवं व्यभिचार की छाया उस पर न पड़े
- जीवन का हर क्षण आसक्ति एवं तनाव से मुक्त हो।

ऊपर जिन मूल्यों की चर्चा की गई है, वे शाश्वत मानवीय मूल्य हैं। इनके अनुसार जीवन-यापन करने वाला व्यक्ति किसी का शोषण नहीं कर सकता, मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं कर सकता, खान-पान को विकृत नहीं कर सकता, परिग्रह में आसक्त नहीं हो सकता, किसी के विश्वास की हत्या नहीं कर सकता। समय का दुरुपयोग नहीं कर सकता और क्रूर नहीं बन सकता।

अतिभाव और अभाव की परिस्थिति मनुष्य के सुख का अपहरण करती है। बीसवीं सदी मे कुछ लोग अतिभाव मे जी रहे हैं। विलासी बन रहे हैं और कुछ लोग अभावों से प्रताड़ित हो रहे हैं, क्रूर बन रहे हैं। नये जीवन-दर्शन के साथ नये युग में प्रवेश करने वाले लोग अभाव और अतिभाव दोनों से मुक्त होकर समभाव के धरातल का निर्माण कर सकें तो २१वीं सदी में प्रवेश की उत्सुकता अर्थवान है। यदि आदमी वैसा-का वैसा रहा तो २१ वीं सदी क्या १२१वीं सदी भी उसे सार्थक जीवन नहीं दे पाएगी।

३. सांस्कृतिक मूल्यों का विनिमय

आजकल भारत में 'सोवियत महोत्सव' चर्चा बुलंदी पर है। दो सौ युवकों का एक प्रतिनिधि मण्डल अभी भारत में है। दिसम्बर तक यह संख्या पांच सौ तक पहुंच जाएगी, ऐसी संभावना है। वे लोग यहां की जीवन-शैली, संस्कृति तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों को देखेंगे, समझेंगे। इसके साथ-साथ रूसी जनता की जीवंतता, ऊर्जा और कला से भारतीय लोगों को परिचित कराएंगे। स्वतंत्र भारत के इतिहास में पहली बार सुनियोजित रूप से किसी दूसरे देश की संस्कृति और रचनात्मकता को प्रदर्शित होने का अवसर मिला है, ऐसा कहा जा रहा है।

इसी वर्ष के जून महीने में सोवियत संघ भारत महोत्सव के कार्यक्रम शुरू हुए, जो अभी तक चल रहे हैं। इस क्रम में पांच सौ भारतीय युवकों को रूस जाने का मौका मिला। वे मास्को, लेनिनग्राद, ताशकंद आदि शहरों में गए। इससे पहले सन् १९८५ में 'भारत महोत्सव' का आयोजन था। अन्य अनेक देशों में भारतीय संस्कृति, कला, विज्ञान आदि पहुंचे। विदेशी लोगों ने भारत-महोत्त्सव में पूरा रस लिया।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के निकट हो। उनके आपसी सम्वन्ध मैत्रीपूर्ण हों। उन्हें राजनैतिक और आर्थिक लाभ प्राप्त हो। एक -दूसरे की टेक्नालॅजी से कुछ सीखने को मिले। इस प्रकार के अनेक उद्देश्य ऐसे आयोजनों से पूरे हो सकते हैं। किन्तु इनसे आगे भी कुछ महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होते हैं। वे हैं सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य। इन मूल्यों के विनिमय से एक नयी जीवन शैली को विकसित करने का लक्ष्य सामने हो तो बड़ा काम हो सकता है। शिकागो के विज्ञान एवं औद्यागिक संग्रहालय के अध्यक्ष एवं निदेशक डॉ० विक्टर जे० डैनिलोव ने अमेरीका में हुए भारत-महोत्सव पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा– 'भारत ने न केवल हमारे विज्ञान और टेक्नालॉजी की महत्त्वपूर्ण कल्पनाएं दी हैं, बल्कि हमारे साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र तथा हमारी अमूर्त चिन्तन की प्रक्रिया को भी बहुत कुछ दिया है– अमेरीका को इससे सीखना है।'

सोवियत संघ में हो रहे 'भारत महोत्सव' के सम्बन्ध में भी ऐसी प्रतिक्रियाएं सामने आ सकती हैं। क्योंकि वे लोग जिज्ञासु हैं, ग्रहणशील हैं, गुणग्राही हैं। भारत के पास आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान की जो अखूट संपदा है, उस पर सबकी दृष्टि लगी हुई है। पर एक समय था जब भारत वस्तुओं का नहीं, इन जीवन-मूल्यों का निर्यात करता था पर आज जबकि सैकडों रूसी युवक एक साथ विशेष उद्देश्यसे भारत आए हैं, क्या भारत सरकार और राष्ट्रीय एवं सामाजिक संस्थाओं का यह दायित्व नहीं है कि वे अपने आगन्तुक अतिथियों को इस देश की मूलभूत संस्कृति से परिचय कराएं? वे यहां अपनी रचनात्मक ऊर्जा का प्रदर्शन करने आए हैं, यह बात सही है पर क्या उनके मन पर ऐसी छाप नहीं छोड़ी जा सकती, जिसे वे रूस पहुंचने के बाद भी पोंछ न सकें?

भारतीय लोग रूस, जापान आदि देशों में जाते हैं, वहां की श्रमनिष्ठा, कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी, स्वच्छता आदि मूल्यों की छाप लेकर आते हैं। क्या भारतीय लोग इन मूल्यों के संन्दर्भ में बौने प्रमाणित होना चाहते हैं? यदि नहीं तो भारतीय लोक-जीवन में ऐसी विसंगतियां क्यों उभर रही हैं। यदि इस देश के लोग गरीब हैं तो वे श्रम से विमुख क्यों हो रहे हैं। यदि देश की जनता को पेट भर रोटी भी नहीं मिलती है तो करोड़ों रुपये प्रसाधन सामग्री में क्यों बहाए जाते हैं। देश में सूखे की इतनी भयंकर समस्या है तो विलासिता का प्रदर्शन किस बुनियाद पर किया जा रहा है? यदि भारतीय लोगों में कर्तव्यनिष्ठा है तो राष्ट्रीय, सामाजिक एवं पारिवारिक दायित्त्वों से आंख-मिचौनी क्यों हो रही है? यदि उनमें ईमानदारी है तो ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार क्यों छा रहा है? यदि उन्हें स्वच्छता से आकर्षण है तो गन्दगी क्यों फैला रहे हैं? इसी कोटि के कुछ ऐसे सवाल हैं, जो किसी भी विचारशील व्यक्ति को चारों ओर से घेरकर खड़े हैं। क्या कभी वैचारिक धरातल पर भी देश की स्थिति का सही मूल्यांकन होता है? यह समय एक-दूसरे को कोसने, नीचा दिखाने, गुमराह करने और दोषारोपण करने का समय नहीं है। यह समय है अपने आपको देखने और परिमार्जित करने का। यह समय है देश के भविष्य को संवारने का। पर जब वर्तमान ही सही नहीं होगा। तो भविष्य को सही रूप कैसे मिलेगा?

बड़े-बड़े आदर्शों की बातों से हमारे सामने एक छोटा-सा सवाल है स्वच्छता का। जिस समय सोवियत संघ की सड़कों पर एक तिनका भी गिरा हुआ नहीं मिलता, उस समय भारत की राजधानी की सड़कों पर घूमने वाले रूसी युवक उन सड़कों को किस नजरिए से देखेंगे? मिट्टी, पत्थर, कांच, कागज, फलों के छिलके आदि क्या कुछ नहीं बिखरा रहता है यहां? और तो क्या बलगम और श्लेष्म

भी सड़कों की शोभा बढ़ाते हैं। एक ओर गन्दगी और दूसरी ओर बीमारी के कीटाणु, तीसरी ओर केले आदि के छिलकों से फिसलने का भय। क्या हमारे देश के विकास की कसौटियां ये ही हैं? जब देश की राजधानी के ये हालात हैं तो पिछड़ेपन के प्रतीक गांवों और देहातों का कहना ही क्या? यह स्थिति देशवासियों के सौन्दर्य-प्रेम, स्वच्छता-प्रेम की कमी तो बताती ही है, नैतिकता की कमी भी साफ-साफ जाहिर करती है।

यह एक प्रकार का सांस्कृतिक और नैतिक पतन है, जो पीढ़ी-दर पीढ़ी संक्रांत होता रहता है। भारतीय लोग अपने जीवन के लिए और अपनी भावी पीढ़ी के लिए नहीं तो कम-से-कम उन आगन्तुक यायावरों के मन पर अच्छी छाप छोड़ने के लिए भी सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की सुरक्षा करें तो देश की छवि उजली रह सकती है। अन्यथा कोई विदेशी दल यहां के लोक-जीवन की उजड़ी उखड़ी शैली को इतिहास के पृष्ठों पर उकेर देगा तो हमारी शताब्दियों पूर्व की गरिमा खंड-खण्ड नहीं हो जाएगी? अब भी समय है, भारतीय जनता अपने आन्तरिक और बाह्यसौन्दर्य का मूल्य समझे और उसे प्राप्त कर सके तो वह शिव एवं सत्य का साक्षात्कार कर सकेगी। हमारे देश की मूलभूत आत्मा यही है। भारत में 'सोवियत-महोत्सव' सम्पन्न कर लौटने वाले उस आत्मा का दर्शन करें, उससे परिचित हों और नयी रचनात्मक प्रेरणा पाएं। ऐसे महोत्सवों की सबसे बड़ी सार्थकता यही है।

४. यह सत्य है या वह सत्य है

'अप्पणा सच्चमेसेज्जा' स्वयं सत्य खोजें– यह एक ऐसा दर्शन है, जो व्यक्ति-व्यक्ति को सत्य की खोज में गतिशील रहने का वोधपाठ देता है। सत्य एक विराट तत्त्व है। उसको उस रूप में देख लिया जाए, जान लिया जाए और जी लिया जाए तो असत्य के भुलावे में आने का प्रसंग ही टल जाए। जव तक सत्य से साक्षात्कार नहीं होता है, असत्य की मुलाकातें वढ़ती रहती है। इसी वात को ध्यान में रखकर कहा गया है– व्यक्ति स्वयं सत्य की खोज करे।

अव तक अनेक लोग सत्य की खोज कर चुके हैं। राम, कृष्ण, महावीर, वुद्ध, मुहम्मद, ईसा– ये सव सत्य के खोजी थे और भी न जाने कितने नाम इस खोज यात्रा के साथ जुड़े हुए हैं। सवाल एक ही उठता है कि इतने महापुरुषों द्वारा सत्य की खोज हो जाने के वाद वाकी क्या वचा है, जिसे खोजने के लिए एक नयी यात्रा शुरू की जाए।

यह सच है कि राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि ने सत्य की खोज की, सत्य को पाया और उसे लोगों को समझाया। पर उन्होंने अपनी खोज-यात्रा के आगे कहीं भी पूर्ण विराम नहीं लगाया। वे इस बात को जानते थे कि सत्य अनन्त है। अनन्त का कभी अन्त नहीं होता। उन्होंने सत्य को पाया, किन्तु उसका पार नहीं पाया। जिसका पार पा लिया जाए, वह सान्त हो जाता है। इसी दृष्टि से उन्होंने अपनी भावी पीढ़ी को सत्य की यात्रा करने का निर्देश दिया और सत्य को खोजने के उपाय सुझाए।

हम सब सत्य की खोज में निकले हुए यात्री हैं। सत्य की खोज का रास्ता भी हमें सुलभ है। सत्य के अनुसार उस रास्ते पर चलने का प्रयास भी हम करते हैं। समस्या एक ही है कि सत्य के कई रूप समाने आ जाते हैं। उस समय यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि यह सत्य है या वह सत्य है।

मिथिला के अधिपति विदेह जनक रात को सो रहे थे। एक गहरी नींद के वाद उन्होंने एक सपना देखा। वड़ा बुरा सपना था वह। जनकजी देखते हैं– राज्य

की जनता ने बगावत कर दी । मुझे राज्य सिंहासन से उतार दिया । कुछ लोगों ने मिलकर मुझे देश से निर्वासित होने का आदेश सुनाया । आदेश की क्रियान्विति हुई । मैं अपने राज्य की सीमा से बाहर अकेला खड़ा हूं । कोई मेरे सामने नहीं है । खड़ा-खड़ा थक गया तो मैं चलने लगा । कहां जाना और किस रास्ते से जाना, कुछ पता नहीं । रास्ता भूलकर भटक गया । दिन भर का भूखा, प्यास के कारण होठों पर पपड़ी जम गयी । कहीं रोटी-पानी की व्यवस्था नहीं है । भूख के कारण प्राण निकल रहे हैं । पांवों में चलने की ताकत नहीं बची । अब क्या करूं परेशानी में एक ओर खड़ा हूं ।'

स्वप्न के दूसरे दृश्य में वे देखते हैं–'एक गांव में किसी सेठ की बड़ी हवेली है । सेठजी की ओर से सदाव्रत बांटा जा रहा है । गरम-गरम खिचड़ी पकी हुई है । सामने खड़ी है याचकों की एक लम्बी कतार । मैं भी उस कतार में जाकर खड़ा हो गया । एक-एक याचक आगे बढ़ रहा है । प्रतीक्षा करते-करते मेरा क्रम आया। खिचड़ी के लिए कोई पात्र पास में नहीं है । इधर-उधर देखा एक फूटा हुआ ठीकरा मिला । उसी को खिचड़ी से भरकर खाने के लिए बैठा । इसी समय दो गाएं लड़ती-लड़ती आयीं और मेरे ठीकरे के टक्कर लगाकर चली गईं ।

ठीकरा फुटा । सारी खिचड़ी मिट्टी में मिल गई । मैं निर्वाक् देखता रह गया। जिन्दगी का सबसे भयंकर हादसा था वह ।'

इसी समय जनकजी की आंखें खुल गईं । वे अंगड़ाई लेकर उठे । सामने सूरज की लालिमा फैल चुकी थी । वे बाहर आए । वहां अपार जनसमूह खड़ा महाराजा जनक की जय-जयकार कर रहा था । गीत गाए जा रहे थे । वाद्य बज रहे थे । लोग नये-नये उपहार लिये खड़े थे जनक ने यह सब देखा और उन्हें स्वप्न याद आ गया । वे सोचने लगे–यह सत्य है अथवा वह सत्य है ?

सत्य की सत्यता खोजते हुए वे राजसभा में पहुंचे । मंत्री आए, अन्य सभासद आए । उन्होंने सबके सामने एक ही बात कही–यह सत्य है या वह सत्य है ? इस छोटे से सवाल का जवाब किसी के पास नहीं था । आखिर सभा में अष्टावक्र आए। वे ज्ञानी थे । जनक ने उनके सामने भी वही प्रश्न उपस्थित किया । एक क्षण सोचकर अष्टावक्र बोले–'राजन् ! यह भी सत्य है और वह भी सत्य है । अपने-अपने संदर्भों में दोनों सत्य हैं ।' राजा को समाधान मिल गया ।

सत्य की खोज करने वाले सभी लोगों को यह सापेक्षता का दर्शन समझना होगा । निरपेक्ष सत्य कभी-कभी असत्य हो जाता है । सापेक्ष दृष्टि से सत्य की खोज करने वाले ही उसे उपलब्ध कर सकते हैं ।

५. संवेदनहीन जीवन-शैली

मनुष्य की जीवन शैली के अनेक प्रकार हैं। उनमें एक शैली दूसरे के दुःख-दर्द को अपना समझने और बांटने का पाठ पढ़ाती है। इस शैली से जीने वाले व्यक्ति केवल अपने लिए या अपने परिवार के लिए नहीं जीते। उनके स्व का विस्तार इतना होता है कि उन्हें कोई पराया लगता ही नहीं। अपने समाज, गांव, प्रान्त या राष्ट्र की सीमाएं भी उनके सामने छोटी पड़ती हैं। वे विश्व मानव और इससे भी आगे प्राणीमात्र के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर चलते हैं। संसार में इस शैली से जीने वाले व्यक्ति हैं क्या ? इस प्रश्न का उत्तर अपने आसपास नहीं, अपने आप में खोजना है।

एक दूसरी शैली है--स्व को संकुचित करने की इस शैली से जीने वाले लोग न तो दूसरों के दुःख-दर्द को समझते हैं और न कभी उसे बांटने की बात ही सोचते हैं। अन्य प्राणियों की बात ही क्या, वे अपने समानधर्मा मनुष्य की पीड़ा को भी नहीं पहचानते एक ओर मनुष्य सूझबूझ का धनी कहलाता है। वह विकास के रास्ते पर छलांग भरता हुआ आज वहां पहुंच गया है, जहां पहुंचने की उसे कल्पना ही नहीं थी। पर दूसरी ओर वह आत्मीयता, संवेदनशीलता और सौजन्य के रास्ते से जितना पीछे हटा है, वह भी एक सपना-सा लग रहा है। क्या मनुष्य के भीतर बहने वाला करुणा का स्रोत सूख गया है ? यदि यह बात सही है तो भारत के प्रति महात्मा गांधी की चिन्ता पूर्णरूप से सार्थक प्रतीत होती है। संवेदनशीलता की कमी ने मनुष्य को इतना क्रूर बना दिया कि वह मानव और पशु-पक्षी--सबकी जिन्दगी के साथ खिलवाड़ करने लग गया।

संसार के सब लोग दूसरी शैली का जीवन जीते हैं, यह मैं नहीं मानता। पर मैं देख रहा हूं कि इन दो शैलियों के बीच उदासीनता की एक नयी संस्कृति पनप रही है। इस संस्कृति के मूल में काम करने वाली घातक वृत्ति है--हमें क्या ? व्यक्ति के आसपास कोई अच्छा काम होता है तो वह उसकी प्रशंसा नहीं कर पाता। इसी प्रकार उसके परिपार्श्व में घटित होने वाली अवांछनीय घटनाओं का प्रतिवाद

करने की मानसिकता भी उसकी नहीं होती। 'कोई अच्छा काम करता है या बुरा' इससे हमें क्या ? हम अपनी जिन्दगी जीते हैं। दूसरों की जिन्दगी में झांकने की अनधिकार चेष्टा क्यों करें। यह बात किसी व्यक्ति या परिवार के अंतरंग जीवन के बारे में तो सोची जा सकती है किन्तु जहां किसी का जीवन चौपट होता हो, वहां आपका मौन कितना खतरनाक प्रमाणित होता है, इस विन्दु की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

जो व्यक्ति अरण्यवासी हो या हिमालय की कन्दराओं में बैठकर समाधि लगा ले, वह जितना अर्न्तमुखी रहेगा, उतना ही लाभ होगा। किन्तु परिवार और समाज के बीच जीने वाले व्यक्तियों की यह उपेक्षापूर्ण नीति गलत परमपराओं को प्रोत्साहन देती है। होना तो चाहिए विश्व के किसी भी कोने में घटित होने वाली अमानवीय घटना का सामूहिक प्रतिकार। किन्तु जहां आंखों के सामने और नाक के नीचे घिनौने कृत्य होते रहें और मनुष्य उनसे सर्वथा अनजान बनकर बैठा रहे, वहां समाज में गलत प्रवृत्तियां क्यों नहीं बढ़ेंगी ?

घटना का संबंध लातिनी अमेरीका के छोटे बच्चों को अमेरीका में बेचने की हो, मासूम बच्चों को बलि चढ़ाने की हो, हरिजनों को मारने की हो, हरिजन महिलाओं को नंगा करके रैली निकालने की हो, किसी महिला के साथ बलात्कार की हो, दहेज के लोभ में किसी नववधू को यातना देने या जलाने की हो और भोजन, वस्त्र, प्रसाधन-सामग्री एवं मनोरंजन के नाम पर लाखों-करोड़ों निरीह पशु-पक्षियों के जीवन संहार की हो। हर घटना रोमांचक है, दिल दहला देने वाली है और मानवता के माथे पर कलंक का धब्बा है। ऐसी घटनाओं के विरोध में एक साथ अनेक स्वर नहीं उठे तो इनकी संख्या में होती जा रही वृद्धि को नियंत्रित करना भी कठिन हो जाएगा।

मांस मनुष्य का भोजन नहीं है। फिर भी वह अपनी मन की आग को बुझाने के लिए प्रतिदिन करोड़ों पशु-पक्षियों के प्राण लूटता है। अंडा अपने आप मे जहर है। फिर भी लाखें-करोड़ों लोग आंख मूंदकर अंडा खा रहे हैं। मनुष्य के लिए जितने वस्त्रों की खपत है, उसकी पूर्ति कपास और उस जैसी दूसरी चीजों से हो सकती है। पर मुलायम, चमकदार और रोओं वाले कपड़ों तथा टोपियों के लिए उन बेजुबान पशुओं को कितनी निर्ममता से मारा जाता है। कराकुल भेड़ के मेमनों के घुंघराले अैर मुलायम रोओं से बनी टोपी पहनने के लिए या उसका निर्यात करने के लिए उन्हें जन्म के चौबीस से अड़तालीस घण्टे के भीतर जिस बेरहमी से मारा जाता है, सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

मनुष्य अपने स्वास्थ्य के लिए एलोपैथिक ओषधियों का सेवन करता है।

कुछ ओषधियों के निर्माण हेतु कितने पशु-पक्षियों पर तरह-तरह के प्रयोग किए जाते हैं। उन प्रयोगों से वे मासूम प्राणी तड़प-तड़प कर मर जाते हैं, पर उनकी तड़प को पहचानने वाली संवेदना का लोप होता जा रहा है।

बच्चों का अपहरण और विक्रय क्या क्रूरता की जीवंत कहानी नहीं है। इसी क्रम में लाखों-लाखों कन्याओं और महिलाओं को मजबूरन देह का व्यापार करना पड़ता है। क्या ऐसी घटनाएं किसी भी समाज या राष्ट्र के सिर को नीचा करने वाली नहीं हैं। ये सब बातें किसी एक वर्ग, समाज या राष्ट्र में नहीं होती हैं। पूरे विश्व के सामने ये कुछ ज्वलन्त प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का उत्तर खोजने से पहले आवश्यक है कि 'हमें क्या' वाली उपेक्षा की संस्कृति को जड़मूल से उखाड़ा जाए। किसी भी व्यक्ति के साथ कोई हादसा घटित होता हो तो उसे अपने साथ घटित होने जैसा अनुभव किया जाए। विश्व में कहीं भी कोई अवांछित बात होती है, उसके दुष्प्रभाव से एक भी व्यक्ति बच नहीं सकता, यह बात जिस दिन, जिस बुराई के विरोध में एक साथ करोड़ों-करोड़ों अंगुलियां उठेंगी, उस बुराई का अस्तित्व अपने आप समाप्त हो जाएगा।

६. अहिंसक जीवन-शैली

जीवन की दो शैलियां हैं—अहिंसा-प्रधान और हिंसा-प्रधान । अहिंसा-प्रधान जीवन-शैली का प्रयोग अध्यात्म के क्षेत्र में सदा से मान्य रहा है । पर सामाजिक और राष्ट्रीय संदर्भों में अहिंसा का प्रयोग करने वाले बहुत कम व्यक्ति हुए हैं । इस युग में महात्मा गांधी ने जीवन की हर समस्या का समाधान अहिंसा के धरातल पर खड़े होकर खोजने का प्रयास किया । उस समय के अनेक राजनीतिविदों ने उसके महत्त्व को समझा और उसे स्वीकार किया । गांधीजी ने समाज और राज्य के संचालन में अहिंसा की जो धारा बहायी, वह उनके असमय में चले जाने से क्षीण हो गई । इससे उन लोगों को बात करने का अवसर मिल गया जो शस्त्र में विश्वास करते थे और अहिंसा की मखौल उड़ाते थे । कुछ साम्यवादी देश भी उनके साथ थे क्योंकि वे अहिंसा को मानते ही नहीं थे ।

अहिंसा एक शाश्वत सत्य है । समय की आंधी इसे धूमिल कर सकती है, पर समाप्त नहीं कर सकती । इस युग में हिंसाधर्मी लोगों की करतूतों से अहिंसा की तेजस्विता मंद होती जा रही थी । ऐसे समय में सहसा एक धमाका-सा कर दिया सोवियत नेता गोर्बाच्योव और भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी की वार्ता के बाद जारी किए गए घोषणापात्र ने । उस घोषणापत्र से यदि गोर्बाच्योव और राजीव गांधी को अलग कर दिया जाए तो ऐसा लगेगा कि वह घोषणापत्र राजनीति का नहीं, अध्यात्म का है ।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों का आधार वनाने की वात किसी भी राष्ट्रनेता के दिमाग की उपज हो, वहुत विलक्षण बात है । इस एक नीति पर ही सही रूप में अमल हो सके तो 'स्टारवार' की विभीषिका अपने आप समाप्त हो जाएगी ।

मानव-जीवन को अमूल्य मानना, अहिंसा को सामाजिक जीवन का आधार मानना तथा भय और सन्देह के स्थान पर सद्भाव और विश्वास का वातावरण निर्मित करना अध्यात्म की धरती पर ही संभव हो सकता है ।

परमाणु हथियार-मुक्त अहिंसक विश्व बनाने के लिए ठोस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की बात कोई साधु-संन्यासी तो कर सकता है, किन्तु राजनीति के मंच से ऐसी घोषणा किसी भी परिस्थिति में अभिनन्दनीय हो सकती है। गोर्वाच्योव का साम्यवादी मन अहिंसा की पूजा में इस तरह जुड़ सकता है, किसी को कल्पना भी नहीं होगी। समाचार पत्रों में जिसने भी उस घोषणापत्र को पढ़ा, एक बार तो वह निर्वाक् रह गया होगा।

अमेरिका और रूस विश्व की दो बड़ी शक्तियां हैं। इनमें से एक शक्ति का भी झुकाव अहिंसा की ओर होता है तो इससे तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को बड़ा बल मिलता है।

हिंसा से हिंसा बढ़ती है। शस्त्रों की परम्परा चलती है। ऐसी स्थिति में किसी भी बड़े राष्ट्र की सत्ता पर आरूढ़ व्यक्ति के मन में अहिंसा को प्रतिष्ठा देने का मनोभाव जागता है, यह एक ऐसा बदलाव है, जिसकी पिछले कई दशको से प्रतीक्षा थी।

२७ नवम्बर १९८६ को दिल्ली में प्रसारित भारत और सोवियत संघ का दस सूत्री घोषणापत्र कोई अजूबा नहीं है, अहिंसा की विजय है, अध्यात्म की विजय है। कोई भी शांतिप्रिय व्यक्ति, समाज या देश उससे आश्वस्त हो सकता है। स्वयं आश्वस्त होने तथा दूसरों को आश्वस्त करने का यह उपक्रम केवल दस्तावेज बनकर ही न रह जाए, इसके लिए अहिंसा में आस्था रखने वाले सभी व्यक्तियों, संगठनों और राष्ट्रों को एक जुट होकर काम करना है।

७. युद्ध की संस्कृति कैसे पनपती है ?

हिंसा और अहिंसा का द्वंद्व नया नहीं है। हिंसा का इतिहास जितना पुराना है, अहिंसा का इतिहास उससे कम प्राचीन नहीं है। एक ही व्यक्ति में हिंसा और अहिंसा—दोनों के संस्कार होते हैं। हिंसा के संस्कार प्रबल होते हैं तब अहिंसा का तेज मंद हो जाता है। अहिंसा के संस्कार सक्रिय रहते हैं तब हिंसा मौन हो जाती है। हिंसा के उपादान व्यक्ति के भीतर हैं उसी प्रकार अहिंसा के उपादान भी भीतर हैं। जिस समय हिंसा के उपादान को प्रबल निमित्त मिलता है, व्यक्ति हिंसक हो उठता है। जिस समय अहिंसा का स्रोत गतिशील रहता है, व्यक्ति समभाव में रमण करने लगता है। कोई भी व्यक्ति हिंसक या अहिंसक क्यों बनता है ? इस तथ्य को उजागर करने के लिए उसकी मनोवृत्तियों का विश्लेषण करना आवश्यक है अथवा उसके मस्तिष्क में रहे हिंसा और अहिंसा के स्रोतों को समझना जरूरी है।

हिंसा जीवन की अनिवार्यता है तो अहिंसा पवित्र जीवन की अनिवार्यता है। पवित्र जीवन की अकांक्षा रखने वाला व्यक्ति कभी भी हिंसा की परिक्रमा नहीं कर सकता। जीवन चलाने के लिए अपरिहार्य हिंसा से वह बच नहीं सकता पर उसका आदर्श अहिंसा है। वह अहिंसा-प्रधान जीवन शैली में आस्था रखता है और अपनी आस्था को आचरण में प्रतिबिम्बित करने के लिए प्रयास करता रहता है। प्रयास के प्रथम चरण में वह संकल्पजा हिंसा छोड़ता है, दूसरे चरण में विरोधजा हिंसा से दूर होता है और तीसरे चरण में आरम्भजा हिंसा से भी मुक्त हो जाता है।

अहिंसा की दृष्टि से आरंभजा और विरोधजा हिंसा भी स्पृहणीय नहीं हैं। पर जो व्यक्ति परिवार, समाज और राष्ट्र से प्रतिबद्ध होता है, वह हिंसा से सर्वथा विरत नहीं हो सकता। जिसके मन में परिवार, समाज और राष्ट्र की मूर्च्छा है, जो इनके लिए परिग्रह का अर्जन और संग्रह करता है, वह अनायास ही हिंसा से जुड़ जाता है। परिग्रह और हिंसा एक ही समस्या के दो छोर हैं। एक छोर जब तक नहीं छूटता है, तब तक दूसरे छोर से छूटने का प्रयास भी सफल नहीं हो पाता। हिंसा से सर्वथा मुक्त होने के लिए परिग्रह की चेतना को समाप्त करना होगा।

परिग्रह से प्रतिबद्ध जीवन जीने वाला व्यक्ति भी संकल्पजा हिंसा से बचता रहे तो अनेक उलझनों को टाला जा सकता है ।

हिंसा का उद्भव असहिष्णुता से होता है। यह मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रकार की होती है । जब तक यह मन के धरातल पर रहती है, व्यवहार दूषित नहीं होता । वचन का विषय बनते ही यह सद्भाव का लोप कर देती है। सद्भाव खण्डित होने के बाद अनेक प्रकार से भय और आशंकाएं जन्म ले लेती हैं । भयभीत व्यक्ति सह-अस्तित्व के सिद्धांत को भूल जाता है । उसे चारों ओर से आक्रमण की संभावना बेचैन बना देती है । इस स्थिति में वह न तो किसी का विश्वास करता है और न किसी के साथ रहने में अपने अस्तित्व की सुरक्षा देखता है । अहिंसा के अश्व पर आरूढ़ होने के लिए अभय की लगाम थामनी ही होगी अन्यथा अहिंसा की बात केवल सिद्धान्त का विषय बनकर रह जाती है ।

एक समय था जब मनुष्य युद्ध की संस्कृति से परिचित नहीं था । उसकी आकांक्षाएं सीमित थीं । सीमित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसे दौड़धूप नहीं करनी पड़ती थी । जो कुछ मिल जाता, उसी से जीवन-यापन हो जाता था । उस समय प्रत्येक व्यक्ति स्वलाभ में संतुष्ट रहता था । स्वलाभ में असन्तोष के अनुभव ने मनुष्य के मन में पदार्थ के प्रति आकर्षण पैदा किया । इस आकर्षण-ने परायी वस्तु हड़पने की मनोवृत्ति जगायी । जब वह सहज में नहीं मिली तो मनुष्य आक्रान्ता बन गया । वह जोर-जबरदस्ती से दूसरे की वस्तु पर अपना अधिकार स्थापित करने लगा । आकांक्षा का जगत् बहुत बड़ा है । खान-पान की छोटी-से-छोटी वस्तु का उसके साथ सम्बन्ध है तो धरती पर एकछत्र साम्राज्य करने की भावना भी उससे जुड़ी हुई है ।

पर का स्व हड़पने के लिए मनुष्य ने अस्त्र शस्त्रों का आविष्कार किया । आदिम युग के अस्त्र पत्थर के होते थे । उनमें कुछ सुधार हुआ तो लोहा, लकड़ी आदि का उपयोग होने लगा । भाला, बरछी, तीर, तलवार आदि भी आक्रान्ता संस्कृति के ही अंग हैं । ये सभी साधन उस समय अकिंचित्कर हो गए जब मनुष्य ने अणु की शक्ति को पहचाना । अणुशक्ति का उपयोग निर्माण के कार्य में भी हो सकता है पर हिंसा के संस्कारों की सक्रियता में निर्माण की बात गौण हो जाती है और ध्वंस की बात प्रमुख बन जाती है । जापान के दो बड़े शहरों–हिरोशिमा और नागासाकी का ध्वंस द्वितीय महायुद्ध में सक्रिय हिंसक चेतना का प्रतीक है ।

विगत कुछ समय से विश्व की महाशक्तियां अन्तरिक्ष युद्ध की तैयारियों में संलगन थीं । इन तैयारियों का हेतु भी भय या आशंका के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? रूस और अमेरीका के बीच मध्यम दूरी वाले प्रक्षेपक अणु-अस्त्रों

के परिसीमन का समझौता हिंसक वातावरण में उठा हुआ एक छोटा सा अहिंसक कदम था । इस कदम का गर्मजोशी के साथ स्वागत हुआ । अब आगामी शिखर-सम्मेलन में सब प्रकार के आणविक अस्त्रों को समाप्त कर देने वाली घोषणा की प्रतीक्षा है । ऐसी घोषणा और तत्परता के साथ उस पर अमल, विश्वशान्ति की पृष्ठिभूमि में बहुत आवश्यक है ।

आज सारा विश्व अशान्त है । अशान्ति का सबसे बड़ा कारण है– हिंसा । हिंसा के पथ पर आगे बढ़कर वैयक्तिक या सामूहिक किसी भी स्तर पर शान्ति को प्राप्त नहीं किया जा सकता । शान्ति का मूलभूत आधार है–अहिंसा । आहिंसा केवल नकारात्मक ही नहीं है । इसका रचनात्मक स्वरूप दुनिया के सामने आए और उसके आधार पर विश्वशान्ति की कल्पना को साकार किया जाए, इस उद्देश्य से अहिंसा और शान्ति के संदर्भ में समायोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन एक नयी पहल करेगा, ऐसी संभावना प्रबल हो रही है । चिन्तन की धरती पर उगी हुई संभावना यथार्थ का शिखर छूने में सफल हो, यह अपेक्षा है ।

८. अध्यात्म की एक किरण ही काफी है

एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से, एक समाज को दूसरे समाज से, एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से, एक सभ्यता को दूसरी सभ्यता से और एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति से जोड़ने वाले कुछ स्थायी मूल्य होते हैं। उनमें एक मूल्य है अध्यात्म। अध्यात्म का कोई नाम नहीं होता कोई रूप नहीं होता। अनाम और अरूप होने पर भी इसकी शक्ति का कोई ओर-छोर नहीं है। अध्यात्म की एक किरण भी घृणा और शत्रुता के सघन अंधकार को दूर करने के लिए काफी है। पर उस किरण को पाने के लिए भी तपस्या करनी होती है।

भारत की प्रतिष्ठा उसकी आध्यात्मिक संपदा के कारण है। अस्तित्व को उच्चाटित करने वाली भौतिक प्रतिस्पर्द्धा में कोई अभौतिकवादी राष्ट्र तभी टिक सकता है, जब वह आन्तरिक दृष्टि से समृद्ध हो। पदार्थ के स्तर पर आयातित वस्तुओं से प्रतिबद्ध होने पर भी अध्यात्म का निर्यात करने की क्षमता जिस राष्ट्र के पास होती है, उसका गौरव कभी कम नहीं हो सकता। जापान और ताइवान विश्व के संपन्न देश हैं। इनकी संपन्नता का कारण है, इनकी श्रमशीलता और राष्ट्र-प्रेम। दूसरे महायुद्ध में पूरी तरह से टूटा हुआ जापान विकास के नये शिखर छू लेगा, यह किसने कल्पना की थी। छोटा-सा देश ताइवान अपनी आर्थिक प्रगति के कारण बड़े देशों के लिए उदाहरण बन रहा है। आर्थिक संपन्नता की एक प्रतिक्रिया है विलासिता। विलासी वृत्ति के कारण पनपने वाली अलसता और क्रूरता व्यक्ति के लिए ही नहीं, समाज और राष्ट्र के लिए अहित्तकर है। ऐसी वृत्तियां जहां पनपती हैं, वहां अध्यात्म की तो बात ही क्या, मनुष्य की कर्तव्य भावना भी सो जाती है।

सन् १९८८ के दिसम्बर महीने मे 'जैन विश्व भारती' के परिसर में एक नये इतिहास का गठन हुआ। पांच से सात दिसम्बर तक वहां लगभग पैंतीस देशों के सौ से अधिक प्रतिनिधि रहे। विश्व-शान्ति और अहिंसा के सन्दर्भ में व्यापक चर्चा चली। युद्ध, हिंसा और शस्त्रों के बढ़ते हुए प्रभाव को निरस्त करने के लिए अहिंसा

की शक्ति को उजागर करने और उसे प्रयोग में लेने की दृष्टि से कुछ निर्णय लिये गए । इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की ऊष्मा कम हो, उससे पहले ही जापान और ताइवान से पैंतालीस व्यक्तियों का एक दल यहां पहुंच गया । गत वर्ष भी जापान से एक समूह यहां आया था । भाषाई व्यवधान के कारण इनके साथ हमारा सीधा संवाद नहीं हो सका । फिर भी इन लोगों ने इस छोटी-सी यात्रा में जितना कुछ जाना, समझा और सीखा, वह उनकी ग्रहणशीलता का द्योतक है ।

सहज मीठी मुस्कान के साथ हाथ जोड़कर जब वे अभिवादन करते हैं, उनकी निश्छल विनम्रता मूर्त हो जाती है । स्फूर्ति उनमें इतनी है कि चलते समय थिरकते रहते हैं । किसी के निकट से निकलते समय वे अपने आप में सिमट जाते हैं कि उसे किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचाते । जिज्ञासा उनके रोम-रोम में स्पन्दित है। जब वे अपनी जिज्ञासा के पंख खोलते हैं तो ऐसी प्रतीति होती है मानो वे हर अज्ञात को ज्ञात करने के लिए उत्सुक हैं । उनकी सबसे अधिक उत्सुकता अध्यात्म में है। लाडनूं जैसे छोटे कस्बे में उनको कोई कष्ट तो नहीं हुआ, यह पूछने पर वे बोले–'यहां हमें जो तत्त्व मिला है, उसकी तुलना में कष्ट कुछ भी नहीं है । अपने देश में हको सब कुछ मिलता है पर ऐसा आध्यात्मिक वातावरण और ज्ञान नहीं मिलता। आपके पास हमने जो कुछ सीखा है, वह हमारे जीवन की अमूल्य धरोहर बन गया है ।'

उन लोगों में जैनधर्म के प्रति गहरा आकर्षण है । नमस्कार महामंत्र का उच्चारण वे इतना शुद्ध और इतनी तन्मयता के साथ करते हैं कि सुनने वाले सुनते ही रह जाते हैं । जैन साधु के आचार और कठोर चर्या को देखकर वे विस्मित हो गए। उन लोगों में अनेक व्यक्ति 'योग' (आसन) के प्रशिक्षक हैं । योग के द्वारा शरीर चिकित्सा का कौशल भी उनको प्राप्त है । ध्यान में उनकी अच्छी रुचि है । प्रेक्षाध्यान का प्रशिक्षण पाने के उद्देश्य से ही वे यहां आए ।

जैन विश्व भारती के पंच दिवसीय प्रवास में उन्होंने एक-एक क्षण का पूरा उपयोग किया । ध्यान के प्रति अपनी आस्था को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने प्रेक्षा ध्यान की दीक्षा स्वीकार की । दीक्षा के साथ ही उनका प्रेक्षा संघ स्थापित हो गया और उनकी पहचान 'प्रेक्षाध्यानी' के रूप में होने लगी । ध्यान की पृष्ठभूमि आचार की विशुद्धि हेतु उनके लिए पांच प्रेक्षा अणुव्रतों का निर्धारण किया गया । अहिंसा, अनेकान्त, इच्छापरिमाण, आहारविशुद्धि और प्रेक्षाध्यान–इन अणुव्रतों की स्वीकृति के साथ ही वे आक्रामक हिंसा से विरत हो गए, वैचारिक आग्रह से ऊपर उठने लगे, इच्छाओं के अन्तहीन विस्तार को सीमित करने के लिए संकल्पित हो गए, सप्ताह में एक दिन मद्य-मांस आदि का परिहार करने के लिए कटिबद्ध हो गए और

प्रतिदिन कम से कम आधे घण्टे तक प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने की मानसिकता में ढल गए ।

जापान, ताइवान और हिन्दुस्तान—इन तीन देशों का यह सांस्कृतिक संगम अपने आप में एक उपलब्धि है । इससे सांस्कृतिक मूल्यों के आदान-प्रदान का दरवाजा खुला है, मानवीय संबंधों का विस्तार हुआ है, एक-दूसरे को निकटता से जानने-पहचानने का अवसर मिला है और अध्यात्म के नये क्षितिज उन्मुक्त होने की संभावना बनी है । यह क्रम सुनियोजित रूप से आगे बढ़ता रहे और भारत की मूल आत्मा अध्यात्म के लोकव्यापी प्रसारण के लिए उपयुक्त वातावरण बने, यह अपेक्षा है ।

९.एटमी युद्ध टालने की दिशा में पहला प्रयास

८ दिसम्बर १९८७ का दिन विश्व इतिहास का महत्त्वपूर्ण दिन हो गया। इस दिन अमेरिका के 'ह्वाइट हाउस' में सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचोव और अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने मध्यम दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्र समाप्त करने की संधि पर हस्ताक्षर कर दिए। दुनिया को एटमी युद्ध के खतरे से उबारने के लिए किए गए प्रयत्नों में यह प्रथम सफल प्रयत्न है। इससे पहले सन् १९८५ में जेनेवा में सन् १९८६ में रिक्याविक में इस आशय की दो बैठकें हुई थीं, जो सफल नहीं हो सकीं।

सन् १९८६ के नवम्बर महीने में गोर्बाचोव भारत आए थे। भारत के प्रधान मंत्री राजीव गांधी से वे मिले। दोनों नेताओं ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और इस सदी के अन्त तक आणविक अस्त्रों को नष्ट करने की दृष्टि से बातचीत की और एक दस सूत्री घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए। उस घोषणापत्र के कुछ सूत्र ये हैं–

- अहिंसा को सामाजिक जीवन का आधार माना जाए।
- भय और सन्देह की जगह सद्भाव और विश्वास का वातावरण बनाया जाए।
- शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार बनाया जाए।
- परमाणु हथियार मुक्त और अहिंसक विश्व बनाने के लिए तुरन्त ठोस कार्यवाही की जाए।

इन सूत्रों को पढ़ने से ऐसा नहीं लगता कि सोवियत और भारत के शीर्षस्थ नेताओं ने ऐसे सूत्र दिए हैं। इन सूत्रों में भगवान महावीर की आत्मा बोल रही है, महात्मा गांधी की आत्मा बोल रही है। इस घोषणापत्र के लिए हमने ५ नवम्बर १९८७ को अणुव्रत भवन में मिलन के अवसर पर भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी को साधुवाद दिया और उनके माध्यम से सोवियत नेता गोर्बाचेव तक हमारा साधुवाद पहुंचाने का संकेत किया। सोवियत नेता देर-सवेर अहिंसा के रास्ते पर आए, यह भारत के लिए भी गौरव की बात है। उस घोषणा-पत्र के सम्वन्ध में

कुछ लोगों की यह प्रतिक्रिया थी कि अहिंसा और निःशस्त्रीकरण की वात करना सरल है, पर एक साम्यवादी राष्ट्र द्वारा उसकी स्वीकृति वहुत कठिन है ।

कौन-सा काम कठिन है और कौन-सा सरल ? इसका निर्णय तो समय ही कर सकता है । घोषणा-पत्र के कुछ कार्यक्रम अविलम्ब लागू हो गए । कुछ कार्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों से सम्बन्धित थे उनकी क्रियान्विति के लिए अनुकूल समय की अपेक्षा थी और सम्बन्धित देशों के नेताओं की सहमति भी आवश्यक थी । इस दृष्टि से काम वहीं तक रुका नहीं । अहिंसा की दिशा में कदम आगे बढ़े और असंभव संभव हो गया । दुनिया को परमाणु हथियारों से मुक्त करने की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण समझौता हो गया । यह समझौता हुआ उन दो महाशक्तियों में, जिनके सन्तुलन पर पूरे विश्व का सन्तुलन टिका हुआ है ।

पिछली दो बार की असफल वार्ताओं के दौर ने दोनों राष्ट्रों के नेताओं को हतोत्साह नहीं किया । 'तीजे लोग पतीजे' इस कहावत के अनुसार सोवियत और अमेरीका की तीसरी शिखर वार्ता पूरी तरह से सफल हो गई । इस वार्ता में पांच सौ से पांच हजार कि०मी० दूरी तक भूमि पर से मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करने का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया । कहा जाता है कि ये प्रक्षेपास्क्ष दोनों देशों के शस्त्रागार के महत्त्वपूर्ण हथियार हैं । इससे अगले समझौते में हथियारों के जखीरे को आधा कर देने की संभावना पुष्ट की जा रही है । यह समझौता सन् १९८८ के वसन्त में मास्को में करने की घोषणा 'ह्वाइट हाउस' से की जा चुकी है ।

गोर्बाचोव और रीगन के बीच हुए इस समझौते का दुनिया के प्रायः सभी देशों ने हार्दिक भाव से स्वागत किया है । कोई देश इसे सुखद भविष्य की शुरुआत वता रहा है, तो किसी की दृष्टि में यह यूरोप की सुरक्षा का सपना साकार हुआ है । चारों ओर से प्राप्त होने वाली बधाइयां इस बात की साक्षी हैं कि कोई भी व्यक्ति, वर्ग, समाज या राष्ट्र हिंसा नहीं चाहता । एटमी आयुध हिंसा के मूर्त प्रतीक हैं । इनसे भय, प्रतिशोध और प्रतिस्पर्धा के भाव जगते हैं । इन आयुधों के रहते हुए कोई भी देश निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकता । पड़ोसी या दुश्मन देशों के पास ऐसे आयुध हों तो किसी भी राष्ट्र के सामने बड़ी चुनौती खड़ी हो जाती है। उस चुनौती का मुकाबला करने के लिए वह शिक्षा, संस्कृति, मानवीय मूल्य आदि तत्त्वों को गौण कर अपनी सारी शक्ति सेना और शस्त्रों पर लगा देता है । इससे राष्ट्र के विकास में जो बाधाएं आती हैं, वे किसी से अज्ञात नहीं हैं ।

अमेरीका आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र है और रूस की शस्त्र-सम्पदा को अमेरीका से बेहतर माना जाता है । अमेरीका अपनी अर्थ शक्ति के बल पर रूस की शस्त्र-शक्ति से आगे बढ़ जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । आश्चर्य

है इन दोनों महाशक्तियों द्वारा अपनी आणविक शक्तियों को नष्ट करने का फैसला। यह एक ऐसा फैसला हुआ है, जिसे बहुत वर्षों पहले हो जाना चाहिए था। पर 'जब जागे तभी सवेरा' अब भी दुनिया के बड़े-बड़े देश अहिंसा की शरण में चले जाएं और शस्त्र निर्माण में लगी हुई अपनी चेतना को वहां से हटा लें तो विश्व शान्ति के क्षेत्र में बड़ी उपलब्धि हो सकती है।

पूर्वाग्रह, भय, अहम्, सन्देह, स्पर्धा आदि जिन-जिन कारणों से हिंसा को बल मिलता है, उन्हें समाप्त करना जरूरी है। जिस दिन अणु-अस्त्रों पर सम्पूर्ण प्रतिबन्ध लगेगा, क्रूर हिंसा रूपी राक्षस को कील दिया जाएगा, वह दिन समूची मानव जाति के लिए महान उपलब्धि का दिन होगा। यह मेरा व्यक्तिगत सपना है। मेरा ही क्यों, न जाने कितने-कितने लोगों का सपना है। हम सब मिलकर प्रयत्न करेंगे और मंगलकामना करें कि शान्ति का जो द्वार खुला है, वह खुलता ही चला जाए।

१०. अहिंसा प्रकाश है

अहिंसा प्रकाश है और हिंसा अंधकार है । अहिंसा सत् है, हिंसा असत् है। अहिंसा अमृत है, हिंसा मृत्यु है । अहिंसा करुणा है, हिंसा घृणा है । अहिंसा सह-अस्तित्व है, हिंसा अलगाववादिता है । अहिंसा समता है, हिंसा क्रूरता है । अहिंसा अदृष्ट है, हिंसा दृष्ट है । अदृष्ट में जो आनन्द मिलता है, वह दृष्ट में नहीं मिल सकता । अहिंसा में जो सुख-चैन निहित है, वह हिंसा में नहीं हो सकता । यह शाश्वत सत्य है । तीर्थंकारों ने इस सत्य का संगान किया है । जो लोग इस संगान को सुनकर भी अनसुना कर देते हैं, वे सुख-शान्ति का रास्ता नहीं खोज सकते ।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में लिखा है–मनुष्य के लिए हरीतकी माता की तरह हितकारक है । कभी ऐसा प्रसंग आ सकता है कि माता कुपित होकर अपनी सन्तान का अनिष्ट कर दे, पर हरीतकी पेट में जाकर कभी नुकसान नहीं पहुंचाती । इस प्रतीक को अहिंसा के साथ घटित किया जा सकता है– मनुष्य के लिए अहिंसा माता की तरह हितसाधक है । मां कभी अपनी संतान का अहित कर सकती है, किन्तु अहिंसा का पालन किया जाए तो वह कभी अहितकारक नहीं हो सकती है, अहिंसा हमारी मां है । हमने भूल यह की कि अहिंसा का सम्मान करना नहीं सीखा । अहिंसा ही एकमात्र रास्ता है सुख शान्ति का । पर हमने उसका भी विकल्प खोजना शुरू कर दिया । राजनैतिक पार्टियां आज नेतृत्व का विकल्प ढूंढ रही हैं । उन्हें विकल्प मिल सकता है, पर अहिंसा का कोई विकल्प नहीं है । यदि संसार को शान्ति से रहना है तो उसे अहिंसा की शरण में जाना ही होगा ।

अहिंसा सार्वकालिक और सार्वभौमिक उपाय है । इसके द्वारा कठिन से कठिन समस्या का समाधान हो सकता है । अभी २९ जुलाई १९८७ को कोलम्बो में भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी और श्रीलंका के राष्ट्रपति जयवर्धन के बीच हुआ समझौता इसकी जीती जागती मिसाल है । तमिलों और सिंहलियों के मध्य चार वर्षों से चल रहें हिंसात्मक विवाद का अहिंसात्मक हल इस बात का साक्षी है कि अहिंसा का कोई विकल्प नहीं है और हिंसापूर्ण उपायों की निष्फलता अनिवार्य है । ऐसे प्रसंगों

पर प्रारंभ से ही अहिंसात्मक नजरिया काम में लिया जाए तो हिंसा को कभी खुलकर खेलने का मौका नहीं मिल सकता ।

मनुष्य विसंगतियो का जीवन जीता है । वह चाहता है प्रकाश और पाल रहा है अंधकार को । वह चाहता है शान्ति और उपाय खोज रहा है अशान्ति के । वह बात करता है अहिंसा की और अपनी शक्ति लगा रहा है शस्त्र-निर्माण में । शस्त्रों में प्रतिस्पर्धा होती है । कोई भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र शस्त्र निर्माण करेगा तो उसका पड़ोसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र भी उस प्रतिस्पर्धा में कूदना चाहेगा । जबकि शस्त्रों के अनियंत्रित एवं अविवेकपूर्ण प्रयोग से होने वाले खतरों की चिन्ता सबको है । इन विसंगतियों से निबटने के लिए शस्त्र की ओर नहीं, उस चेतना की ओर ध्यान देना होगा जो शस्त्र को बनाती है । मनुष्य की चेतना और चिन्तन से शस्त्र की बात निकल जाएगी तभी हिंसा को निर्बाध रूप से काम करने का अवसर प्राप्त होगा ।

मनुष्य को काम करना है तो सबसे पहले उसे सक्षम बनना होगा । अहिंसा की क्षमता अहिंसा में निष्ठा रखने वालों की क्षमता पर भी निर्भर है । हिंसक व्यक्ति हिंसा के प्रति जितने निष्ठाशील हैं, क्या अहिंसक व्यक्तियों में अहिंसा के प्रति उतनी निष्ठा है ? निष्ठा के अभाव में अहिंसा का रास्ता अपना लिया तो क्या होगा ? अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा है तो फिर किसी भी स्थिति में हिंसा का विकल्प उठ नहीं सकेगा ।

अहिंसा एक अखण्ड सत्य है । उसे टुकडों में बांटा नहीं जा सकता । एशिया, यूरोप और अमेरीका की अहिंसा अलग-अलग नहीं हो सकती । यदि हम चाहते हैं कि अहिंसा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभावशाली बने तो उसके लिए तीन काम करने होंगे--शोध, प्रशिक्षण और प्रयोग । अहिंसक शक्तियां संगठित होकर अहिंसा के क्षेत्र में रिसर्च करें, अहिंसा का प्रयोग करें तो निश्चित रूप से अहिंसा का वर्चस्व स्थापित हो सकता है ।

हमारी आखिरी मंजिल अहिंसा है । हम इस दिशा में एक-एक कदम ही आगे बढ़ाते रहें तो हमें अहिंसा मां का संपूर्ण संरक्षण उपलब्ध हो सकता है । माटी का एक दीया भी अंधकार की सघनता को भेदने मे सक्षम है । इसी प्रकार अहिंसा की दिशा में उठा हुआ एक-एक पग भी मंजिल तक पहुंचने में कामयाबी दे सकेगा ।

११. शस्त्र बनाने वाली चेतना का रूपांतरण

सन् १९८०, तीन जून का दिन विश्व को आणविक युद्ध के कगार पर ले गया था। उस दिन अमेरिका के रक्षा विभाग पेंटागन में तहलका मच गया था। इसका कारण भी था। प्रेक्षापास्त्र आक्रमण की आकस्मिक सूचना। आक्रान्ता था रूस और सूचना देने वाला था कम्प्यूटर। एक क्षण खोए बिना अमेरीका में आक्रमण विरोधी मशीनरी सक्रिय हो गई। न्यूक्लीयर बम वर्षकों का इंजन गर्म हो गया। चारों ओर मौत का साया मंडरा गया। मशीन का बटन दबाने के लिए हाथ उठे, उससे पहले ही कम्प्यूटर की सूचना गलत होने का संवाद मिल गया। अविलम्ब सारी कार्यवाही को रोका गया। समय पर सही सूचना नहीं मिलती तो उस दिन मानव जाति का अस्तित्व खतरे में होता।

निःशस्त्रीकरण पर संयुक्त राष्ट्रसंघ के तीसरे अधिवेशन पर समवेत विश्व की छोटी बड़ी सभी शक्तियों को सम्बोधित करते हुए भारत के प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने कहा–'बीसवीं सदी मानव-इतिहास में सबसे अधिक रक्तरंजित सदी के रूप में अंकित होगी। इसमें दस करोड़ लोगों की जानें गईं। दो विश्वयुद्धों में पांच करोड़ और अस्सी लाख। अन्य संघर्षों में चार करोड़। अब यदि परमाणु युद्ध का संकट सामने आया तो उसमें अरबों लोगों की मौतें होंगी। इसका मतलब होगा इस पृथ्वी से संपूर्ण मानव जाति का लोप। ऐसी गलती क्यों हुई ? किसके द्वारा हुई और कैसे हुई ? यह सब जानने के लिए फिर कोई मनुष्य बचेगा ही नहीं।

एक ओर मनुष्य के मन में तीव्र जिजीविषा, दूसरी ओर जीवन को समाप्त करने का भयावह साधन। एक ओर शान्ति-सुख से जीने की लालसा, दूसरी ओर युद्ध की मानसिकता। एक सर्वे के अनुसार ईसा पूर्व छत्तीस सौ वर्ष से लेकर अब तक मानव जाति केवल दो सौ बानवे वर्ष ही शान्तिपूर्वक रह सकी है। इस बीच साढे चौदह हजार वर्ष से भी अधिक छोटे बड़े युद्ध लड़े गए। एक अन्य सर्वेक्षण से पता चला कि इकहत्तर प्रतिशत अमरीकी, बासठ प्रतिशत ब्रिटिश, तिरेपन प्रतिशत स्पेनी, उनचास प्रतिशत आयरिश, अड़तालीस प्रतिशत फ्रांसिसी, पैंतीस प्रतिशत पश्चिम

जर्मनी तथा अट्ठाईस प्रतिशत इटालियन अगले युद्ध में लड़ने के लिए तैयार हैं।

हिंसा और अहिंसा का संघर्ष कोई नया नहीं है। हिंसा जीवन की अनिवार्यता है। पर अहिंसा के विना पवित्र एवं शान्तिपूर्ण जीवन की कल्पना भी नहीं हो सकती। जीवन चलाना एक बात है और किसी आदर्श तक पहुंचना एकदम दूसरी वात है। सव लोग आदर्श तक नहीं पहुंच सकते। पर उस दिशा में प्रस्थान तो कर ही सकते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिवेशन में हुई चर्चा अहिंसक नीति मे विश्वास की अभिव्यक्ति है। निःशस्त्रीकरण में पहल करने वाले कुछ राष्ट्रों तथा गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की ओर से सम्मेलन मे प्रस्ताव रखा गया कि आने वाले वाईस वर्षों में इस संसार से सभी तरह के परमाणु हथियार हटा लिये जाएं। यह प्रस्ताव तभी प्रभावी वन सकता है, जव आधुनिक प्रद्योगिकी पर आधारित नये हथियारों पर अविलम्व रोक लगे और पहले से निर्मित हथियारों को समाप्त कर दिया जाए। यह एक वहुत वड़ा काम है। इसे न तो अकेला भारत कर सकता है और न कोई दूसरा देश। इसके लिए तो एक सामूहिक प्रयत्न की अपेक्षा है। उस प्रयत्न की वागडोर कोई भी देश संभाले, अभी तो उसका पहला और अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए परमाणु-युद्ध की आशंका को वढ़ाने वाले हथियारों की समाप्ति।

कहा जाता है कि आज पूरी दुनिया में प्रति मिनट एक करोड़ तीस लाख से भी अधिक रुपये हथियारों के निर्माण पर खर्च हो रहे हैं। कुछ देशों में शिक्षा पर प्रति व्यक्ति दो डालर का खर्च है, जव कि फौज पर प्रति व्यक्ति दो हजार डालर का व्यय हो रहा है। यह स्थिति जव तक नहीं वदलेगी, किसी भी राष्ट्र की धरती पर शान्ति की पदचाप सुनाई नहीं देगी।

प्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक कार्ट सैगोन एवं पाल क्रुटजेन ने अमरीकी कांग्रेस की संयुक्त आर्थिक समिति को दिए एक प्रतिवेदन में वताया है कि विश्व की महाशक्तियों के पास एकत्र परमाणु हथियारों का एक प्रतिशत भाग भी प्रयोग में लिया गया तो भयंकर वरवादी होगी।

इन सब स्थितियों का अध्ययन करने के वाद मनुष्य को हिंसा से अहिंसा की ओर लौटने का निर्णय लेना होगा। परिवार, समाज या राष्ट्र की जीवनशैली में जव तक हिंसा के संस्कार प्रवल रहेंगे, अहिंसा पर विश्वास नहीं जम पाएगा। हिंसा की ज्वाला में झुलसते हुए संसार के लिए यदि कोई त्राण है तो वह एक मात्र अहिंसा है। मनुष्य हिंसा से नहीं वच सकता, यह सही है। पर वह संकल्पना हिंसा से अपना वचाव तो कर ही सकता है। आणविक अस्त्र-शस्त्र जीवन की आवश्यकता नहीं है। इनकी उपस्थिति में राष्ट्रीय हित भी चरमरा रहे हैं। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र संघ में निःशस्त्रीकरण की चर्चा अत्यन्त प्रासंगिक है।

निःशस्त्रीकरण के बीज हैं अभय, सद्भाव और सहिष्णुता में। मनुष्य स्वयं अभय रहे तथा अपनी ओर से सबको अभय कर दे, परस्पर सद्भाव का विकास हो और एक-दूसरे को सहने का मनोभव विकसित हो, निःशस्त्रीकरण सहज रूप में फलित हो सकता है। शस्त्र समाप्त करने के साथ-साथ शस्त्र बनाने वाली चेतना को भी रूपान्तरित किया जा सका तो परमाणु-युद्ध की भारी आशंका से भी छुटकारा मिल सकता है।

१२. मूल्यहीनता का संकट

सन् १९८६ का वर्ष 'अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति वर्ष' के रूप में मनाया जा रहा है। इस शान्ति वर्ष का प्रभाव किस देश में है, पता नहीं। भारत में तो कम से कम है ही नहीं। यहां शान्ति के आसन पर विराजमान है आतंकवाद। आतंकवादियों का उत्पाद रात के अंधेरे में होता तो कोई उपाय सोचा जाता। पर वे लोग तो दिन के उजाले में मार-पीट, लूट-खसोट, अपहरण आदि कर निश्चिन्तता से आगे की योजना बना रहे हैं और निरीह जनता दिन-रात असुरक्षा, आशंका और भय के शिकंजे में तड़प रही है।

आतंकवाद की समस्या से निपटने के लिए सरकारी और गैरसरकारी स्तर पर काफी प्रयत्न हो रहे हैं, फिर भी स्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया है। राष्ट्र में जनधन को क्षति पहुंचा कर अशान्ति फैलाने वाला यह आतंकवाद जितना खतरनाक है, इससे भी खतरनाक आतंकवाद पनप रहा है, जो पूरी मानवता को खोखली बना रहा है। एक भी व्यक्ति की हत्या न करके भी वह देश की संस्कृति को उजाड़ रहा है। इन आतंकवादयों के पास न बम है, न बन्दूक है, न छुरा है, फिर भी इनके अस्तित्व से जिन्दे आदमी मर रहे हैं। चरित्रहीनता और अनुशासन हीनता इस आतंकवाद की मूलभूत प्रेरणा है।

चरित्रहीनता और मूल्यहीनता के संकट से भी बड़ा संकट है आस्थाहीनता का। जिस भारतीय जनता के सामने चरित्रनिष्ठा का ऊंचा आदर्श था, आज वह इस अवधारणा में जी रही है कि सत्य, न्याय और नैतिकता के आधार पर जीवन नहीं चल सकता। सत्य के रास्ते में कठिनाइयां हो सकती हैं पर उस रास्ते से चलने की संभावना को ही नकार देना सबसे बड़ा खतरा है।

आज देश में अपराध बढ़ रहे हैं, यह स्थिति चिन्तनीय है। पर इससे भी अधिक चिन्तनीय मनुष्य की वह मानसिकता है जो अपराधी मनोवृत्ति को जीवन की अपरिहार्यता मानने लगी है। जब तक आदमी यह सोचता रहेगा कि अपराध किए बिना जीवन नहीं चल सकता, तब तक चरित्र की प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकेगी।

चरित्र और नीति के प्रति आस्थाहीनता का यह आतंक जब तक जीवित है, दूसरे आतंकवाद निर्विघ्न रूप से पलते रहेंगे। इसी बात को ध्यान में रखकर हमने अणुव्रत जैसा नैतिक आन्दोलन चलाया। अणुव्रत ने एक वातावरण बनाया है, पर वांछित सफलता इसे भी नहीं मिली है। कभी-कभी तो अणुव्रत स्वीकार करने वाले व्यक्तियों के मन में भी सन्देह के अंकुर फूट पड़ते हैं कि क्या वे अणुव्रती रह कर संसार की इस दौड़ में साथ रह सकेंगे।

ऐसी स्थिति में भी मुझे यह नहीं लगता कि इस देश की माटी से सत्य और न्याय के संस्कार पूरी तरह से क्षीण हो गए है। आज भी उन संस्कारों के बीज यहां मिलते हैं। अपेक्षा है उन्हें उचित सिंचन और पोषण देने की। ऐसे संस्कारों में आस्था रखने वाले लोग संगठित होकर अपनी क्षमता का उपयोग करें, निश्चित रूप से बड़ा काम हो सकता है।

भारत एक अखण्ड राष्ट्र है। यदि वह अपनी राष्ट्रीय चेतना जगा सके, चरित्रनिष्ठ बनकर आस्थाहीनता की रीढ़ तोड़ सके तो पंजाब का आतंक क्या, सब प्रकार के आतंकवाद स्वयं समाप्त हो जाएंगे।

१४. मन से भी होती है हिंसा

हिंसा एक समस्या है । यह ऐसी समस्या है, जो अतीत में थी, वर्तमान मे है और अनागत में नहीं होगी, ऐसा विश्वास नहीं है । हिंसा कव होती है, क्यों होती है, कैसे होती है और इसकी परिणति किस रूप में होती है ? ये सारे सवाल समाधान की रोशनी चाहते हैं । हिंसा होने का कोई काल निर्धारित नहीं होता । वह कभी भी और कहीं भी घटित हो सकती है । क्योंकि हिंसा का उपादान आदमी के भीतर रहता है । छोटा-सा निमित्त मिलते ही वह उभरकर वाहर आ जाता है। ढेर सारे घास मे एक छोटी-सी चिनगारी रख दी जाए तो पूरी घास भस्मसात हो जाती है । हिंसा की आग भी छोटा-सा निमित्त मिलते ही भभक उठती है । उस आग पर कावू पाना कठिन हो जाता है ।

हिंसा होने का मूलभूत कारण है हिंसा के संस्कार । वे संस्कार एक जन्म से नहीं, जन्म-जन्म से संचित होते हैं । अपने विचारों और हितों के प्रतिकूल वात सामने आने पर वे संस्कार उत्तेजित होते हैं । उत्तेजना अपने आप में हिंसा है । उसके कारण हिंसा का स्थूल रूप भी सामने आ जाता है ।

हिंसा शस्त्र से ही हो, यह आवश्यक नहीं है । मन से हिंसा हो सकती है, वाणी से हिंसा हो सकती है, शरीर से हिंसा हो सकती है । राजनैतिक माहौल में हिंसा हो सकती है । वैचारिक एवं व्यावसायिक स्तर पर हिंसा हो सकती है । सामाजिक संदर्भों में हिंसा हो सकती है और साम्प्रदायिक के आधार पर भी हिंसा भड़क सकती है । हिंसा की यात्रा के लिए इतने रास्ते खुले हुए हैं कि उनको समझ पाना भी कठिन है ।

किसी व्यक्ति को अपने अधीन वनाना, उस पर हुकूमत चलाना, उसे सताना, मानसिक यातना देना आदि सब हिंसा की परिणतियां हैं । इसकी सबसे अधिक स्थूल परिणति है–प्राण-वियोजन । किसी अजनवी व्यक्ति की आकस्मिक मृत्यु देखकर भी संवेदनशील व्यक्ति का मन उद्वेलित हो जाता है । ऐसी स्थिति में बेगुनाह लोगों को जानबूझकर मौत के घाट उतारना समूची मानव जाति में दहशत पैदा करना

है । मेरे अभिमत से यह क्रूरता की पराकाष्ठा है । यह क्रूरता भी एक प्रकार की मदिरा है, जो व्यक्ति की करुणा का रस सोखकर उसे मानव से दानव बना देती है । प्राचीनकाल में सुरा के तीन रूप मान्य थे–

प्रमदा मदिरा लक्ष्मी विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
दृष्ट्वैवोन्मादयेदेका पीता चान्यातिसंग्रहात् ॥

सुरा के तीन रूप हैं–स्त्री, मदिरा और लक्ष्मी । स्त्री में इतना नशा होता है कि वह उसे देखने वाले को देखने मात्र से उन्मत्त बना देती है । मदिरा का नशा उसे पीने के बाद चढ़ता है और लक्ष्मी का नशा उसका अतिसंग्रह होने पर चढ़ता है । इन तीनों की मादकता मनुष्य का अनुभूत सत्य है । कुछ चीजें इनसे भी अधिक मादक हैं । अहं की मादकता, क्रूरता की मादकता आदि को इसी कोटि में लिया जा सकता है ।

एक और मादकता है इस संसार में । वह है साम्प्रदायिकता की मादकता । सम्प्रदाय की सृष्टि बहुत सही उद्देश्यों से हुई होगी पर जिस रूप में इसका इस्तेमाल हो रहा है, वह रूप बहुत ही विकृत है, भद्दा है । उसे देखकर लगता है कि सम्प्रदाय का अस्तित्व में आना ही एक बड़ी भूल थी । दूसरी भूल हो रही है धर्म और सम्प्रदाय को एक समझने की । सम्प्रदाय सम्प्रदाय है और धर्म धर्म है, इस बात को वे समझ सकते हैं, जो रस और छिलके के अस्तित्व को उनकी उपयोगिता के संदर्भ में देखते हैं ।

साम्प्रदायिकता भी हिंसा का एक कारण है । साम्प्रदायिक हिंसा की परंपरा नयी नहीं है । विश्व का इतिहास ऐसी भयंकर दुर्घटनाओं से भरा पड़ा है, जो साम्प्रदायिक हिंसा का दस्तावेज है । भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदायों के बीच हुए संघर्ष और उनके दुष्परिणाम जितने घातक रहे हैं, एक ही धर्म को मानने वाले सम्प्रदायों की हिंसा भी कम घातक नहीं है । एक ओर वैदिक संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति के बीच हिंसा की आग प्रज्वलित की गई, वहां दूसरी ओर आर्यसमाजी और सनातनी, दिगम्बर और श्वेताम्बर, सिया और सुन्नी, प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक आदि एक ही धार्मिक विश्वास रखने वाली दो-दो शाखाओं में जमकर संघर्ष हुआ । ऐसे संघर्ष के समय असामाजिक तत्त्वों को खुलकर खेलने का मौका मिलता है । असामाजिक तत्त्वों का अथवा साम्प्रदायिक तत्त्वों द्वारा शुरू की गई इस लड़ाई का अंत होता है हिंसा में, बिखराव में वैमनस्य में और लोकजीवन को अस्त-व्यस्त करने में । गलत तत्त्व अपना प्रयोजन सिद्ध होने बाद भूमिगत हो जाते हैं, बदनामी का तिलक निकलता है धर्म के माथे पर । जबकि संसार का कोई भी धर्म हिंसा को प्रश्रय दे ही नहीं सकता ।

हिन्दुस्तान अनेक बार साम्प्रदायिक हिंसा का शिकार हुआ है । इस देश की

शान्तिप्रिय जनता को साम्प्रदायिक उन्माद के हादसे देखने पड़े हैं। आज भी देश में यत्र-तत्र जो हिंसक वारदातें हो रही हैं, क्या उनमें जनता की प्रेरणा है ? जनता शान्ति से जीना चाहती है। उसके शान्ति सरोवर में कंकड़-पत्थर फेंककर तरंगें उठाने वाले वे लोग हैं, जो साम्प्रदायिक मानसिकता के दास हैं। जब-जब उनके दिमाग पर साम्प्रदायिक मादक का प्रभाव घनीभूत होता है, वे घासफूस के ढेर में चिनगारी लगाकर स्वयं छिप जाते हैं। ऐसे लोग मनुष्यों के हत्यारे तो हैं ही, मानवीय मूल्यों के भी हत्यारे हैं। मुझे लगता है कि यह साम्प्रदायिकता की मादकता सबसे भयंकर मादकता है। इस सत्य को लोग समझें, साम्प्रदायिकता की जड़ों को उखाड़ें, एक स्थिर एवं निश्चित भविष्य को संवारने का संकल्प लें। बढ़ती हुई हिंसा की समस्या का यह सर्वाधिक सरल समाधान है।

१५. आदमी का आदमी पर व्यंग्य

१० अगस्त १९८२ का धर्मयुग देखा उसके तीसरे पृष्ठ पर एक विज्ञापन छपा है 'नोविनो' सेल का। विज्ञापन के ऊपर के भाग में एक आदमी का रेखाचित्र है और उसके निकट ही रखा हुआ है एक कैलक्युलेटर। कैलक्युलेटर सेल से काम करता है। उस रेखाचित्र के नीचे दो वाक्य लिखे हुए हैं– कैलक्युलेटर लगातार काम करेगा, इसका आश्वासन तो हम दे सकते हैं, पर ये महाशय भी ऐसे ही काम करेंगे, इसका आश्वासन भला हम कैसे दे सकते हैं ? एक आदमी का आदमी के प्रति कितना तीखा व्यंग्य है ? कहां विद्युतघट रूप में काम आने वाला सेल और कहां ऊर्जा का अखूट केन्द्र आदमी ! सेल का निर्माता आदमी है। वही आदमी अपने सजातीय का ऐसा क्रूर उपहास करे, कितनी बड़ी विडम्बना है।

विद्युत ऊर्जा का बहुमुखी उपयोग करने वाला आदमी अब कम्प्यूटर युग की ओर तेजी से बढ़ रहा है। कम्प्यूटर वह सब काम कर सकेगा, जो एक बुद्धि-विवेक-सम्पन्न आदमी करता है। क्या यह आदमी की सत्ता को सीधी चुनौती नहीं है ? आदमी के द्वारा आदमी का इतना बड़ा अहित उस वट वृक्ष के कथन को सत्यापित कर रहा है।

एक लकड़हारे ने वृक्ष काटने की योजना बनाई। वह जंगल में इधर-उधर घूमने लगा। उसके हाथ में मात्र लोहे की कुल्हाड़ी थी। उसे यों घूमते देख जंगल के वृक्ष कांप उठे। वे आपस में खुसरपुसर करने लगे। उनकी घबराहट देखकर वटवृक्ष बोला–'साथियो ! डरो मत। यह लकड़हारा हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। उसके हाथ में जो कुल्हाड़ी है, वह अकिंचित्कर है। इसका तब तक कोई उपयोग नहीं है, जब तक हमारा कोई साथी दुश्मन से नहीं मिल जाएगा, उसका सहयोग नहीं करेगा। वट वृक्ष की बात पूरी तरह से सही प्रमाणित हुई। जंगल कटना तब प्रारंभ हुआ जब लोहे की कुल्हाड़ी में लकड़ी का बेंट लग गया।

पदार्थ की बड़ी से बड़ी शक्ति से मनुष्य को तब तक कोई खतरा नहीं है, जब तक मनुष्य उस शक्ति का परीक्षण और प्रयोग न करे। जब से मनुष्य ने

प्रकृति का दोहन कर पदार्थ की ऊर्जा में अपना हस्तक्षेप शुरू किया, उसी दिन से मनुष्य का अस्तित्व विनाश के कगार पर खड़ा है।

मनुष्य का चिन्तन कितना सतही है। वह जो कुछ सोचता है, पदार्थ को केन्द्र में रखकर सोचता है। जव केन्द्र में चेतना प्रतिष्ठित नहीं होगी, मनुष्य के द्वारा मनुष्य का उपहास ऐसे ही होता रहेगा। एक बार वह मुड़ कर देखे। उसने जिस विन्दु से यात्रा शुरू की, अव तक कितनी प्रगति हुई है। वह गति, अटकाव और भटकाव–इन तीन विन्दुओं का विश्लेषण करे। अटकाव और भटकाव को गति में बदलना, यही जीवन है। गति की पहचान कैलक्युलेटर और कम्प्यूटर में नहीं, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में है। आदमी अपना ध्यान इस ओर केन्द्रित करे, यह अपेक्षा है।

१६. अतीत की समस्याओं का भार

अतीत की विदाई, आगत का स्वागत–यह संसार का निश्चित क्रम है। सन् १९८७ की विदाई हो गयी। सन् १९८८ हमारे सामने है। पिछला वर्ष चला गया, पर अपनी सरजी हुई कुछ समस्याओं को छोड़ गया। वैसे उसने भी विदा होते वर्ष की कई समस्याओं का बोझ अपने कंधों पर उठाया था। लगता है कि यह एक परम्परा बन गई है। कोई भी वर्ष अपने काल में उपजी समस्याओं की गठरी बांधकर साथ नहीं ले जाता। इसलिए आने वाले वर्ष को उनका मुकाबला करना पड़ता है। इस बार भी सूखा, अकाल, मंहगाई, हिंसा, आतंकवाद और जीवन मूल्यों के प्रति लापरवाही जैसी अनेक समस्याएं खड़ी हैं। सन् १९८८ को इन सबसे जूझना होगा। यह कितनी समस्याओं को निरस्त कर पाएगा, कितनी समस्याओं को जन्म देगा और कितनी समस्याओं का बोझ छोड़ कर जाएगा, यह पता एक वर्ष बाद ही लग सकेगा।

समय एक प्रवाह है। वह कभी रुकता नहीं है। उसे कोई रोक कर रख भी नहीं सकता। इस दृष्टि से उसे वर्ष या महीनों में बांधना एक प्रकार की कल्पना है। यह बात नैश्चयिक काल की दृष्टि से है। व्यवहार के धरातल पर काल का माप सूर्य और चन्द्रमा की गति के आधार से होता है। इस अपेक्षा से काल को अनेक सीमाओं मे बांधा जा सकता है। वर्षारम्भ भी एक सापेक्ष दृष्टि है। यही कारण है कि वर्ष का आरम्भ अनेक बार होता है। कुछ पंचांग चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से नये वर्ष का प्रारम्भ करते हैं। कुछ लोग श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को आदि दिन मानते हैं। ईस्वी सन् के अनुसार एक जनवरी को नया वर्ष शुरू होता है। फसली सन् आश्विन की प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। वीर निर्वाण संवत् का सम्बन्ध कार्तिकी अमावस्या के साथ है। इस प्रकार पूरे विश्व में न जाने कितने व्यक्ति सन्, संवत् आदि के आधार पर काल की प्रवृत्ति करने वाले हो गए।

वर्ष आते हैं, चले जाते हैं। यह कोई बहुत महत्त्वपूर्ण बात नहीं है महत्त्व की बात है सामूहिक विकास का संकल्प और उसकी क्रियान्विति के लिए किया

जाने वाला सार्थक प्रयास। पिछले दिनों समाचार पत्र में पढ़ा था कि लायंस क्लब दिल्ली कनिष्का के अध्यक्ष श्री पुष्पेन्द्रसिंह ने सभी क्लबों से अपील की है कि वे सूखे की हालत देखते हुए नव वर्ष को मद्य-निषेध वर्ष के रूप में मनाएं। उनके कथनानुसार कनिष्का ने निर्णय लिया है कि उनके किसी भी समारोह में शराब व अन्य नशीली चीजों का इस्तेमाल नहीं किया जाएगा। यह एक अच्छी शुरुआत हुई है। इस सूझबूझ के लिए उन्हें साधुवाद दिया जा सकता है। निमित्त कुछ भी हो, किसी ने इस दृष्टि से चिन्तन तो किया। दूसरे क्लब तथा संस्थान भी लायंस क्लब का अनुकरण कर इस दिशा में कोई ठोस कदम उठाएं तो बड़ा काम हो सकता है।

समूह में शक्ति होती है। एक-एक व्यक्ति या एक-एक संस्थान का काम जितना बल नहीं पकड़ता, सामूहिक प्रयत्नों से हुआ काम उतना बल पकड़ लेता है। शराब व अन्य नशीली वस्तुओं के कारण आज देश की युवापीढ़ी कितनी दिग्भ्रान्त हो रही है। वह न तो स्वयं के प्रति सचेत है और न उसे देश के भविष्य की चिन्ता है। नशा करके गम करना आज की नयी सभ्यता हो गई है। इस सभ्यता को नया मोड़ देने की जरूरत है।

सन् १९८७-८८ का सूखा इस शताब्दी का सबसे भयंकर सूखा है। सूखा पीड़ित क्षेत्रों में राहत कार्य शुरू हो चुका है। पर वह काम भी कितनी ईमानदारी से होता है, यह समझने की बात है। सरकारी तंत्र से, स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा और व्यक्तिगत स्तर पर जहां कहीं भी सूखा राहत कार्य हो, उसमें ईमानदारी का संकल्प स्वीकार करने वाले नये वर्ष का स्वागत बहुत नये तरीके से कर सकते हैं। इस अवसर पर संयम और सादगी बरतने का आह्वान मैं पहले भी कई बार कर चुका हूं। व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति को थोड़ा-सा बदले और संयम के मूल्य को समझे तो समस्या का आधा बोझ कम हो सकता है। इस अभाव या अकाल की स्थिति से निपटने के साथ जनता के मनोबल को बढ़ाना भी जरूरी है। मन की हार सबसे बड़ी हार है। जो लोग चारों ओर से हताश हो चुके हैं, उनके रास्ते में आशा का कोई दीप जले और वे दुगुने उत्साह के साथ अपने कर्तृत्व को उजागर करें। यह सब तभी हो सकता है, जब देश में स्थिरता और निश्चिन्तता हो। राजनैतिक अस्थिरता की बातें भी व्यक्ति को भयाक्रान्त बना देती हैं। भारत की लोकतांत्रिक अर्हता बढ़ाने और वातावरण में निश्चिन्तता भरने की कल्पना के साथ नये वर्ष में प्रवेश अधिक उपयोगी हो सकता है। वैसे इस वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शान्ति और सहअस्तित्व की दिशा में नये कदम उठाने की पूरी-पूरी संभावना है। इस संभावना

को सही प्रमाणित करने के लिए व्यक्ति एक-दूसरे का विश्वास करना सीखे, किसी की जीवन शैली में दखल न पहुंचाए और अहिंसा की शाश्वत शरण स्वीकार करे तो किसी एक देश की ही नहीं, विश्व की मानव जाति के लिए यह वर्ष जीवनदायी बन सकता है। समूचे विश्व में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के अभियान को गति देने का संकल्प नये वर्ष का सच्चा स्वागत है।

१७. दूरदर्शन से मूल्यों को खतरा

बीसवीं सदी का सबसे बड़ा चमत्कार है विज्ञान । विज्ञान के चामत्कारिक आविष्कार आंखों को चुंधियाने वाले हैं । आम आदमी के लिए उनका उपयोग भी है । विज्ञान की बदौलत आदमी को सुख-सुविधाएं भी उपलब्ध हुई हैं । प्रतीत यह होता है कि अब विज्ञान को जीवन से अलग करना बहुत मुश्किल है । एक समय था जब मनुष्य प्रकृति का उपासक था । प्राकृतिक साधनों के आधार पर वह जीवन-यापन करता था । जैसे-जैसे विज्ञान का विकास हो रहा है, प्रकृति का आकर्षण कम हो रहा है । मनुष्य और प्रकृति के बीच में एक खामोश दूरी बढ़ती जा रही है । इस वैज्ञानिक नजदीकीपन और प्राकृतिक दूरी के पीछे कुछ ऐसे निमित्त हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्षा रूप में मनुष्य को इधर-उधर करते रहे हैं । उन निमित्तों मे एक बड़ा निमित्त है 'टेलीविजन' । टेलीविजन का शॉर्ट फार्म है टी० वी० ।

टी० वी० इस युग की संस्कृति है । ऐसी संस्कृति जिसने सांस्कृतिक मूल्यों पर परदा डाल दिया है, सामाजिक मूल्यों को अस्त-व्यस्त कर दिया है और परिवारिक सम्बन्धों की मधुरिमा में जहर घोल दिया है । यह जहर घुली संस्कृति मनुष्य के लिए सबसे बड़ी त्रासदी है । इस त्रासदी का अनुभव सन्त जन करें, कोई बड़ी बात नहीं है । क्योंकि उनका नजरिया सांसारिक आमोद-प्रमोद में लिप्त नहीं होता। किन्तु जब कोई संसारिक जन इस बात को महसूसता है तो वह अनुभव आम आदमी का अनुभव बन जाता है ।

जन संचार और समाज विज्ञान के शोधकर्त्ता तथा सूचना और प्रसारण मंत्रालय के पूर्व सलाहकार डॉ० एन० भास्करराव ने टी० वी० को पारिवारिक जीवन के लिए अभिशाप बताते हुए कहा है– 'हमारी मौलिक सांस्कृतिक विरासत, मूल्यों और पारिवारिक परम्पराओं के साथ होने वाले खिलवाड़ को रोका जाए ।' अनुभव किया है कि टी० वी० दादी मां की भूमिका से उल्टी भुमिका निभा रहा है । इसके कारण पति-पत्नी के बीच दुराव बढ़ा है और बच्चों की सृजनात्मक क्षमता कम हुई है ।

यह सही है कि टी० वी० प्रचार-प्रसार का एक सशक्त माध्यम है । प्रवचन

सुनने और साहित्य पढ़ने आदि की अनेक आवृत्तियों से जो काम नहीं होता टी० वी० उसे एक बार में कर देता है। देखना यह है कि उसके काम करने की वुनियाद क्या है। वह कैसा काम कर रहा है—जीवन को वनाने का या विगाड़ने का ? वह मनुष्य को कोई नयी दिशा दे रहा है या लक्ष्य से भटका रहा है ? उससे वच्चों को संस्कार मिल रहे हैं या वे संस्कारहीन हो रहे हैं ? प्रश्नों की एक लम्बी शृंखला है जो आदमी को सचेत कर रही है। उसे सोचना है कि क्या इस टी० वी० की संस्कृति को भी दूसरी दिशा में मोड़ा जा सकता है ?

टी०वी० की संस्कृति शोषण की संस्कृति है। यह चुपचाप आती है और व्यक्ति को खाली कर चली जाती है। यह मनुष्य के मन में सुख-सुविधा के नये-नये साधनों के प्रति आकर्षण पैदा करती है, पर उन्हें प्राप्त करने का उपाय नहीं सुझाती। इस युग में सुख-सुविधा के सवसे बड़े साधन हैं वैज्ञानिक उपकरण। वैज्ञानिक उपकरणों के उत्पादन में अर्थ का व्यय होता है। जिन उपकरणों का उत्पादन अर्थ-शक्ति पर निर्भर है, उनकी प्राप्ति भी अर्थवल के आधार पर होगी। भारत की वेरोजगार युवापीढ़ी का अर्थ-तंत्र वहुत कमजोर होता है। एक ओर अर्थ का अभाव, दूसरी ओर आधुनिक कहलाने और आधुनिकता को जीने का आकर्षण। अभाव और आकर्षण के वीच की दूरी को पाटने के लिए युवक अपराध के रास्ते पर वढ़ता है। एक-दो वार वह थोड़ी झिझक के साथ अपराध करता है, पर जव अपराधों का सिलसिला जारी रहता है तो वे उसके जीवन के अभिन्न अंग वन जाते हैं। फिर तो अपराध किए विना उसे चैन नहीं मिलता। क्योंकि वैसा करके ही वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है, आकांक्षाओं को भरता है। इस प्रकार टी० वी० की संस्कृति से उपजी हुई विकृति मनुष्य को सुखलिप्सु और स्वार्थी वना रही है। स्वार्थी व्यक्ति अपनी सुविधा, अपनी भलाई और अपनी आकांक्षा को देखता है। मानवता और राष्ट्रीयता की वात उसके लिए वहुत वौनी हो जाती है।

जो टी० वी० मनुष्य को सांस्कृतिक मूल्यों और राष्ट्रीय मूल्यों से विमुख करता है, क्या उसकी उपयोगिता पर किसी ईमानदार वहस की जरूरत नहीं है ?

१८. दूरदर्शन एक मादक ओषधि

मनुष्य के जीवन स्तर को मापने के दो मानदण्ड हैं। प्रथम मानदण्ड है व्यक्ति का चरित्र और दूसरा मानदण्ड है उसका टिपटाप। प्रथम कोटि का मानदण्ड है उसका अंतरंग व्यक्तित्व और दूसरी कोटि में आते हैं उसका रहन-सहन, जीने के तौर तरीके आदि।

अन्तरंग मूल्यांकन में ये बातें गौण होती हैं कि व्यक्ति के पास कोठी है या नहीं, कार है या नहीं, फ्रिज है या नहीं, टी० वी० है या नहीं। वहां तो व्यक्ति के वे गुण देखे जाते हैं, जो उसकी अहिंसा-निष्ठा और सत्यनिष्ठा की गवाही देते हैं किन्तु बहिरंग सोच वाले लोग व्यक्ति के चरित्र को महत्त्व नहीं देते। वे उसके संयम और त्याग को नहीं देखते। उनकी निगाहों में वह बड़ा होता है जो आधुनिक सुख-सुविधाओं का भरपूर उपयोग करता है।

जीवन की न्यूनतम आवश्यकता है रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और चिकित्सा। मनोरंजन का दर्जा इसके बाद होना चाहिए किन्तु मनोविज्ञान ने मन को शरीर से भी पहला स्थान दे दिया। इसलिए मन को भी खुराक की जरूरत अनुभव होने लगी।

साहित्य एक ऐसा माध्यम है जो मन की जरूरतों को पूरा कर सकता है। पर आज की भागती हुई जिन्दगी में मनुष्य के पास इतना अवकाश भी नहीं कि साहित्य का ठोस अध्ययन करे, जीवन-दर्शन को समझे और अपनी प्राचीन जीवन-शैली की सुरक्षा करे। वह भागता-दौड़ता मन की भूख मिटाना चाहता है। इसके लिए टी० वी० का अविष्कार हुआ। अपने आविष्करण के समय कोई भी वस्तु अनुपयोगी नहीं होती। टी० वी० के आविष्कर्ताओं ने भी बहुत सोच-समझकर काम किया होगा। इस वैज्ञानिक माध्यम से ज्ञान-विज्ञान को विस्तार देना उनका लक्ष्य रहा होगा। संसार में कहां क्या होता है इसकी स्पष्ट जानकारी हो सके, इस दृष्टि से दूरदर्शन को महत्त्व मिला होगा। किन्तु जब मूल उद्देश्य पीछे छूट जाता है, और बहुत हल्के स्तर के उद्देश्य उससे जुड जाते है, तब उसकी उपयोगिता के बारे में संदेह खड़ा होता है।

दूरदर्शन पर प्रसारित सामग्री की समीक्षा की जाए तो ऐसा लगता है कि भारतीय परिप्रेक्ष्य में उसकी वहुत अधिक सार्थकता नहीं है। इसीलिए संचार माध्यमों के विशेषज्ञ एक निगरानी मंच स्थापित करने का सुझाव दे रहे हैं। निगरानी मंच द्वारा निरीक्षित-परीक्षित सामग्री जनता तक पहुंचेगी तो उसमें जो कुछ अवांछनीय होगा, पहले ही कट जाएगा। जो लोग अवांछित तथ्यों को काटेंगे वे टी० वी० की भूमिका पर व्यापक रूप में जन-जागरण का अभियान भी चला सकेंगे।

आज टी० वी० एक मादक ओषधि का रूप ले चुकी है। चाय पीने वाले व्यक्ति को तब तक चैन नहीं मिलता, जब तक चाय न पी ले। इसी प्रकार टी० वी० देखने वाले लोग जब तक टी० वी० नहीं देखते, उन्हें अपने जीवन में रिक्तता का अहसास होता रहता है।

कुछ लोगों पर तो यह नशा इतना चढ़ जाता है कि टी० वी० के समय उन्हें और कुछ दिखाई ही नहीं देता। खाना, सोना, पढ़ना, पढ़ाना आवश्यक काम के लिए बाहर जाना, विश्राम करना आदि सब कुछ बेमानी हो जाते हैं, जब आंखों के सामने दूरदर्शन पर कोई फिल्म आ रही हो।

दूरदर्शन ने सबसे अधिक अहित किया है विद्यार्थियों का। शिक्षा के स्तर में आई गिरावट का एक प्रमुख कारण यह भी है। आज का विद्यार्थी जितना रस टी० वी० में लेता है, अध्ययन में नहीं लेता। टी० वी० ने उसका मन इतन मोह लिया है कि वह अपने भविष्य को भी नहीं देख सकता। जो विद्यार्थी देश की महान संपत्ति है, जिन विद्यार्थियों पर देश का भविष्य निर्भर है, उनकी यह दुर्दशा देखकर मन में आता है कि ये बुझी प्रतिभाएं क्या राष्ट्र की गाड़ी को आगे खींच सकेंगी ?

विद्यार्थी नादान हो सकते हैं पर उसके माता-पिता तो नादान नहीं होते। समझदारी का चोगा धारण करने वाले वे अभिभावक घण्टों-घण्टों बच्चों के साथ बैठकर वह सब कुछ देखते रहते हैं, जिसके सम्बन्ध में वे बच्चों के सामने बात नहीं करते। रविवार का दिन छुट्टी का दिन है। उस दिन परिवार के सब सदस्य साथ बैठकर पारिवारिक जीवन को अधिक सरस एवं सुखद बनाने की बात करें तो छुट्टी का सही उपयोग हो सकता है। किन्तु उस दिन तो समय पर भोजन का भी मूड नहीं होता। ऐसी माताएं अपने बच्चों को क्या संस्कार दे पाएंगी। कुछ महिलाएं खाना बनाते समय भी टी० वी० देखने का लोभ संवरण नहीं कर सकतीं। इससे कभी-कभी उनके हाथ भी जल जाते हैं। अवकाश का दिन होने के कारण उस दिन रिश्तेदार और मित्र आदि मिलने के लिए घर आएं तो उनका आतिथ्य तो दूर रहा, हां हूं में पूरी औपचारिकता भी नहीं निभ पाती। इस प्रकार

की और भी वहुत-सी वातें हैं जो जीवन को दिशाहीन वना रही हैं। टी० वी० युग की चीज है। इसका विरोध करना हमारा उद्देश्य नहीं है। लेकिन जव तक भारतीय जीवन की जरूरतों को ध्यान में रखकर इसे अधिक सार्थक और प्रासंगिक नहीं बनाया जाएगा, यह जीवन में जहर घोलता रहेगा।

१९. दूरदर्शन की संस्कृति

भारत की बीसवीं सदी का बुढ़ापा एक ओर खून से सना हुआ है तो दूसरी ओर दूरदर्शन, कम्प्यूटर, उपग्रह आदि उपलब्धियों से भरा हुआ है। एक ओर मनुष्य में असुरक्षा के भाव पनप रहे हैं तो दूसरी ओर उसे प्राप्त सुविधाएं बढ़ती जा रही हैं। इस दोहरी मानसिकता में मनुष्य अपने आपको भूल रहा है और वैज्ञानिक उपकरणों की दासता स्वीकार कर रहा है। इन उपकरणों में एक लोकप्रिय उपकरण है दूरदर्शन। सन् १९४४ में दूरदर्शन के आविष्कर्ता जे० एल० वेअर्ड ने इसको ज्ञान विज्ञान और मनोरंजन के साधन रूप में विकसित किया होगा। पर इसके निर्माताओं ने गुण-दोष की समीक्षा किए बिना इसको जितना विस्तार दिया है, इसकी उपयोगिता के आगे कुछ प्रश्नचिह्न टंग गए हैं।

गांधी शान्ति प्रतिष्ठान के मुख पत्र 'गांधी मार्ग' ने जून १९८६ के अंक में वी० शी० गिडवानी के एक लेख का सारांश प्रकाशित किया है। उसमें दूरदर्शन संस्कृति की अच्छी शल्य-चिकित्सा की गई है। उस लेख को पढ़ने के वाद व्यक्ति की अवधारणाओं में सहज ही बदलाव आ सकता है। गिडवानीजी ने इस सन्दर्भ में हुए में हुए कुछ प्रयोगों के आधार पर अपने पाठकों को दूरदर्शन से होने वाले खतरों के प्रति सचेत किया है। उनके द्वारा दी गई सूचनाओं के आधार पर यहां कुछ तथ्यों का आकलन किया जा रहा है।

डॉ० एन० विग्मोर के अनुसार कई वैज्ञानिकों ने कहा कि दूरदर्शन का संचालन एक्स-रे की किरणों द्वारा होता है। इन किरणों से मनुष्य शरीर में कैंसर होने की संभावना है। डॉक्टर भी एक्स रे यंत्रों का उपयोग करते हैं, पर उसमें सुरक्षा की जो व्यवस्था होती है, वह दूरदर्शन सेट में नहीं होती।

डॉ० एमिल ग्रुब्बे विकिरणशास्त्र के विशेषज्ञ थे। उन्होंने अपने निधन से कुछ समय पहले कहा—'प्रत्येक घर में दूरदर्शन सेट में से निकलने वाली घातक किरणें हमारी वाट देख रही हैं।'

डॉ० एच० पी० शोएन ने एक गर्भवती कुतिया पर महीनों तक दूरदर्शन की

किरणें पड़ने दीं । कुतिया ने चार पिल्लों को जन्म दिया । उन चारों को लकवा था और उनमें से तीन अंधे थे ।

अध्यापक जॉन मैकडॉनल्ड ने एक तोते को उस कमरे मे रखा, जिसमें घण्टों तक दूरदर्शन चलता था । कई दिनों बाद उस नर तोते ने पिंजरे में तीन अण्डे दिए । दूरदर्शन की एक्स-रे किरणों ने नर को मादा बना दिया ।

एक अन्य व्यक्ति ने दो तोते पाले । उसके पिंजरे को दूरदर्शन सेट पर रखा जाता है । परिणाम यह आया कि उनके पांव खराब हो गए और उन्हें कटवाना पड़ा ।

डॉ० विग्मोर का कहना है कि बालकों में रक्त कैंसर की जो बीमारी फैली है, उसका मुख्य कारण दूरदर्शन की किरणों का प्रभाव है । सामान्यतः दूरदर्शन से आठ फीट दूर बैठकर उसे देखने की व्यवस्था है, जबकि अधिक बच्चों को उसके काफी निकट बैठते देखा जाता है । विग्मोर के अनुसार अमेरिका के वोस्टन शहर के एक ही अस्पताल में असाध्य रक्त कैंसर से पीड़ित छः सौ बालक हैं । एरीजोना राज्य के टकसन नगर और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्र में पचीस सौ बच्चे रक्त कैंसर से पीड़ित हैं ।

उक्त प्रकार की खोजों और प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लगभग सभी इलेक्ट्रोनिक उपकरणों के विकिरण शरीरगत कोशों के लिए हानिकारक हैं । दूरदर्शन सेट में तो तीव्र गति वाले इलेक्ट्रोन स्क्रीन पर टकराते हैं । टकराहट के कारण वे चारों ओर दूर-दूर तक फैल जाते हैं । इससे दूरदर्शन नहीं देखने वाले दूर बैठे व्यक्ति भी प्रभावित हो सकते हैं । इन विकिरणों से होने वाले खतरों में कैंसर, अन्धापन, पक्षाघात, पाचनतंत्र की गड़बड़ी, किसी भी अंग की विकृति और मृत्यु तक सम्मिलित है । इनका दुष्प्रभाव केवल वर्तमान तक ही सीमित नहीं है, आने वाली कई पीढ़ियां इसकी शिकार हो सकती हैं ।

डी० ई० वार्न्स और डेबिस टेयलरे ने विकिरण के खतरों की चर्चा करते हुए लिखा है—स्त्री और पुरुष में वंश बृद्धि करने वाले जो कोश हैं उनमें चौबीस—चौबीस क्रोमोसोम होते हैं । प्रत्येक क्रोमोसोम में हजारों जीन्स होते हैं । जीन्स पर एक्स-रे किरणों के पड़ने से उनसे उत्पन्न होने वाले बच्चे अल्पायु होंगे अथवा वे सन्तानोत्पत्ति की क्षमता खो बैठेंगे ।

इस वैज्ञानिक चर्चा के बाद व्यवहार के धरातल पर सोचा जाए तो भी लाभ की अपेक्षा हानि की संभावना अधिक है । इसमें एक बिन्दु है विज्ञापन । दूरदर्शन के दर्शकों की यह प्रतिक्रिया है कि विज्ञापन शिक्षा का नहीं, आमदनी का साधन है । एक ओर धूम्रपान से बढ़ रहे खतरे, दूसरी ओर सिगरेट का विज्ञापन । कहने

को तो यह कहा जाता है कि 'चुनौती' नामक सीरियल में ड्रग्स से होने वाले दुष्परिणामों की चर्चा है । पर उसे देखकर ड्रग्स छोड़ने वाले कितने हुए ? और उनका प्रयोग करने वाले कितने हुए ? यह सर्वे किया जाए तब पता चले । ज्ञात हुआ है कि अनेक किशोर, जो नशीली चीजों के नाम ही नहीं जानते थे, दूरदर्शन देखकर उनका प्रयोग करने लगे ।

यह मानवीय दुर्वलता है कि मनुष्य किसी भी घटना के अच्छे पक्ष को कम पकड़ता है और गलत प्रवाह में अधिक बहता है । बच्चे तो इतने नासमझ होते हैं कि वे विज्ञापन में देखी हुई हर चीज की मांग कर बैठते हैं । खाने-पीने, पहनने ओढ़ने अथवा किसी अन्य काम में आने वाली नयी चीज का विज्ञापन देखते ही वे उसे पाने मचल उठते हैं । ऐसी स्थिति में माता-पिता के लिए समस्या खड़ी हो जाती है ।

'वी सी आर' ने तो और भी गजब ढा दिया । पांच रुपये देकर कोई भी कैसेट किराये पर लाना और दिनभर उन्हीं को देखना । औचित्य का ध्यान दिए विना सब प्रकार की फिल्मों को लाना और बाल-बच्चों के साथ बैठकर देखना, इसमें बड़े छोटे का लिहाज सुरक्षित कैसे रहेगा ?

घर में दूरदर्शन या वीडियो चलता है तो न खाना बनाने की सुध रहती है और न खाने की । इससे आपसी रिश्तों में भी दरार पड़ सकती है । क्योंकि उन्हें देखते समय किसी का घर आना और उसके साथ बात करना भी अच्छा नहीं लगता । इस दूरदर्शन की संस्कृति पर एक गंभीर समीक्षा की अपेक्षा है । प्रबुद्ध एवं तटस्थ समीक्षक इस विषय पर ध्यान दें तो जनता को सही पथदर्शन मिल सकता है ।

२०. प्रसाधन सामग्री में निरीह पशुओं की आहें

व्यक्ति की पहचान उसके रंगरूप से नहीं होती, धन वैभव से नहीं होती, कपड़ों से नहीं होती, आभूषणों से नहीं होती और न ही होती है बड़ी-बड़ी कोठियों से। व्यक्ति की सबसे बड़ी पहचान है उसका जीवन। उसकी सबसे बड़ी संपदा है उसका चरित्र। उसका सबसे बड़ा परिचय है उसका व्यवहार। वह क्या सोचता है? क्या बोलता है और क्या करता है। इसके आधार पर उसके व्यक्तित्व को परखा जाता है। जो लोग अपने व्यवहार को अच्छा नहीं बनाते, मन को शान्त नहीं रखते और वाणी में मधुरता नहीं घोलते, वे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, किसी का मन नहीं मोह सकते। सुन्दर होना एक बात है और दीखने का प्रयत्न करना दूसरी बात है।

पता नहीं कृत्रिम सौन्दर्य के प्रति मनुष्य का आकर्षण कब से है? क्यों है? जिस प्रकार जिजीविषा प्राणी मात्र की मौलिक वृत्ति है, वैसे ही सौन्दर्यवृद्धि मनुष्य मात्र की मौलिक वृत्ति है, ऐसा प्रतीत होता है। पशु-पक्षियों के पास नैसर्गिक सौन्दर्य है तो ठीक अन्यथा वे किसी सौन्दर्य प्रसाधन का उपयोग नहीं करते। शायद सौन्दर्य और असौन्दर्य को लेकर उनके मन में कोई प्रश्न भी नहीं उठता होगा। पर मनुष्य इस विषय में कुछ अधिक ही जागरुक है।

कुछ व्यक्तियों को यह बीमारी होती है कि वे अतिरिक्त रूप से सुन्दर दिखाई देना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या अधिक हो सकती है। अथवा यों मानना चाहिए कि अधिसंख्यक महिलाएं कृत्रिम सौन्दर्य की प्रतिस्पर्द्धा में अपनी भागीदारी रखती हैं। प्रकृति द्वारा प्राप्त सहज सौन्दर्य को भी वे कृत्रिम प्रसाधनों के रंग में डुबोकर अधिक सुन्दर दीखने का व्यामोह पाल रही हैं। वास्तविकता यह है कि कृत्रिमता सहजता पर आवरण डालती है और भद्देपन को पनपने का अवसर देती है।

एक ओर देश की आर्थिक स्थिति कमजोर है। देश में गरीबी और भुखमरी

बढ़ रही है तो दूसरी ओर प्रसाधन सामग्री पर इतना व्यय होता है। आर्थिक और शारीरिक दोनों दृष्टियों से नुकसानदेह कृत्रिम प्रसाधनों के आयात पर प्रतिबन्ध लगने से कई समस्याओं का समाधान हो सकता है। प्रतिबन्ध लगाने की बात सामाजिक धरातल पर मूल्यवान हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो कोई भी प्रतिबंधित प्रवृत्ति तब तक नहीं रुक सकती, जब तक मनुष्य का मन न बदले। खुले रूप में जिन वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, प्रतिबन्ध लगने के बाद नये रास्ते खोजे जाएंगे। क्योंकि जब तक आदमी का हृदय-परिवर्तन नहीं होता है, वह प्रकारान्तर से अपनी आकांक्षा को पूरी करता है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता को सही स्थिति की अवगति मिले और वह अपने आप प्रसाधन-सामग्री के उपयोग से बचे।

प्रसाधन-सामग्री के उपयोग से राष्ट्र को आर्थिक और शरीरिक अलाभ झेलना ही पड़ता है। उसके साथ नैतिक मूल्यों का भी भारी पतन होता है। इस दृष्टि से प्रसाधन-सामग्री में कितने मासूम और निरीह मूक पशु-पक्षियों की आहें घुली हुई हैं, इस तथ्य को बहुत लोग जानते हैं। बन्दर, खरगोश, चूहे, बिज्जू, बिल्ली, सूअर, बीवर आदि पशुओं की कराह एक बार भी सुन ले तो शायद कोई भी व्यक्ति मानवता को ताक पर रखकर स्वयं को सुन्दर दिखाने का प्रयत्न न करें। अतिरिक्त सौन्दर्य पाने के लिए अथवा अपने भद्देपन को अवतरित करने के लिए कृत्रिम प्रसाधनों का उपयोग होता है, पर यह एक प्रकार से आयातित संस्कृति को स्वीकृत करने और प्रतिष्ठित करने की नादानी है।

किसी को विश्वास हो या न हो, पर यह विवरण सही है कि बिज्जू जैसे नाजुक पशुओं को बेंत से पीटने पर उनके शरीर से एक तरल पदार्थ का स्राव होता है, जो परिष्कृत होकर सेंट के रूप में उपलब्ध होता है। कुछ लोगों का मनस्तोष कितने बिज्जुओं के लिए जानलेवा बन रहा है। जीवित सांप की केंचुल को उतारकर फैशन सामग्री में उसका उपयोग किया जाता है। रोएंदार बालों वाले पशुओं को कितनी निर्ममता से मारा जाता है, तब किसी के लिए एक रोएंदार कोट या टोप बनती है। शैम्पू का परीक्षण करने के लिए खरगोश जैसे मासूम प्राणियों को अन्धा कर दिया जाता है। कई पशुओं की आंखों और दिल को पीसकर कुछ चीजें बनाई जाती हैं। धार्मिक एवं मानवीय दृष्टि वाले व्यक्तियों को भी ऐसे हादसों पर कोई संवेदन न हो तो क्या राक्षसी मनोवृत्ति वाले लोग इस विषय में चिन्तन करेंगे?

कुछ वैज्ञानिक नजरिए के लोग ऐसे तथ्यों का सही आकलन कर जन-जन तक उसे पहुंचाएं तो शायद लोगों की दृष्टि बदल सकती है। संभव है हजारों-लाखों लोग प्रसाधान सामग्री और फैशनपरस्ती की वस्तुओं के नाम पर होने वाली

क्रूर वारदातों से परिचित ही न हों। ऐसी स्थिति में उनकी मानसिकता बदलेगी भी कैसे ? कुछ लोग बीड़ा भी उठाएं, एक वातावरण बनाएं और हिंसा निष्पन्न सामग्री के सामने दूसरा विकल्प प्रस्तुत करें तो आधुनिकतम प्रसाधनों की बाढ़ को रोका जा सकता है। चारित्रिक सौन्दर्य के प्रति आस्था जगाने और उसका मूल्यांकन करने से इस बीमारी का उपचार हो सके तो इस दिशा में भी एक सार्थक प्रयत्न करना चाहिए।

२१. कला और संस्कृति का सृजन

किसी राष्ट्र के जीवन में झांकने के लिए वातायन होते हैं उनमें एक-वातायन है साहित्य । साहित्य का स्रष्टा केवल साहित्य ही नहीं रचता है । वह उस देश की कला, संस्कृति और मानवीय मूल्यों का भी सर्जक होता है । वह समकालीन यथार्थ को देखता है और अपने साहित्य में उतारता है । उसकी मानसिक प्रक्रिया निरंतर सृजन के लिए समर्पित रहती है । साहित्यकार की रचनात्मक आलोचना राष्ट्र को संवारती है, समाज को दिशा देती है और व्यक्ति को नई सोच देती है । साहित्यकार सत्ता के सिंहासन पर आसीन नहीं होता फिर भी उसकी महत्ता किसी सम्राट् या प्रशासक से कम नहीं होती । शासक के पास दण्ड होता है, कानून होता है । जबकि साहित्यकार के पास लेखनी होती है और मौलिक चिन्तन । उसकी अपनी मस्ती होती है और अपनी दृष्टि होती है । वह जो कुछ देखता है, वही देख सकता है। अपनी दृष्टि को वह युग के साथ जोड़ता है और युगीन सत्य के रूप में उसे अभिव्यक्ति देता है । कभी-कभी उसकी लेखनी इतना बड़ा विस्फोट कर देती है, जितना बड़ा विस्फोट किसी अणुबम से भी नहीं हो पाता । बशर्ते कि साहित्यकार सही अर्थ में साहित्यकार हो ।

आज का युग मिश्रण का युग है । वस्तु में मिलावट, संबंधों में मिलावट, विचारों में मिलावट, व्यक्तित्व में मिलावट और तो क्या धर्म और भगवान में भी मिलावट । ऐसी स्थिति में साहित्यकार निखालिस कैसे रह सकता है ? वह भी हवा के साथ बहता है, नकारात्मक दृष्टि से देखता है, कुंठा पालता है, वितृष्णा के स्वर में बोलता है और यह सोचता है कि उसका स्वार्थ आहत न हो जाए, खण्डित न हो जाए । ऐसी मिलावटी दूनिया में मैंने एक व्यक्ति को देखा, निकटता से देखा, लम्बे समय तक देखा और परखा तो लगा, वह इन सबका अपवाद है । उस व्यक्ति की पहचान है जैनेन्द्र कुमार, जो अपने संपूर्ण अस्तित्व को विराट् में विलीन कर विराट् सत्ता का प्रतीक बन गया ।

श्री जैनेन्द्र कुमार अपने जीवन में कौन-सी वर्षग्रन्थि डालकर साहित्यकार बने,

उसके समवयस्क व्यक्ति जानते होंगे। मैंने उनको जब से देखा, इसी रूप में देखा। वे साहित्यसृजन के लिए किसी निर्जन एकान्त में नहीं बैठे। लेखन और चिन्तन के लिए उनको किसी मूड की प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ी वे सहजभाव से जो कुछ सोचते, बोलते, लिखते और लिखाते, वह मौलिक होता तथा साहित्य जगत् की अनमोल धरोहर बन जाता।

श्री जैनेन्द्र कुमार का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी था। वे व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठे हुए थे। जो बात उन्हें अच्छी नहीं लगती, उस पर वे खुली चोट करते थे। किन्तु खूलेपन में भी वे व्यक्तिगत वैमनस्य से दूर रहते थे। अहिंसा में उनकी गहरी निष्ठा थी। महावीर और गांधी के देश में अहिंसा के तेज को मन्द पड़ते देख उन्हें बहुत पीड़ा होती थी। वे कहते थे कि हिंसा के क्षेत्र में जितना काम हुआ है, हो रहा है, उसकी तुलना में अहिंसा कुछ अधिक ही उपेक्षित रही है। उनकी इसी पीड़ा से 'अहिंसा सार्वभौम' का प्रादुर्भाव हुआ। वे इस दृष्टि से कुछ करने के लिए उत्सुक थे। उन्होंने सुनियोजित रूपरेखा के साथ 'अहिंसा सार्वभौम का' कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसके अनुसार वे अहिंसा के क्षेत्र में शोध, प्रशिक्षण और प्रयोग के द्वारा उसे तेजस्वी बनाकर हिंसा के मुकाबले में खड़ी करना चाहते थे। पर नियति को कुछ और ही मान्य था। अचानक वे अस्वस्थ हो गए। उनकी वाणी और लेखनी निस्पन्द हो गई। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में अहिंसा को प्रतिष्ठित करने का उनका सपना सचमुच एक सपना ही बनकर रह गया। जो अहिंसानिष्ठ लोग बचे हैं, उनका दायित्व है कि वे उस स्वप्न को सत्य में बदलकर श्री जैनेन्द्रकुमार की अतृप्त आकांक्षा को पूरी करें।

जैनेन्द्र कुमारजी के व्यक्तित्व का एक विशिष्ट अंग था उनका स्वाभिमान। अहं की चेतना उन पर कभी हावी नहीं हो सकी तो उन्होंने किसी भी स्थिति में आत्मगौरव को गिरने नहीं दिया। आत्मसम्मान की सुरक्षा के लिए उन्होंने बड़ी से बड़ी उपलब्धि से मुंह मोड़ लिया। किसी भी प्रकार का आर्थिक प्रलोभन उनको अपने सिद्धान्तों से विचलित नहीं कर सका। उनकी धृति बेजोड़ थी। उनकी आस्था सात्विक जीवन में थी। वे कभी बैठकर ध्यान नहीं करते थे। पर कभी-कभी ऐसा लगता मानों वे ध्यान की गहराई में उतर गए हैं। उनके विचारों में सतहीपन नहीं था उन जैसे गंभीर विचारक ही साहित्य और कला के साथ धर्म एवं अध्यात्म को जोड़ने में निष्णात हो सकता है।

श्री जैनेन्द्र कुमार मूर्धन्य साहित्यकार ही नहीं, उच्चकोटि के कथाकार और उपन्यासकार भी थे। उनके उपन्यासों की आलोचना भी बहुत होती थी। मैं इसे शुभ मानता हूं। आलोचना उसी की होती है, जिसमें अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता

है। आलोचना न हो तो समझना चाहिए कि जीवंतता में कुछ कमी है। एक कवि ने लिखा है–

> सज्जन जाके सौ नहीं, दूश्मन नहीं पचास।
> तिण जन को जननी जणी, भार मुइ नौ मास ॥

अपनी आलोचना सुनकर, पढ़कर वे कभी रुष्ट, आक्रुष्ट या उत्तेजित नहीं होते थे। इसी गुण से वे समत्व का जीवन जी सके और तनाव से मुक्त रह सके। मेरा स्वभाव ऐसा है कि मैं झटपट किसी व्यक्ति से प्रभावित नहीं होता। पर जैनेन्द्रजी का प्रभाव मेरे मन पर आज भी है यद्यपि हमारा प्रथम मिलन सार्थक नहीं हुआ। लगभग सैंतालीस वर्ष पूर्व सरदारशहर में पहली बार मैंने उनको देखा। वह देखने तक सीमित रहा। उस प्रसंग के आठ वर्ष बाद दिल्ली मे अणुव्रत के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर हमारी जो मुलाकात हुई, वह हमें जोड़ने वाली थी। उसके वाद हमारी निकटता उत्तरोतर वृद्धिगत होती रही। विगत वहुत वर्षों से ऐसा कोई वर्ष नहीं बीता, जब वे मिलने के लिए नहीं आए हों। अणुव्रत के साथ उनका गहरा लगाव हो गया। वे स्वयं अणुव्रती बने, अणुव्रत समिति के अध्यक्ष वने, अणुव्रत प्रवक्ता बने और अणुव्रत पुरस्कार से सम्मानित हुए। अणुव्रती कार्यकर्त्ता सुगनचन्दजी आंचलिया, जयचन्दलालजी दफ्तरी, देवेन्द्र कुमार कर्णावट आदि के साथ उनका पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। अणुव्रत को उनसे वहुत आशाएं थीं। उनके चले जाने से साहित्यजगत् की अपूरणीय क्षति हुई ही है, आध्यात्मिक साहित्यकारों की पंक्ति में भी एक बार तो शून्य-सा उभर आया है। उस शून्य को भरने का प्रयास ही किसी साहित्यकार की सच्ची स्मृति हो सकती है। जैनेन्द्रजी जिस युग के सक्षम प्रतिनिधि बनकर जीए, वह युग उनके कर्तृत्व के सूरज को कभी छिपने नहीं देगा, ऐसा विश्वास है।

२२. युद्ध समस्या है, समाधान नहीं

संयुक्त राष्ट्र महासभा की घोषणा के अनुसार सन् १९८८ का वर्ष परमाणु निरस्त्रीकरण का वर्ष है। इस वर्ष की शुरुआत से पहले ही ८ दिसम्बर १९८७ को वाशिंगटन में अमेरीका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन और सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचेव के बीच एक ऐतहासिक समझौता हो गया। उस समझौते के अनुसार अमेरीका और सोवियत संघ ५०० से ५५०० किलोमीटर की दूरी तक मार करने वाले सभी प्रेक्षेपास्त्रों को नष्ट कर देंगे। यह समझौता सूर्योदय से कुछ समय पहले आकाश में फैलने वाले उजाले के समान सबको राहत देने वाला था।

१ जून १९८८ से वह समझौता लागू हो गया। अमेरीका और सोवयत संघ द्वारा संयुक्त रूप में उठाए गए इस कदम का स्वागत विश्व के सभी देशों ने किया।

८ अगस्त १९८८ को संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक नयी घोषणा करके ईरान और ईराक के बीच चल रही आठ वर्षों की लड़ाई समाप्त करने का दावा किया है। युद्धविराम के लिए २० अगस्त का दिन तय किया गया। पर समाचार पत्रों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा के तत्काल बाद दोनों देशों की आक्रमक मुद्रा बदल गई। उनकी सामरिक गतिविधियां शिथिल हो गईं। ईरान और ईराक की यह लड़ाई २० सितम्बर १९८० को शुरू हुई थी। तब से अब तक आठ साल के खुले संघर्ष में दस लाख लोगों के मारे जाने की संभावना की गई है। दोनों देशों के एक लाख सैनिक युद्धबन्दी बने हुए हैं। ऊपर से लड़ाई समाप्त हो गई। इसे भावनात्मक स्तर पर समाप्त करने के लिए २५ अगस्त से जेनेवा में दोनों के बीच सीधी बातचीत होगी। इस वार्तालाप में संयुक्त राष्ट्र संघ की अहम भूमिका रहेगी, ऐसी चर्चा है।

ईरान और ईराक के इस युद्धविराम का भी उन सभी देशों ने स्वागत किया है, जो मानवीय मूल्यों में विश्वास रखते हैं। यह बात अब निर्विवाद रूप से प्रमाणित

हो रही है कि कोई भी देश अन्तरंग में युद्ध नहीं चाहता क्योंकि युद्ध से कोई एक ही पीढ़ी नहीं, आने वाली कई पीढ़ियां प्रभावित होती हैं। सन् १९४५ में दूसरे विश्वयुद्ध के बीच सूर्योदय के देश जापान के दो प्रमुख नगर–हीरोशिमा और नागासाकी पर अमेरीका द्वारा गिराए गए अणुवमों का हादसा अव भी लोग भूले नहीं हैं।

मानवता के इतिहास का वह सवसे काला दिन था, जव लाखों लोगों को वीभत्स रूप से मौत के घाट उतारा गया। इस युद्ध में पूरी तरह से टूटा हुआ जापान अपनी लगन और पुरुषार्थ से बहुत जल्दी संभल गया। औद्योगिक दृष्टि से उसने बहुत विकास कर लिया, पर वे लाखों व्यक्ति जो बेमौत मारे गए, कहां से लौटेंगे?

युद्ध के भयंकर दुष्परिणामों को देखने और भोगने के वाद भी मनुष्य यदा-कदा युद्ध पर आमादा क्यों हो जाता है? यह एक चिरन्तन प्रश्न है। आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक, किसी भी तरह के कारण हों, युद्ध मानव जाति के विनाश का रास्ता है। युद्ध के सहारे कभी समस्या का समाधान हुआ हो, उदाहरण नहीं मिलता। एक-दूसरे देश की सीमाओं में घूसपैठ करने वाले युद्ध के द्वारा थोड़ी-वहुत भूमि भले ही हथिया लें, पर वे अपने देश के लिए ऐसा सिरदर्द मोल ले लेते हैं, जिसे सदियों तक भोगना पड़ता है। पारस्परिक विश्वास, सद्भावना और सह-अस्तित्व जैसे मूल्यों को प्रतिष्ठित करके ही मनुष्य शान्ति से जी सकता है।

इस वर्ष का 'नेहरू शान्ति पुरस्कार' संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव जेवियर पेरेज डी क्वेया को दिया गया। श्री क्वेया ने विश्व में शान्ति और सद्भावना वढ़ाने की दिशा में जो काम किया और कर रहे हैं, उसी का मूल्यांकन करके उन्हें इस पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। संसार आज युद्ध और हिंसा से ऊब चुका है। इसलिए ऐसे प्रयत्नों के समर्थन में सहमत हो जाता है। युद्ध करने वाले और युद्ध को प्रोत्साहन देने वाले किसी भी व्यक्ति को आज तक ऐसा कोई पुरस्कार नहीं मिला, जो उसे गौरवान्वित कर सके। क्योंकि युद्ध वरवादी है, अशान्ति है, अस्थिरता है और जान-माल की भारी तवाही है। इस तवाही से वचने के लिए समूचे विश्व को अहिंसा की शरण में जाना होगा।

विश्व में हिंसा रहित और परमाणु-शस्त्र विहीन समाज-संरचना के लिए प्रतिवद्ध राष्ट्रों में भारत भी एक है। भारतीय संस्कृति में अहिंसा, अनेकान्त और भाईचारे की पुट है। अहिंसा और अनेकान्त-प्रधान जीवन शैली में हिंसा का हस्तक्षेप कभी काम्य नहीं होता। फिर भी जब तक हिंसा और अशान्ति के कारण मौजूद हैं, वड़े या छोटे स्तर पर युद्ध की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्व

युद्ध की तो कल्पना ही भयावह है, गृहयुद्ध से भी देश का कितना अहित हो रहा है, सब जानते हैं। युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त मनुष्य अब भी अपने मूल संस्कारों में लौट आए, अनर्थ हिंसा से बचता रहे और विश्व-शांति के लिए किए जा रहे प्रयत्नों में भागीदार बन जाए तो हिंसा की आग में झुलसती मानव जाति को त्राण मिल सकता है।

२३. हरिजनों का मंदिर-प्रवेश

'हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं है। उनमें मन्दिर जाने की धार्मिक योग्यता ही नहीं है। वे केवल मन्दिर का कलश देख सकते हैं। अन्दर जाने की जरूरत भी नहीं है। मन्दिर में पूजा-पाठ का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है। ब्रह्मण कर्म से और जन्म से, हर तरह से हरिजनों से श्रेष्ठ है।' ये विचार है एक धर्माचार्य के। जिस दिन ये विचार पढ़े, मुझे लगा कि मानवीय विश्वास की किरण धुंधला गई है। भारत की धरती पर जनमने और जीने वाले हर व्यक्ति को पूजा-उपासना की खुली छूट है। किसी की धार्मिक आस्था में खलल डालना असंवैधानिक है। ऐसी स्थिति में जातपांत को लेकर समाज में विग्रह उत्पन्न करने वाले ये मन्तव्य क्या हरिजनों के मौलिक अधिकारों का हनन नहीं करते हैं?

किसी परतंत्र राष्ट्र में राजनैतिक विवशता के साये में ऐसे दुराग्रह पल सकते हैं। पर हिन्दुस्तान एक स्वतंत्र देश है। स्वतंत्रता प्राप्ति के चालीस वर्ष वाद भी जिस देश के वायु में छुआछूत का धुआं इतना सघन है, उस देश की जनता क्या कभी सुख से सांस ले सकेगी ? विश्व स्वास्थ्य संगठन के सदस्य विश्व में बढ़ते हुए प्रदूषण से परेशान हैं। धुआं, शोर, भीड़, कलकारखानों से निष्कासित दूषित जल, जंगलों का विनाश आदि अनेक घटक हैं, जो प्रदूषण की इकाई को पोषण दे रहे हैं। यह प्रदूषण मनुष्य के लिए घातक है तो क्या अवधारणा का प्रदूषण उसे नुकसान नहीं पहुंचाता ? जातिवाद, वर्णवाद, रंगभेद, अस्पृश्यता आदि का आग्रह क्या वातावरण को दूषित नहीं कर रहा है ?

जातिवाद अतात्त्विक है। छुआछूत मानव समाज के लिए कलंक है। ईश्वरवाद शाश्वत सत्य नहीं है। देश का प्रवुद्ध वर्ग इन सव बातों को जानता है। वह यह भी समझता है कि पुराने मूल्यों के चौखटे में ऐसा कोई भी सिद्धान्त फिट नहीं हो सकेगा, जिसे आज की प्रवुद्ध युवापीढ़ी अस्वीकृत कर रही है। फिर भी एक धर्मगुरु, जिनका काम लाखों लोगों को पथदर्शन देना है, कुछ असामयिक बातों को लेकर समाज में बावेला खड़ा करें, इसमें क्या औचित्य है ? माना कि उनकी अपनी अवधारणा

ऐसी है, पर वे इसे पूरे समाज या देश पर आरोपित कैसे कर सकते हैं ? हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश पर रोक लगाने की वकालत करने वालों ने एक दलील यह दी है कि चपरासी का काम चपरासी और प्रिंसिपल का काम प्रिंसिपल करेगा। चपरासी प्रिंसिपल का काम नहीं कर सकता यह बात सही है। किन्तु चपरासी प्रिंसिपल बन ही नहीं सकता, यह ध्रुववाद किस आधार पर टिकेगा ? चपरासी का काम करने वाला व्यक्ति भी अपनी लगन और मेहनत से प्रिंसिपल की योग्यता पा सकता है। उच्च पदों पर कार्यरत अनेक व्यक्ति अपने बचपन में बहुत साधारण जीवन जीने वालों में से हैं। अनेक महापुरुष साधारण परिवेश में जीकर असाधारण बने हैं। ऐसी स्थिति में हरिजन-कुल में जन्म लेना ही किसी व्यक्ति या वर्ग की धार्मिकता में आड़े आए, यह बात समझ में नहीं आती।

किसी जाति या केवल क्रियाकाण्डों के आधार पर कोई धर्म चल सकता है, यह सिद्धान्त गलत है। इसमे धर्म के मूल पाये को ही खिसका दिया गया है। धर्म का पाया है चरित्र। चरित्र को गौण कर क्रियाकाण्डों को प्रमुखता देने वाले ही कह सकते हैं कि महाजन सब हरिजनों से श्रेष्ठ हैं। एक ओर धर्म की श्रेष्ठता के नारे, दूसरी ओर उसके प्रति आस्था रखने वाले लोगों का खुला तिरस्कार, ऐसी विवादास्पद स्थिति में कोई भी हरिजन ऐसे धर्म से चिपककर क्यों रहेगा ? समाज में खुली प्रताड़ना से दुःखी होकर कोई हरिजन धर्म परिवर्तन की बात करता है तो समाज में तहलका मच जाता है। जब तक धर्मगुरुओं का ऐसा दृष्टिकोण रहेगा, धर्म और समाज की छवि उजली नहीं हो सकती।

हम समाज में जीते हैं। इसलिए समाज की स्थितियों से सर्वथा अनभिज्ञ भी नहीं रह सकते। जब भारत के संविधान में छुआछूत की भावना को अपराध माना गया है, तब इस भावना को प्रोत्साहन देने वाले वक्तव्यों से तनाव क्यों नहीं बढ़ेगा ? इस चिन्तन के साथ हमने अणुव्रत के माध्यम से अस्पृश्यता निवारण का अभियान सुना और उनकी समस्याओं को समझने का प्रयास किया। हरिजनों को हमारे धर्म स्थानों और धार्मिक सभाओं में प्रवेश मिला। उनके लिए विशेष कार्यक्रम आयोजित किए गए। हमने उनके शिविर लिये और अपेक्षा होने पर उनके मकानों में प्रवास भी किया। हमारे समाज में छुआछूत या धर्म-स्थान में हरिजनों के प्रवेश एवं धर्मोपासना को लेकर कोई समस्या नहीं है।

मानवीय दृष्टि से हरिजन और महाजन में कोई अन्तर नहीं है। धर्म का मूलभूत समबन्ध व्यक्ति के जीवन और संस्कारों से है। पर वह सामाजिक भागीदारी का भी एक अंग है। अनुसूचित जाति के लोगों को इस भागीदारी से वंचित रखा गया तो समाज स्वस्थ और समुन्नत समाज नहीं बन सकेगा।

२४. सती-प्रथा आत्महत्या है

आज इक्कीसवीं सदी की 'सिद्धश्री' लिखने का समय है। ऐसे महत्त्वपूर्ण समय में पीछे लौटना और शताब्दियों पूर्व के इतिहास को दोहराना रूढ़ मानसिकता का प्रतीक है। अभी ८ सितम्बर १९८७ को सीकर जिले के दिवराला गांव में क्या हुआ ? शायद किसी से अज्ञात नहीं है। समाचार पत्रों में वह घटना सुर्खियों में है। राजनैतिक और सामाजिक संगठनों ने उसको अपने-अपने नजरिए से देखा है। उस सन्दर्भ में ज्वलंत प्रश्न यह है कि अठारह वर्षीय युवती रूपकंवर का अपने पति के साथ आमदाह करना क्या है ? वह आत्महत्या है ? मानसिक दासता है ? सामाजिक दबाव है ? रूढ़ परंपरा है ? अथवा शौर्य का प्रतीक है ?

लोगों का चिन्तन और रूचि किसी एक ही सांचे में ढली हुई नहीं होती। इस दृष्टि से किसी भी घटना के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होती। कुछ लोग इसके समर्थन में सक्रिय भूमिका निभाते हैं तो कुछ लोग खुलकर उसका विरोध करते हैं। सती-प्रथा करते हैं। सती-प्रथा के सन्दर्भ में भी कुछ ऐसा ही हो रहा है। कुछ व्यक्तियों का अभिमत है कि जो महिला सती होती है, उस पर सत चढ़ता है। जब वह अपने पति को गोद में लिटाकर चिता पर बैठती है तब अपने आप आग लग जाती है। इस अभिमत की पुष्टि में कोई प्रमाण तो है नहीं। किंवदन्ती के रूप में यह बात आगे से आगे बढ़ती है और कुछ प्रतिशत लोग दिग्भ्रान्त हो जाते हैं।

सती-प्रथा कब शुरू हुई ? किन परिस्थितियों में शुरू हुई ? प्रामाणिक खोज का विषय है। एक समय आया, जब इसके विरोध में प्रभावी आवाज उठी। राजा राममोहन राय उन लोगों में अगुवा थे, जिन्होंने साहस के साथ इस प्रथा को समाप्त करने का बीड़ा उठाया। कुछ अन्य सुधारवादी व्यक्तियों का स्वर मुखर हुआ। यह बात बहुत लोगों को अच्छी लगी। फलतः उनके प्रयत्न और काललब्धि के परिपाक से सती-प्रथा समाप्तप्राय हो गई। कुछ लोगों को कब्रिस्तान में दफनाए हुए मुर्दे उखाड़ने की हॉबी होती है। ऐसे लोगों के प्रोत्साहन से कभी-कभी इस प्रथा ने फिर सिर उठाया। उसका ताजा उदाहरण दिवराला का प्रसंग है। जिस समय यह सब हुआ, राजस्थान में ही नहीं, पूरे देश में सन्नाटा छाया हुआ था। घटना

घटित हो गई। उसके बाद तूफान-सा आ गया। आज की प्रमुख चर्चाओं में एक विषय सतीकाण्ड है।

इस विषय को लेकर राजस्थान की प्रसिद्ध विदुषी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत मेरे पास आई। सती-प्रथा के औचित्य को लेकर प्रश्न पूछा। मैंने कहा—आवेश में कोई भी काम किया जाता है, उसका औचित्य निर्विवाद नहीं रहता। सती होने की प्रक्रिया बिना आवेश घटित हो, यह संभव नहीं लगता।

इस प्रसंग में कुछ प्रश्न और उपस्थित होते हैं, महिला सती होती है, उसे महत्त्व दिया जाता है। किसी पुरुष ने आज तक ऐसा क्यों नहीं किया? दाम्पत्य सम्बन्ध तो द्विष्ठ होता है, स्त्री के लिए पतिव्रता होना और पति के साथ जलना गौरव की बात है, तो पुरुष के लिए पत्नीव्रत का आदर्श कहां चला जाता है? उसके मन में पत्नी के साथ जलने की भावना क्यों नहीं जगती? पति की मृत्यु के बाद स्त्री विधवा होती है तो क्या पत्नी की मृत्यु के बाद पुरुष विधुर नहीं होता? स्त्री के लिए पति परमेश्वर है तो पुरुष के लिए पत्नी को परमेश्वर मानने में कौन-सी बाधा है। इन प्रश्नों के सन्दर्भ में चिन्तन किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि सती-प्रथा धार्मिक दृष्टि से तो क्या, मानवीय दृष्टि से भी उचित नहीं है। यह दासता की मानसिकता है। समाज की अस्वस्थ परम्परा है। आत्महत्या है और महिला समाज का शोषण है।

मेरे विचार सुनकर लक्ष्मीकुमारीजी बोली—'आचार्यश्री! आप सती-प्रथा को आत्महत्या बताते हैं। ऐसी स्थिति में जीवित समाधि, जापान में की जाने वाली हाराकिरी और जैनों का संथारा (अनशन) क्या आत्महत्या नहीं है?' मैं पहले ही जानता था कि मेरे सामने ऐसा प्रश्न आ सकता है। मैंने उस प्रश्न के उत्तर में कहा—जीवित समाधि हो, हाराकिरी हो या संथारा हो, आवेश की स्थिति में किया जाने वाला हर उपक्रम आत्महत्या है। जहां जीवन समाप्त करने का उद्देश्य है, वहां आवेश, निराशा, विवशता, असफलता, भय आदि की प्रेरणा काम करती है। इस प्रेरणा से किए संथारे को जैनधर्म में कोई मान्यता प्राप्त नहीं है।

यह बात सही है कि जैनों में संथारा एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान माना गया है। पर इस अनुष्ठान को स्वीकार करने की एक निश्चित विधि है। जैन आगमों में बताया गया है—

लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी॥

जब तक शरीर का उपयोग है, जब तक इससे लाभ मिलता है, नये-नये गुणों की उपलब्धि होती है तब तक जीवन को पोषण दें। जब ऐसा अनुभव हो कि इस शरीर से ध्यान, स्वाध्याय, साधना, सेवा, श्रम आदि कुछ भी नहीं होता है, तब विवेकपूर्वक चिन्तन कर शरीर को छोड़ दें। संथारा स्वीकार करने के बाद

शरीर को पोषण नहीं मिलता, पर इसमें मृत्यु की अभिलाषा को सर्वथा त्याज्य माना गया है। जीवन की आशा और मृत्यु का भय–इन दोनों स्थितियों से ऊपर उठकर आत्मलीनता की स्थित का विकास करना ही वास्तव में संथारा है। ऐसा संथारा कभी आत्महत्या नहीं हो सकता।

प्रश्न हो सकता है कि संथारा आवेश की स्थिति में भले ही न हो, पर उसके साथ पूजा-प्रतिष्ठा एवं ख्याति की चाह हो सकती है; किन्तु जैन शस्त्रों में संथारे की जो प्रक्रिया बताई गई है, उसमें पूजा-प्रतिष्ठा तो बहुत पीछे छूट जाती है। जिस उपक्रम में जीवन और मृत्यु की अभिलाषा भी काम्य नहीं है, उसमें पूजा-प्रतिष्ठा को स्थान कैसे मिलेगा? दूसरी बात सती बनने वाली के नाम पर मंदिर बनता है, मेला भरता है और भी न जाने क्या-क्या होता है। जबकि संथारे के बाद ऐसा कुछ भी नहीं होता।

कुछ लोगों का कहना है कि सती-प्रथा को जनता का समर्थन प्राप्त है। जनता तो 'भेड़ चाल' चलती है। वह औचित्य-अनौचित्य पर ध्यान नहीं देती, प्रवाह में बहती है। अभी सूर्यग्रहण के अवसर परा लाखों लोगों ने तालाब में स्नान किया। क्यों? आत्मा की पवित्रता के लिए। उन लाखों लोगों ने शरीर का मल विसर्जन कर कुरुक्षेत्र के तालाब के पानी को प्रदूषित नहीं किया? उस पानी से आत्मा को पवित्र बनाने की कल्पना कैसी है? क्या ये प्रश्न चिन्तनीय नहीं हैं? मैं जन-भावना में हिंसा उभारने के पक्ष में नहीं हूं। पर इतना जरूर मानता हूं कि जन-भावना को मोड़ दिया जा सकता है। राजस्थान सरकार सती-प्रथा के विरोध में एक विशेष विधेयक पारित करने की बात सोच रही है। विधेयक की बात भी बहुत आसानी से मान्य हो सकती है, यदि जनता का हृदय-परिवर्तन हो जाए। इस दृष्टि से जन भावना को मोड़ने के लिए एक सुनियोजित अभियान चलाने की अपेक्षा है।

इस समग्र प्रसंग के उपसंहार में मैं पुनः उसी बात पर लौटकर आता हूं कि अगर कोई व्यक्ति आवेश में आकर संथारा करता है ता वह सही अर्थ में संथारा ही नहीं है। ऐसे संथारे को आत्महत्या कहने में कोई कठिनाई नहीं है। सती होना अत्यधिक भावावेश की परिणति है। उस समय स्त्री के सिर पर जनून-सा सवार हो जाता है, इसलिए वह उचित-अनुचित का निर्णय नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में सती-प्रथा को आत्महत्या से अलग कोई दूसरा दर्जा नहीं दिया जा सकता। इस समूचे प्रकरण का निष्कर्ष इतना ही है कि आत्मदाह का यह उपक्रम सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक किसी भी दृष्टि से वांछनीय नहीं है। इस सम्वन्ध में महिलाओं की चेतना को जागृत करना चाहिए और ऐसी रूढ़ परंपराओं का अहिंसक तरीके से प्रतिकार करना चाहिए।

२५. समस्या का मूल : परिग्रह चेतना

वर्तमान दशक में जीने वाले आदमी का ध्यान २१वीं सदी पर केन्द्रित हो रहा है। यत्र-तत्र अगली सदी में प्रवेश की चर्चा है और उसके लिए तैयारियां भी शुरू हो गई हैं। समझ में नहीं आया कि २१वीं सदी क्या है ? उसके प्रति इतना आकर्षण क्यों है ? विक्रम संवत् को आधार मान कर देखा जाए तो २१वीं सदी में प्रवेश का यह पांचवां दशक चल रहा है। भगवान महावीर और बुद्ध के निर्वाण से समय को मापा जाए तो पचीस सदियां पूरी हो चुकी हैं, २६वीं सदी में प्रवेश हो चुका है। शक संवत् के अनुसार यह बीसवीं सदी का आठवां वर्ष ही है। वर्तमान में जो चर्चा है, उसका संबंध ईस्वी सन् से है। इस हिसाब से केवल चौदह वर्षों के बाद २१वीं सदी का स्वागत करने के लिए तैयार रहना है।

चौदह-पन्द्रह वर्षों का काल कोई बहुत बड़ा काल-खंड नहीं होता। इसलिए कुछ लोग तो नये युग में प्रवेश करने की बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहे हैं। पर हमें सोचना यह है कि किसी सदी में प्रवेश करने से होगा क्या ? आज हमारा जो चिन्तन २१वीं सदी में प्रवेश की तैयारियों पर केन्द्रित हो गया है, क्या उसे वहां से हटाकर इस बिन्दु पर नहीं ला सकते कि हमारा 'कल' का प्रवेश कैसे हो ?

हम एक साथ अधिक क्षणों को कभी भी नहीं जी सकते। हमारा आज का दिन और उसका वर्तमान क्षण ठीक से जीया जा रहा है तो कल का प्रवेश निश्चित रूप से शुभ होगा। प्रवेश करने के बाद कल आज बन जाएगा और आने वाले कल को संवारने का आधार बनेगा। इस प्रकार एक-एक दिन को सार्थक बनाने से २१वीं सदी का प्रवेश अपने आप अच्छा हो जाएगा।

आज मनुष्य की आंखों मे कम्प्यूटर युग और रोबोट युग के सपने हैं। इन सपनों को साकार करने की कल्पना इस युग की युवा पीढ़ी के मन में गुदगुदी पैदा कर रही है। कम्प्यूटर युग के साथ ही अन्तरिक्ष युग की संभावना को भी काफी पुष्ट किया जा रहा है। ऊपर-ऊपर से देखा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो २१वीं सदी का आदमी बहुत ही साधन-सम्पन्न और आनन्द-सम्पन्न हो जाएगा। किन्तु इसके पीछे उसे कितनी त्रासदी भोगनी होगी, कोई नहीं बता सकता।

खैर, काल की गति को रोकना संभव नहीं है, पर क्या उसे बदलना भी संभव नहीं है? काल मनुष्य को बदलने के लिए विवश करे तो क्या मनुष्य इतना सत्त्वहीन है कि वह काल के प्रवाह को न बदल सके। इस काल का नियन्ता भी मनुष्य है। यदि वह इस युग की बुराइयों को साथ लेकर अगली सदी में प्रवेश करेगा तो उसका भविष्य कभी शुभ नहीं होगा।

वर्तमान युग में मुख्य रूप से दो बुराइयां हैं—अणु-अस्त्र और आतंकवाद। इन दोनों के मूल में जो कारण है, वह है परिग्रह-चेतना की सक्रियता। निष्कर्ष रूप में सोचा जाए तो सब समस्याओं का मूल है 'परिग्रह'। परिग्रह के अभाव में न आतंकवाद बचेगा और न ही अणु-अस्त्रों के निर्माण का सपना आएगा। इसलिए नयी सदी में प्रवेश करने से पहले परिग्रह की समस्या का समाधान खोजना है—अर्थ-शुद्धि के साधनों एवं विसर्जन के सिद्धान्त पर ध्यान देना है। ऐसा करने वाला व्यक्ति ही युगीन बुराइयों की गिरफ्त से मुक्त होकर आगे बढ़ सकेगा।

२६. नीतिहीनता के कारण

मूल्यहीनता के इस युग में मूल्यबोध की बात करने वाले और सुनने वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक नहीं है । जो मूल्यबोध की चर्चा करते हैं वे भी उन मूल्यों के प्रति कितने आस्थावान है, कहना कठिन है । उनमें भी नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था रखने वाले और उसके अनुरूप आचरण करने वाले व्यक्तियों को अंगुलियों पर गिना जा सकता है । मन में बार-बार एक प्रश्न कौंधता है कि आखिर मनुष्य को हो क्या गया है ? वह इस बात को जानता है कि सोने-चांदी या हीरो-पन्नों से पेट नहीं भरता । पेट भरने के लिए तो अनाज की रोटी ही काम आती है । मनुष्य अपने धन-वैभव को अगले जन्म में साथ भी नहीं ले जाता । भावी पीढ़ियों का जहां तक सवाल है, उनमें योग्यता होगी तो उनके पास कोई कमी नहीं रहेगी । यदि उनमें योग्यता नहीं होगी तो वे विरासत में मिली पूंजी को भी धूल में मिला देंगे । ऐसी स्थिति में मनुष्य नीतिमत्ता के आदर्श से दूर हटकर अपना हित कैसे साध सकेगा ?

मनुष्य की मनुष्यता का मानदण्ड है उसकी नैतिकता । जब तक विचारों में नैतिकता की प्रतिध्वनि न होकर और व्यवहार मे नैतिकता के प्रतिबिम्ब न हों, तव तक किसी भी मनुष्य को मनुष्य होने का प्रमाणपत्र कैसे मिल सकता है ? इस सत्य को जानने के बाद भी व्यक्ति अनैतिक बनता है, इसका कोई-न कोई कारण अवश्य है। कारणों की मीमांसा की जाए तो मुख्य रूप से तीन कारण उभरकर सामने आते हैं :

- विलास बहुल मनोवृत्ति
- आय से अधिक व्यय
- कृत्रिम अपेक्षाओं का विस्तार ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज में जीने के अलग-अलग स्तर हैं। हर व्यक्ति ऊंचे स्तर तक पहुंचे, यह जरूरी नहीं है । इसी प्रकार यह भी जरूरी नहीं है कि व्यक्ति स्तर के नाम पर विलासिता को बढ़ाए । विलासी मनोवृत्ति अमीरी का अभिशाप है । अमीरी की छाया में विलासिता बढ़ती है । विलासिता के लिए

साधन-सामग्री जुटाने वाला व्यक्ति अनचाहे ही अनैतिकता के पथ पर अग्रसर हो जाता है। अनैतिक बनने का दूसरे कारण है– आय कम और व्यय अधिक। 'तेते पांव पसारिए जेती लम्बी सोर।' यह कहावत आय के अनुरूप व्यय करने का सूत्र प्रस्तुत करती है। सामाजिक और पारिवारिक परिवेश में वही व्यक्ति ठीक-ठीक चल सकता है, जो आय से बढ़कर व्यय नहीं करता। धार्मिक चिन्तन भी व्यक्ति को एक दृष्टि देता है। नैतिक बने रहने के लिए वह बहुत उपयोगी है। वह दृष्टि है संयम और सादगी की। उस दृष्टि के अनुसार व्यक्ति अल्पेच्छु, अल्पारंभ और अल्प-परिग्रही रहकर संयम की साधना कर सकता है। इस दिशा में आगे बढ़ने का मनोभाव तक नहीं बन पाता है तो व्यक्ति अपने बजट को तो इतना भारी नहीं बनाए, जिससे उसे विवश होकर अनैतिक तरीके काम में लेने पड़े। जब तक व्यय आय से अधिक होगा, व्यक्ति के नैतिक रहने में बाधा आती रहेगी।

तीसरा कारण है कृत्रिम अपेक्षाओं का विस्तार। जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति अच्छे ढंग से हो सकती है। किन्तु आवश्यकता जब कृत्रिमता का मुखौटा पहन लेती है, तब उसके स्वरूप को समझना कठिन हो जाता है। कृत्रिम अपेक्षाएं व्यक्ति की विवेक-चेतना पर आवरण डाल देती हैं। विवेकहीन व्यक्ति आत्मोदय की बात तो सोचेगा ही कैसे वह अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को भी सुरक्षित नहीं रख सकता। विवेक का सूरज अस्त होने के बाद नैतिक मूल्यों का प्रकाश अपने आप ही धुंधला हो जाता है। नैतिकता की दिशा में प्रस्थान तब तक नहीं होगा, जब तक मनुष्य कृत्रिम अपेक्षाओं को जन्म देता रहेगा।

नैतिकता मनुष्य का आदर्श है, मंजिल है, मंजिल तक पहुंचने के लिए सही रास्ते और सही पुरुषार्थ की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। वैसे नैतिकता का क्षेत्र व्यापक है। केवल आर्थिक सन्दर्भ को प्रधान मानकर चिन्तन किया जाए तो भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जहां ये तीन स्थितियां रहेंगी, नैतिकता की बात करना व्यर्थ है। यदि मनुष्य नैतिक रहना चाहता है तो उसे विलासिता छोड़नी होगी, आय-व्यय का संतुलन तोड़ना होगा। और कृत्रिम अपेक्षाओं से सर्वथा दूर रहकर आवश्यकताओं का परिसीमन करना होगा। इसी धरातल पर नैतिक मूल्यों की पौध हरी-भरी रह सकेगी।

२७. राजतंत्र और धर्मतंत्र

मनुष्य के जीवन की कोई एक निश्चित शैली नहीं । वह कभी वैयक्तिक जीवन जीना पसन्द करता है तो कभी समूह के साथ जुड़कर प्रसन्नता का अनुभव करता है । कभी वह अन्तर्मुखी बनता है तो कभी बाहर-ही बाहर देखता है । कभी वह कानून-कायदों की उपयोगिता में विश्वास करता है तो कभी इनकी व्यर्थता प्रमाणित करने में भी संकोच नहीं करता । मानव मन की इस विचित्रता के कारण ही जीवन में राज्य, समाज और धर्म को हस्तक्षेप करने की जरूरत पड़ी । इस हस्तक्षेप का नाम है शासन, जो सामुदायिक जीवन की अपरिहार्यता है ।

जहां शासन होता है वहां संविधान भी होता है । संविधान के बिना कोई भी शासन तंत्र सफल नहीं हो सकता । संविधान का उद्देश्य है-विवेक का जागरण और नियंत्रण की क्षमता का विकास । जब तक समूह में जीने वाले लोगों का विवेक नहीं जागता है, जब तक वे बुराई में प्रवृत्त होने वाले अपने मन पर नियंत्रण नहीं कर पाते, तब तक संविधान का उपयोग है । राज्य और समाज की व्यवस्था का संचालन करने के लिए संविधान जितना जरूरी है, धर्म-व्यवस्था के संचालन में भी उसका उतना ही महत्त्व है । यह दूसरी बात है कि राज्य एवं समाज तथा धर्म के क्षेत्र में निर्मित संविधानों के प्रयोग की धरती अलग-अलग है, इसलिए उनके प्रयोग का क्रम भी भिन्न है ।

राज्य और समाज की व्यवस्था में आत्मस्वीकृति से भी अधिक मूल्य साक्षी का है । किसी व्यक्ति की गलती पकड़ में आ जाती है और कोई प्रबल साक्ष्य मिल जाता है तो वह दण्डनीय माना जाता है । इसके विपरीत धर्म-शासन में आत्म स्वीकृति का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है । इसके अनुसार व्यक्ति जब तक अपनी भूल स्वीकार नहीं करता है, उसे दण्डित नहीं किया जा सकता ।

राजतंत्र की भांति धर्मशासन में भी एक निश्चित दण्डसंहिता है । इसके प्रतिनिधि ग्रंथ हैं छेदसूत्रों में एक का नाम है 'व्यवहार' । व्यवहार सूत्र का एक प्रसंग इस सन्दर्भ में मननीय है । उसका सारांश इस प्रकार है-

दो साधक एक साथ आचार्य के पास आए । उनमें से एक साधक ने कहा-

'गुरुदेव ! मैंने अमुक साधु के साथ अमुक प्रकार के दोष का सेवन किया है। आप मुझे प्रायश्चित देकर शुद्ध करें।' एक साधक का आत्मनिवेदन सुनकर आचार्य दूसरे साधक को उस सम्बन्ध में पूछते हैं। यदि वह साधक दोष सेवन की बात स्वीकार करे तो दोनों साधक प्रायश्चित के भागी हैं। यदि दूसरा साधक निषेध कर दे तो आचार्य उसी साधक को प्रायश्चित देंगे, जिसने अपना दोष स्वीकार किया है। दोष स्वीकार न करने वाले साधक के लिए किसी प्रकार के प्रायश्चित का विधान नहीं है।

उक्त प्रसंग राज्य एवं धर्म के शासन, संविधान और दण्डसंहिता के मूल में रहे अन्तर को बहुत बारीकी के साथ स्पष्ट करने वाला है। आचार्यों के सामने कुछ ऐसे प्रसंग भी उपस्थित होते है, जब दोष सेवन करने वाले साधक अपने सर्वथा अज्ञात दोष को सरलता से बताकर उसका प्रायश्चित लेते हैं। यह आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है।

धर्मशासन में एक अवस्था ऐसी भी है, जिसे कल्पातीत कहा जाता है। इस अवस्था में पहुंचने के बाद साधक पर किसी प्रकार का कानून लागू नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक स्वतंत्र हो जाता है। स्वछन्दता की स्थिति में तो कल्पातीत अवस्था तक पहुंचना ही संभव नहीं है। यह बात उन साधकों के लिए है जो आत्मानुशासन का विकास कर पूर्णरूप से स्वशासी बन जाते हैं। इस एक बिन्दु के आधार पर राज्य शासन और धर्मशासन की व्यवस्था का धरातल समझ में आ सकता है।

२८. धर्म अच्छा, धार्मिक अच्छा नहीं

हरियाणा की प्रसिद्ध मण्डी टुहाना। मण्डी में अनाज मिलता है, यह कोई नयी बात नहीं है। नयी बात यह है कि वहां घोड़ों को प्रशिक्षण मिलता है। पांच-सात दिन के जनमें हुए बच्चों से लेकर दो वर्ष तक के अश्व-शिशु वहां सैकड़ों की संख्या में हैं। उन्हें प्रशिक्षित कर बम्बई भेजा जाता है। प्रतियोगिता में विजयी शिशुओं की कीमत पांच-सात लाख तक पहुंच जाती है। प्रशिक्षित घोड़ों का मूल्य बढ़ जाता है। इसलिए उनके संदर्भ में एक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या प्रशिक्षित मनुष्य का मूल्य नहीं बढ़ता ? यदि बढ़ता है तो क्या उसके प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था है ? क्या ऐसे केन्द्रों की सूची उपलब्ध हो सकती हैं, जहां मनुष्यता का प्रशिक्षण दिया जाता है ?

टुहाना की एक बड़ी परिषद में मैं उपस्थित था। विना भेदभाव हजारों लोग जिज्ञासु बनकर बैठे थे। अणुव्रत का प्रसंग चला। मैंने विस्तार से अणुव्रत की बात समझाने का प्रयत्न किया। अणुव्रत के एक-एक नियम की विस्तृत व्याख्या प्रभावी प्रमाणित हुई। अणुव्रत का दर्शन लोगों को बहुत अच्छा लगा। प्रवचन के बाद एक प्रश्न सामने आया—अणुव्रत के नियम बहुत अच्छे हैं। पर जैन लोग इनका पालन करते हैं क्या ? हम कुछ बंधुओं को जानते हैं, जो मिलावट करते हैं, दहेज की मांग करते हैं और नशीली वस्तुओं का सेवन करते हैं। जब जैनों के जीवन में भी अणुव्रत नहीं उतरा है तो उसका प्रभाव हम पर कैसे हो सकेगा ?

यह प्रश्न किसी एक व्यक्ति का नहीं था, हजारों लोगों की भावना इसमें प्रतिबिम्बित हो रही थी। मैंने अपना चिन्तन स्पष्ट करते हुए कहा—धार्मिक दो प्रकार के होते हैं—जन्मता और कर्मणा। धार्मिक कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति जन्मना जैन, बौद्ध, सिख या सनातनी हो सकता है। पर जब तक व्यक्ति अपने विवेक से धर्म का स्वीकार नहीं करता कर्मणा धार्मिक नहीं हो सकता। कर्मणा धार्मिकता का मानदण्ड केवल क्रियाकाण्ड ही नहीं है, विवेक की प्रज्ञा है। जब तक इस प्रज्ञा का जागरण नहीं होता, जीवन में धर्म नहीं उतर सकता। जैन कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति सही अर्थ में जैन हो जाता है, यह मैं नहीं मानता। यदि

आप ऐसे व्यक्तियों को लक्ष्य कर बात करते हैं तो आपका कथन यथार्थ है। क्योंकि ऐसे लोग जो जैनत्व को जीवन से अलग रखते हैं, आदर्श जैन नहीं वन सकते। जैनत्व का आदर्श न तो उन्हें गौरव का अनुभव देता है और न उस आदर्श के अनुरूप जीवन जीने की आकांक्षा उन्हें बेचैन करती है। वे लोग ऐसी सिद्धान्तहीन जिन्दगी जीते हैं, जैसी कोई भी विवेकसंपन्न धार्मिक व्यक्ति नहीं जी सकता। ऐसी स्थिति में यह उभरकर सामने आती है कि जैन धर्म तो वहुत अच्छा है। पर सव जैन लोगों का जीवन अच्छा नहीं है।

जार्ज वर्नाड शॉ इस्लाम धर्म की वहुत प्रशंसा करते थे। जव कभी मौका मिलता, वे इस्लाम धर्म के उसूलों की मुक्त मन से व्याख्या करते थे। एक दिन किसी व्यक्ति ने कहा–'जार्ज महोदय ! इस्लाम धर्म इतना अच्छा है, इतना ऊंचा है तो क्या आप इसे स्वीकार कर मुसलमान बनना चाहेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक था। कारण पूछने पर वे बोले–'इस्लाम धर्म तो अच्छा है, पर मुसलमान अच्छा नहीं है। इसीलिए मैं इसे स्वीकार नहीं करूंगा।'

बर्नाड शॉ ने जो बात कही, वह केवल इस्लाम धर्म पर ही नहीं, सव धर्मों पर लागू होती है। वास्तव में धर्म सभी अच्छे हैं पर उनके अनुयायी जव तक उस अच्छाई को जीवनगत नहीं कर लेते, धर्म की श्रेष्ठता उजागर नहीं हो सकती। जव तक धार्मिक लोग अच्छे नहीं होते, धर्म के माथे पर लगा वदनामी का धब्बा धुल नहीं सकेगा।

मेरा यह निश्चित मंतव्य है कि जो लोग खाद्य पदार्थों में मिलावट करते हैं, तोल-माप में कमी-वेसी करते हैं, दहेज की मांग करते हैं, दहेज कम मिलने पर नववधू को सताते हैं वे कभी धार्मिक नहीं हो सकते। जो धार्मिक नहीं हैं, वे जैन या तेरापंथी कैसे हैं ? ऐसे व्यक्ति कुल-परंपरा से किसी धर्म का खिताव धारण कर सकते हैं पर आचरण की दृष्टि से उनकी धार्मिकता के आगे प्रश्नचिह्न टंगा रहता है।

इसका दूसरा पक्ष यह है कि जो लोग जैन नहीं हैं, तेरापंथी नहीं हैं, फिर भी जैन धर्म के आदर्शों के अनुरूप जीवन जीते हैं, अणुव्रतों का पालन करते हैं, मैं उन्हें जैन के रूप में स्वीकृत करता हूं। मेरे इन विचारों से उन लोगों को संतोष हुआ या नहीं, मैं नहीं कह सकता, पर इसके वाद अनेक व्यक्तियों ने अणुव्रती वनकर कर्मणा धार्मिक वनने का संकल्प अभिव्यक्त किया।

२९. धर्म और राजनीति

समाज, राष्ट्र और धर्म की अपनी-अपनी नीति होती है। उन नीतियों के सहारे समाज, राष्ट्र एवं धर्म की परम्परा चलती है। समाजनीति के द्वारा समाज का संचालन करने वाले व्यक्ति समाज-नेता कहलाते हैं। राजनीति के द्वारा राष्ट्र का संचालन करने वाले व्यक्ति राजनेता कहलाते हैं और धर्मनीति के सहारे समाज को प्रतिष्ठा और राष्ट्र में धार्मिक मूल्यों देने वाले व्यक्ति धर्मनेता या धर्माचार्य कहलाते हैं। उक्त तीनों नीतियों की स्वतंत्र सत्ता है, स्वतंत्र कार्यक्षेत्र है और स्वतंत्र कार्यपद्धति है। एक नीति के कार्य में दूसरी नीति का हस्तक्षेप कभी वांछनीय नहीं होता। कोई भी धर्माचार्य कभी समाजनेता या राजनेता नहीं बन सकता। यदि वह वैसा बनने का प्रयास करेगा तो न घर का रहेगा, न घाट का। समाजनेता, राजनेता वह बन नहीं सकेगा, इधर धर्म की डोर भी उसके हाथ से छूट जाएगी। ऐसी स्थिति में उसकी अपनी अस्मिता भी सुरक्षित नहीं रह सकेगी।

उक्त सन्दर्भ में दूसरी दृष्टि से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म का क्षेत्र व्यापक है। व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र—सबके लिए धर्म जरूरी है। राजनेता और समाजनेता भी धर्मगुरुओं से पथदर्शन प्राप्त कर अपना रास्ता प्रशस्त करते हैं। जिस समय राजनेता और समाजनेता अपनी नीतियों को छोड़कर निरंकुश हो जाते हैं, धर्म का अंकुश ही उन पर नियंत्रण रखता है।

धर्माचार्य का कर्तव्य है बुराई का प्रतिकार कर चारित्रिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना। बुराई चाहे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र—कहीं भी हो, उसे मिटाने की प्रमुख जिम्मेदारी धर्मगुरुओं की है। प्राचीनकाल में भी राजा आदि धर्मगुरुओं से दिशा-दर्शन पाने के लिए उनके पास आते थे। धर्मगुरु अपनी सीमा में रहते हुए उनको उचित दिशादर्शन देते थे। उससे कभी-कभी बहुत बड़े अहित से बचाव हो जाता था। कई बार तो त्यागी-तपस्वी साधुओं से सानिध्य मात्र से प्राकृतिक और दैवी संकटों से सुरक्षा हो जाती थी। तत्त्व की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह आनुषंगिक लाभ है। मूलतः धर्मगुरुओं का सहयोग आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में ही प्राप्त होता है।

धर्माचार्यों और राजनेताओं के मिलन-प्रसंग में धर्माचार्यों की साधना एवं अनुभवों का लाभ राजनेताओं को मिलता है। वैसे ही राजनेताओं के कुछ अनुभव धर्माचार्यों को भी नयी दृष्टि दे सकते हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू के साथ हमारा अच्छा सम्पर्क था। उनके विचारों में हमें प्रौढ़ता का आभास मिला। उस समय हमारे सामने विशेष परिस्थिति उपस्थित थी। हमने उनसे परामर्श लिया। उनका परामर्श हमारे लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ। इस दृष्टि से राजनेताओं, समाजनेताओं और धर्माचार्यों का वैचारिक आदान-प्रदान सामाजिक और राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धक हो सकता है। यह आवश्यक है कि धर्माचार्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण न करें। वे राजनीति में धर्म को प्रवेश दें, किन्तु धर्म पर राजनीति को हावी न होने दें। यह स्थिति सबके लिए लाभदायक प्रतीत होती है।

३०. परमार्थ की चेतना

चेतना के तीन स्तर होते हैं–स्वार्थ की चेतना, परार्थ की चेतना और परमार्थ की चेतना। सामाजिक मनुष्य स्वार्थ की चेतना के आधार पर काम करते हैं। उससे पार देखने वाले कुछ परार्थ चेतना के स्तर पर सक्रिय रहते हैं। पर परमार्थ चेतना की जागृति वहां दुर्लभ है। इस चेतना का जागरण साधु-संस्था में होता है। इसलिए सामाजिक सन्दर्भों में भी साधु-संस्था की शाश्वत उपयोगिता है।

साधु का अर्थ होता है अध्यात्म चेतना का जागरुक प्रहरी। साधू-संस्था जागृत चेतना वाले पुरुषों और माहिलाओं की संस्था है। इसमें श्रुत, शील और दृष्टि की आराधना की जाती है, बुद्धि और प्रज्ञा का समन्वय साधा जाता है। श्रुत, शील और दृष्टि-संपन्न व्यक्ति ही आत्महित एवं परहित साधते हुए परमार्थ चेतना का जागरण कर सकते हैं। आचार्य भिक्षु के अनुसार वह साधु संस्था तेजस्वी और हितकर होती है, जिसमें पंच महाव्रत, पंच समिति और त्रिगुप्ति की सम्यक् आराधना की जाती है। साधु-संस्था की तेजस्विता के लिए स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन–ये सब अनिवार्य तत्त्व हैं। जिस-साधु संस्था में इन सबकी आराधना नहीं होती, वह अपने आप में निर्वीर्य हो जाती है।

साधनाशील साधु व्यक्ति भी होता है और संघ भी होता है। वह अध्यात्म की साधना करता है, इसलिए व्यक्ति होता है। वह संघ में रहता है, संघीय सुविधाओं का उपयोग करता है, इस दृष्टि से उसका जीवन संघीय भी होता है। वह आध्यात्मिक व्यक्ति है, इसलिए आत्मानुशासन का पालन करता है। उसका व्यक्तित्व संघीय है इसलिए वह संघीय अनुशासन से भी मुक्त नहीं होता। आत्मानुशासन से संघीय अनुशासन में तेजस्विता आती है और इससे आत्मानुशासन को बल मिलता है।

स्वाध्याय, ध्यान और संयमनिष्ठा से आत्मानुशासन निकलता है। वह मूलतः साधक का संयम ही है। इसके लिए त्रिगुप्ति की साधना पर ध्यान केन्द्रित होना जरूरी है। इस साधना के बिना आत्मानुशासन का विकास कठिन प्रतीत होता है।

संघीय अनुशासन आत्मानुशासन में सहायक होता है। उसका एक भाग सामूहिक

जीवन की व्यवस्था-संचालन के लिए होता है और दूसरा भाग होता है साधना की प्रेरणा देने के लिए। समग्रता से विचार किया जाए तो संघीय अनुशासन भी साधना में सहयोग देने के लिए और साधना के पथ में आने वाली कठिनाइयों से जूझने की शक्ति देने के लिए होता है।

आत्मानुशासन के लिए प्राचीन काल से अनेक पद्धयिां प्रचलित हैं। संघीय अनुशासन की दृष्टि से समय-समय पर व्यवस्था की अपेक्षा के अनुसार नये-नये तत्त्व जोड़ने पड़ते हैं। भगवान महावीर से लेकर अब तक ढाई हजार वर्ष लम्बी परम्परा में महाव्रतों और समिति गुप्तियों का स्वरूप वहीं रहा है, पर व्यवस्था तंत्र की दृष्टि से लक्षित या अलक्षित रूप में बहुत बदलाव आ चुका है। आचार्य भिक्षु की परम्परा सवा दो सौ वर्ष की है मौलिक आचार की दृष्टि से वह परम्परा अक्षुण्ण है। इसी प्रकार मौलिक मर्यादाओं में भी कोई अन्तर नहीं आया है। पर सामाजिकमर्यादाएं बदली हैं और भविष्य में भी बदलती रहेंगी। शाश्वत और सामयिक दोनों ही प्रकार के मूल्य आतमानुशासन और संघीय अनुशासन की बुनियाद पर ही टिके हुए हैं। इस बुनियाद की सुरक्षा हमारा पहला दायित्व है।

३१. संसद की पीड़ा

एक बार विद्या विद्वानों के पास गई और बोली–'मैं आपकी निधि हूं। आप मेरी रक्षा करें।' विद्वानों ने पूछा–'देवि ! तुम्हें क्या तकलीफ है ? तुम स्वयं को इतनी असहाय महसूस क्यों कर रही हो ?' विद्या ने अपने मन की व्यथा खोलते हुए कहा–'आप जिस किसी व्यक्ति के साथ मेरा गठबंध कर देते हैं। इससे मुझे बड़ा दुःख होता है।' विद्वानों ने विद्या देवी की आकृति पर उभरी हुई पीड़ा की रेखाओं को स्पष्ट रूप से पढ़ लिया। वे उसके प्रति करुणा से भर कर बोले–'देवि! साफ-साफ कहो। तुम चाहती क्या हो ? 'विद्या बोली–'नासूयकायानृजवेऽयताय मां देहि येनाहं वीर्यवती स्याम'। मुझे तीन प्रकार के लोगों से बचाओ। इनमें प्रथम वे लोग हैं जो असूया से भरे रहते हैं। वे दूसरे के गुणों को भी दोष रूप में देखते हैं। दूसरी कोटि मे वे लोग हैं, जो कुटिल हैं। छल-बल के प्रयोग से दूसरों को धोखा देना ही उनका काम है। तीसरी कोटि में वे लोग हैं, जो असंयमी हैं। अपनी अनियंत्रित आकांक्षाओं को भरने के लिए ऐसे लोग गलत से गलत काम कर लेते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति सर्वथा अपात्र हैं। इनके हाथों में सौंपकर आप मेरे व्यक्तित्व को धूमिल करते हैं और गलत तत्त्वों को प्रोत्साहन देते हैं।'

उपनिषद का यह कथानक आज की संसद पर पूरी तरह घटित हो रहा है। संसद लोकतंत्र की रीढ होती है। किन्तु आज वह निरीह होकर राष्ट्र के सामने खड़ी है। उसके चेहरे पर पीड़ा की झलक है और आंखों में निराशा है। वह जनता के द्वार पर दस्तक देकर पुकार रही है–'प्रजाजनो ! आपने अच्छे-अच्छे लोगों का चयन कर मेरे पास भेजा। पर न जाने क्यों वे सब मेरी इज्जत लेने पर उतारू हो रहे हैं। इस समय मैं घोर संकट में हूं। मुझे बचाओ। मेरी रक्षा करो।'

जनता संसद की पुकार सुन चकित हो उठी। जो संसद राष्ट्र की सबसे बड़ी शक्ति है, जिसके आधार पर लोकतंत्र चलता है, वह भी इतनी दुःख कातर हो जाए तो फिर त्राण कहां से मिलेगा ? जनता ने संसद से अपनी बात स्पष्ट करने के लिए कहा तो वह बोली–'तीन प्रकार के व्यक्तियों को मुझसे दूर रखो। एक

वे व्यक्ति जो केवल विरोध के लिए विरोध करते हैं। दूसरे वे व्यक्ति जो गलत तरीकों से वोट पाकर सत्ता के गलियारे तक पहुंचते हैं और तीसरे वे व्यक्ति जो असंयमी हैं। ऐसे लोग न तो अपनी वाणी पर संयम रख सकते हैं और न अपने व्यवहार में संतुलन रख पाते हैं। इन लोगों का असंयत आचरण देखकर मेरा सिर शर्म से नीचा हो जाता है। इसलिए आप दया करो और ऐसे लोगों को मुझ तक पहुंचने से रोको।'

संसद भारत की सर्वोच्च संस्था है। इसके सदस्य भी किसी दृष्टि से देश के सर्वोच्च व्यक्ति होते हैं। ऐसी संस्था की गरिमा भी सर्वोच्च होनी चाहिए। कहा जाता है कि एक समय ऐसा था, जब संसार भर के लोग चरित्र की शिक्षा पाने भारत आया करते थे। आज यदि विश्व भर की संसदें संसदीय प्रणाली को सीखने के लिए भारत आएं तो संसद की सर्वोच्च गरिमा प्रमाणित हो सकती है। किन्तु वर्तमान परिस्थिति में ऐसी सोच को उगाने के लिए कहीं जमीन ही दिखाई नहीं देती है। सर्वोच्च गरिमा की तो बात ही दूर, जहां शिष्टता नाम का तत्त्व भी सुरक्षित न हो, वह संसद किसी को क्या सिखा सकती है ?

सांसद संसद के रूप होते हैं। सांसदों का आचार, व्यवहार, भाषा, बोली का लहजा और सहिष्णुता संसद के शृंगार है। क्या आज इन बातों की ओर किसी भी सांसद का ध्यान जाता है ?

लोकतान्त्रिक प्रणाली में सत्तापक्ष के सामने विपक्ष की उपस्थिति अनिवार्य है। जहां पक्ष-विपक्ष के दो खेमे हैं, वहां विरोध का स्वर भी उठेगा। लोकतंत्र में विपक्ष या विरोध के अस्तित्व को समाप्त करना भी अपने आप मे एक बड़ा खतरा है। सत्तापक्ष हो, चाहे विपक्ष उनके सामने सबसे बड़ा काम है राष्ट्र हितों की रक्षा। जनता के सुख-दुःख को समझना, उसमें सहभागी बनना और दुःख दूर करने का प्रयास करना भी उनका काम है। किन्तु जब इन सब बातों को भुला कर नीचे स्तर की लड़ाई शुरू कर दी जाती है, तो संसद की गरिमा और उपयोगिता के सामने प्रश्न चिह्न लग जाते हैं। जिस प्रक्रिया में मानवीय गुणों को भी ताक पर रख दिया जाता है, उससे देश का हित कैसे सध सकेगा ?

संसद की अपनी मर्यादाएं हैं। उन मर्यादाओं की सुरक्षा का दायित्व जितना सत्तापक्ष पर है, उतना ही विपक्ष पर है। सत्तापक्ष के काम में अवरोध उपस्थित करना विपक्ष का काम नहीं है और विपक्ष को कुचल कर एकछत्र राज्य करना सत्तापक्ष का काम नहीं है। दोनों पक्ष मिल-बैठकर राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान खोजें और राष्ट्र को बेहतर भविष्य देने के लिए किए गए अपने संकल्प को पूरा करने का प्रयत्न करें तो उनमें टकराव की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी।

टकराव वहां होता है, जहां पक्ष और विपक्ष के बीच दुश्मनी का रिश्ता स्थापित हो जाता है। गाली गलौज, हाथापाई, छीनाझपटी और चरित्र-हनन जैसी प्रवृत्तियों से शत्रुता का भाव बढ़ता है। कुर्सियां एवं जूते-चप्पलें उठाने की स्थिति तो अत्यन्त लज्जा जनक है। यदि संसद के कार्य संचालन में ऐसी अजीबोगरीब घटनाएं जुड़ जाएं तो वहां से किसी रचनात्मक चिन्तन या निर्णय की अपेक्षा कैसे की जा सकेगी?

शालीन् भाषा, शालीन व्यवहार और संयत परिचर्चा संसद की गरिमा को बढ़ाती ही हैं, साथ-साथ संतुलित होकर सोचने एवं निर्णय करने का वातावरण भी निर्मित करती हैं। संसद में प्रवेश करने से पहले सांसदों को शालीनता एवं संतुलन का समुचित प्रशिक्षण दिया जा सके तो संसद को शिकायत करने का मौका नहीं मिलेगा, जनता को चिन्तित होने का अवसर नहीं मिलेगा और अन्य देश के लोग भारतीय संसद को लेकर किसी प्रकार का उपहास-परिहास नहीं कर पाएंगे।

३२. पशु-शोषण का नया तरीका

'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता गया।' रोग का सही निदान न हो, उपयुक्त उपचार न हो और उचित पथ्य न हो तो बीमारी बढ सकती है। निदान, उपचार और पथ्य सही हो, फिर भी बीमारी बढ़ती जाए यह चिन्ता का विषय है। देश में जितनी समस्याएं हैं, हर समस्या अपने आप में एक बीमारी है। समस्या पर खुली चर्चा हो, उसका समाधान खोजा जाए, फिर भी समस्या बरकरार रहे तो मानना पड़ता है कि समस्या की जड़ कहीं अधिक गहरी है।

हिंसा एक समस्या है। यह कोई नयी समस्या नहीं है। पर जब-जब यह समस्या उद्ग्रीव होकर खड़ी हुई, इसका समाधान भी उतना ही ऊंचाई से खोजा गया। इस समय न केवल भारत में, पूरे विश्व में हिंसा की समस्या है। बड़े-बड़े शक्ति सम्पन्न राष्ट्र हिंसा से आतंकित हैं। इस आतंक से उबरने के लिए आन्तरिक रूप में सभी बेचैन हैं। अणु-शक्ति का जितना विस्तार हुआ, आपसी सन्देह और भय बढ़े। अन्तरिक्ष-युद्ध की संभावना संत्रास का रूप लेने लगी। उस समझौते के तहत मध्यम दूरी के अणु-अस्त्र के परिसीमन की बात पर दो विरोधी राष्ट्र एकमत हो गए। इस घटना का पूरे विश्व में स्वागत हुआ। इससे अहिंसा की प्रतिष्ठा हुई। जन-जन के मुंह पर अहिंसा के चर्चे होने लगे।

ज्यों-ज्यो अहिंसा की चर्चा हो रही है, उसे समाधान के रूप में मान्यता मिल रही है। हिंसा के नये-नये आयाम खुल रहे हैं। हिंसा के एक नये रूप का दर्शन हुआ ७ जनवरी १९८८ के हिन्दुस्तान टाइम्स में। उस पत्र के प्रथम पृष्ठ पर तीन चित्रों के साथ एक छोटा-सा संवाद छपा है, जिसका शीर्षक है–'नोट फनी फोर बनी।' उस संवाद का सारांश यह है कि पिछले सप्ताह फगवाड़ा (पंजाब) के निकट एक मनोरंजक कार्यक्रम आयोजित हुआ। उस कार्यक्रम को हजारों लोगों ने देखा। वह कार्यक्रम था– 'खूनी दौड़ प्रतियोगिता।' प्रतियोगिता में भाग लेने वाले थे खरगोश और प्रशिक्षित शिकारी कुत्ते। प्रतियोगिता के प्रारम्भ में एक खरगोश छोड़ा गया। उसके पीछे दो कुत्ते दौड़े। एक बिन्दु पर पहुंचकर कुत्तों ने उस मासूम खरगोश

को दबोच लिया। कितना तड़प-तड़पकर मरा होगा वह खरगोश ! उस दृश्य के साक्षी बने हजारों लोग अपना मन बहलाते रहे और बेचारे खरगोश की नन्हीं-सी जान कराहती रही। कैसे खड़े रह सके इतने लोग वहां पर ! कैसे देखा होगा उन्होंने वह कारुणिक दृश्य ! समाचार था कि तीन दिन की दौड़ प्रतियोगिता में दो सौ पचास खरगोश मारे गए।

पशु हिंसा की यह नृशंस घटना सुनते या पढ़ते ही रोमांच हो आता है। किस उद्देश्य से की गई यह हिंसा ? शास्त्रों में हिंसा के कारणों की समीक्षा करते हुए लिखा गया है—कुछ लोग प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर हिंसा करते हैं। कुछ व्यक्ति असुरक्षा की भावना से हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। कुछ व्यक्ति वर्तमान में अपने बचाव के लिए हिंसा करते हैं। प्रतिशोध, असुरक्षा और बचाव—इन तीन कारणों में से कौन-सा कारण है, जिसने उस खरगोश-हिंसा की आयोजना की ?

प्राचीन काल में लोग शिकार करते थे। शिकार के दो उद्देश्य होते—शौक और मांसाहार। क्या यह भी कोई शिकार का नया रूप था, जिसमें मनुष्य ने स्वयं शिकार न कर अपने पालतू कुत्तों से यह जघन्य काम करवाया। पत्र में लिखा था कि यह सब मनोरंजन के लिए किया गया। क्या मनोरंजन का यही एक तरीका बचा है ? विज्ञान ने मनोरंजन के इतने साधन ईजाद कर दिए, फिर भी यह क्रूरता! कोई कारण भी समझ में नहीं आता।

किसी समय मनुष्य अपने मनोरंजन के लिए पशुओं को लड़ाया करता था। लड़ाई के मैदान में उतरने वाले पशु या पक्षी एक ही जाति के होते थे मुर्गों, भेड़ों और भैंसों के बीच युद्ध होता और मनुष्य दूर-खड़ा-खड़ा उस लड़ाई को देखकर अपनी आंखों को सुख देता। पर इस घटना में खरगोश की लड़ाई खरगोश के साथ नहीं, शिकारी कुत्तों के साथ हुई। पशु के शोषण का कैसा क्रूर तरीका है यह।

यह भारतवर्ष है। इस देश की संस्कृति में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है। क्या यह संस्कृति के साथ खिलवाड़ नहीं है ? जिस देश में वेद, उपनिषद, पिटक और आगम अहिंसा के आलेखों से भरे पड़े हैं। जिस देश में 'आत्मवत् सर्वभूतेषू' का सिद्धान्त है। जो देश 'सव्वे पाणा ण हंतव्वा' का आदर्श मानकर चलता है। उस देश में निरीह पशुओं के प्राण इतनी निर्दयता के साथ लूटना और उस पर किसी की अंगुली भी न उठना, कितनी भयावह स्थिति है। क्या पत्रकारों में ऐसे किसी भी प्रसंग पर खुली टिप्पणी करने का साहस ही नहीं बचा है ?

सब प्राणी जीना चाहते हैं। मरना किसी को काम्य नहीं है। ऐसी स्थिति में बिना प्रयोजन किसी प्राणी को मार डालना अनर्थ हिंसा है, भयंकर अपराध है।

हमारे देश में वर्षों से गोरक्षा के लिए आन्दोलन चल रहा है। माना कि गाय एक उपयोगी पशु है। पर खरगोश ने किसी का क्या बिगाड़ा ? बात गाय या किसी अन्य पशु की नहीं, मनुष्य की पाशविक वृत्ति की है। जब तक निरर्थक हिंसा की वृत्ति नहीं बदलेगी, मनुष्य अपने क्षणिक मनोरंजन के लिए, स्वार्थ के लिए, इन बेजुबान निरीह पशुओं को मौत की वेदी पर चढ़ाता रहेगा। काश ! मनुष्य अपनी मनुष्यता को समझे और ऐसे जघन्य कृत्यों से बाज आए।

३३. साधु-संस्थाओं का भविष्य

भारत में लगभग साठ लाख साधु-संन्यासी रहते हैं। इनका काम है अपनी साधना करना, धर्म-प्रचार करना, धार्मिक अनुष्ठानों में सहयोग करना और सत्संस्कार देना। साधु नाम के साथ ही एक अवधारणा जुड़ी हुई है कि वह गृहत्यागी होता है, गेरुए, सफेद या अन्य विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करता है, थोड़ा-बहुत शास्त्रों का ज्ञान रखता है, पूजापाठ करता है और भिक्षोपजीवी होता है। सामान्यतः साधु के लिए स्त्री और परिग्रह से मुक्त रहने का प्रावधान है। पर कुछ परम्पराओं में उन साधुओं को भी मान्यता प्राप्त है, जो बालबच्चों वाले हैं, घर परिवार वाले हैं और परिग्रह के अर्जन एवं संग्रह में लिप्त रहनेवाले हैं। मूलतः भारतीय समाज की आस्था ऐसी है कि साधु नाम के आगे हाथ जुड़ जाते हैं और मंदिर नाम के आगे सिर झुक जाता है। साधु का व्यक्तिगत जीवन कैसा है, उसमें साधुता का कोई आदर्श है या नहीं, वह क्या कर रहा है, क्यों कर रहा है? इन सब प्रश्नों से परे हटकर साधु के नाम और रूप के साथ जो आस्था जनमी और पनपी हुई है, उसे एक ठोस जमीन की जरूरत है। अन्यथा आनेवाली पीढ़ी के मन में साधु के नाम से ही एलर्जी हो सकती है।

साधु-संस्थाओं का भविष्य साधुओं का चरित्र है। जो साधु अपने चरित्र की साधुता के प्रति जागरुक हैं, वे अपने लिए, समाज के लिए और राष्ट्र के लिए उपयोगी हैं। जो साधु चरित्र को भूलकर अर्थसंग्रह, प्रतिष्ठासंग्रह और सुविधासंग्रह के चक्रव्यूह में फंस जाते हैं, उनका वहां से निकलना बहुत मुश्किल हो जाता है। साधु कहलाना, पूजा पाना और आचरण से सद्गृहस्थ की तुलना में भी नहीं आना, कितनी बड़ी प्रवंचना है। कितना बड़ा धोखा है।

जिन साधु-संस्थाओं में कोई मर्यादा नहीं, अनुशासन नहीं, विधि-विधान नहीं, परम्परा नहीं और चरित्र नहीं, वहां कुछ उल्टा-सीधा भी हो जाता है तो कुछ आश्चर्य जैसा नहीं लगता। यही कारण है कि हजारों-हजारों साधु गांजा-सुल्फा पीनेवाले हैं, भांग पीने वाले हैं, रुपया -पैसा रखने वाले हैं, घर-बार चलाने वाले है, संस्थाएं

धन होता है कि वह उक्त सारे काम कर पैसा बटोरने वालों को भी साधु मानती है। वह सोचती है कि साधु कुछ भी करता है, हमारे से तो अच्छा ही है। यह चिन्तन विवेक का नहीं, मूढ़ता का प्रतीक है। साधु को कुछ कह दिया तो वह शाप दे देगा, जनता के मन का यह भय भी साधु के आचार को उच्छृंखल और

अमर्यादित बनाता है। यहां चिन्तनीय विन्दु यह है कि यदि साधु में इतनी शक्ति होती है कि वह चाहे जिस पर अनुग्रह या निग्रह कर सकता है तो उसे इस प्रकार हजार-पांच सौ रुपयों के लिए दुकानदारी क्यों चलानी पड़ती ? यह सब छलावा है, धोखा है और जनता के धार्मिक विश्वासों का शोषण है।

साधु शब्द बहुत ही ऊंचा है। यह आभिजात्य संस्कृति का वाहक है। इस शब्द का अपना महत्त्व है और अपनी विश्वसनीयता है। साधु बनने वाले व्यक्ति यदि इस महत्व और विश्वसनीयता को सुरक्षित नहीं रख पाते हैं तो साधु नाम के इर्द-गिर्द संदेह और भय की ऐसी दीवारें खड़ी हो सकती हैं, जो ऊपर उठती हुई साधु के अस्तित्व को ही समाप्त कर सकती हैं।

सूफी संत की लाठी से घायल कुत्ता न्याय की पुकार लेकर महान सूफी संत अबसईद के पास पहुंचा। उसे अपना घायल पंजा दिखाकर अपराधी को दण्ड देने की मांग की। संत ने कहा–'इसने मेरा जामा खराब कर दिया, तब मैंने इसको पीटा।' अबूसईद ने कुत्ते से कहा– 'फैसला कयामत के दिन होगा। अभी इससे हर्जाना वसूल किया जा सकता है। बोल, तुझे क्या चाहिए ?' कुत्ता बोला–'यह धोखेबाज है। मैं इसे सूफियों के जामे में देखकर निश्चिन्त था। और इसके पास चल रहा था। रास्ते में कीचड़ था। मेरे पांवों से उछलकर कुछ छींटे इसके जामे पर गिर पड़े और इसने लाठी से वार कर दिया। ऐसा करके इसने जामे का विश्वास खोया है। मैं चाहता हूं कि दण्डस्वरूप इसका यह जामा उतरवा दीजिए ताकि भविष्य में किसी को धोखा न हो।'

साधु का वेश उसके प्रति विश्वास रूप बुनियाद की पहली ईंट है। इस वेश को धारण करके भी जो साधु के लिए सम्मत मर्यादा का अतिक्रमण करता है, गृहस्थोचित काम करता है, वह उस बुनियाद को हिलाता है और गिराता है। इससे किसी साधु विशेष पर नहीं समग्र साधु संस्कृति के मस्तक पर कलंक का धब्बा लगता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक साधु का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह अपनी परम्परा एवं संस्था द्वारा मान्य साधुता की आचार संहिता के प्रति जागरूक रहे, अपनी सीमाओं में रहे, साधु के लिए निर्धारित जीवनशैली को अपनाए और अपने ऊंचे आचरण से देश में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में अपना योगदान दे।

३४. प्राकृतिक आपदा और संयम

मैं अपने जीवन के ७३ वर्ष पूरे कर ७४ वें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूं। इन ७३ वर्षों में ६२ वर्ष की मेरी यात्रा संयम-यात्रा है। संयम के प्रति मेरे मन में प्रारंभ से ही आकर्षण रहा है। मैंने संयम को जी कर देखा है और उसका सुफल भी देखा है। संयम व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व–सबके लिए उपादेय है। इसी दृष्टि से अणुव्रत का घोष निश्चित किया गया–संयम ही जीवन है। किसी भी घोष के उच्चारण मात्र से जीवन का क्रम नहीं वदलता। जीवन में संयम का प्रयोग करने के लिए एक पूरे वर्ष को संयम वर्ष के रूप में मनाया गया। दूसरों के सामने संयम की बात करने वाले पहले अपने असंयम पर नियंत्रण करें, उसके वाद संयम के नारे लगाएं, यह समझाने के लिए एक नया घोष दिया गया–'निज पर शासन फिर अनुशासन।' वैसे शासन शब्द भी संयम का वाचक है। उक्त दोनों घोषों को आत्मसात् करने का प्रयत्न जन-जन को इनकी सार्थकता का बोध देने का उपक्रम वन गया। इस उपक्रम में मेरी आस्था है। मेरे मन का विश्वास वोल रहा है कि संयम के द्वारा विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

संयम एक शाश्वत सत्य है। जो शाश्वत होता है, वह त्रैकालिक होता है। अतीत काल में संयम की अपेक्षा थी, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगी। जाति की सुरक्षा और विकास भी संयम से ही संभव है। संयम सदा आवश्यक है। इस वर्ष उसकी आवश्यकता और अधिक प्रखरता से सामने आ रही है। जो व्यक्ति थोड़ा भी संवेदनशील है, विश्व की स्थितियों से अवगत है और उन स्थितियों में परिवर्तन का आकांक्षी है, उसे संयम की शरण में आना ही होगा।

आज एक और हिंसा का तूफान है और दूसरी ओर प्राकृति का प्रकोप है। हिंसा का तूफान केवल वाहर-वाहर से नहीं है, वह मनुष्य के भीतर से उठता है। मन में यदि हिंसाका भाव नहीं है तो हिंसा को उन्मुक्त होने का मौका भी नहीं मिलता। मन के भीतर हिंसा की जड़ें गहरी होती जा रही हैं, उन्हें कमजोर कर

हिंसा को निर्वासित करने की जरूरत है।

प्रकृति किसी के हाथ में नहीं है। कहीं अतिवृष्टि के कारण बाढ़ आ जाती है, तो कहीं पानी की एक बूंद भी नहीं गिरती है। कहा जाता है कि इस वर्ष शताब्दी का सबसे भयंकर सूखा है। राजस्थान के कुछ इलाकों में तो लगातार तीन चार वर्ष से पानी नहीं बरसा है। कुल मिलाकर पूरा देश दुष्काल की चपेट में है। ऐसे संकट के समय देश की जनता के लिए आशंसा करता हूं कि वह अपनी जीवन चर्या को विशेष रूप से संयत करने का प्रयत्न करे।

आज जबकि जन-जीवन अशान्त है, पीड़ित है, संत्रस्त है और भविष्य के लिए अनाश्वस्त है, देश के किसी भी भाग में, किसी भी रूप में होने वाले आडम्बर, प्रदर्शन, व्ययबहुल समारोह का औचित्य सिद्ध नहीं होता। आडम्बर-प्रदर्शन आदि विलासी मनोवृत्ति के प्रतीक हैं। पूरे देश या विश्व में अमन चैन हो तो साधन संपन्न लोगों द्वारा जुटाए जाने वाले विलासिता के साधन भी किसी की आंख पर नहीं आते। पर जिस समय लाखों-करोड़ों के सामने रोजी-रोटी की समस्या हो, पीने के लिए पानी नहीं मिलता हो, पशुओं को चारा नहीं मिलता हो, चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हो, ऐसे नाजुक समय में विलासिता, आमोद-प्रमोद एवं किसी सार्थक उद्देश्य के बिना किए जाने वाले आयोजन, समारोह आदि अपने सामने प्रश्न चिह्न टांग लेते हैं।

जैन दर्शन संयम प्रधान धर्म है। इसमें त्याग-तपस्या, संय और सादगी का विशेष मूल्य है। वर्तमान की ज्वलंत समस्या का समाधान इन्हीं तत्त्वों में निहित है। मैं सबसे पहले तेरापंथ समाज एवं पूरे जैन समाज को यह दृष्टि देना चाहता हूं कि वे धार्मिक आयोजनों तथा उत्सवों को संयत और सादा बनाने का लक्ष्य बनाएं। यह सामयिक अपेक्षा है। समय को देखकर चलने वाले व्यक्ति और समाज अपना हित साध सकते हैं, राष्ट्र का हित साध सकते हैं। समय को न पहचानने वाले लोग गंवार कहलाते हैं। विज्ञान और तकनीकी के युग में जीने वाले लोग ऐसे गंवारूपन का परिचय न देकर अपनी विवेक-चेतना को काम में लें तो समूचे राष्ट्र को दिशादर्शन मिल सकता है।

धार्मिक आयोजनों की भांति शादी-विवाह, पर्व-त्योंहार आदि प्रसंगों पर भी संयम और सादगी की अत्यंत प्रासंगिकता है। व्यक्ति-व्यक्ति इस प्रासंगिकता को समझे, जुझारू वृत्ति के साथ परम्परित मूल्य-मानकों को बदले और सफल जीवन के लिए संयम को एक विशेष मानक के रूप में प्रतिष्ठित करे। आज के दिन मैं पूरी मानव जाति को यही संदेश देना चाहता हूं।

३५. समन्दर चुनाव का : नौका सिद्धान्त की

भारतीय राजनीति में तीन प्रकार की शासन-प्रणालियां प्रचलित रही हैं–एकतंत्र, गणतंत्र और लोकतंत्र। तीनों प्रणालियों में अपने गुण-दोष हैं। किसी भी प्रणाली को पूर्ण रूप से सही या गलत प्रमाणित करने वाले ठोस आधार अभी उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान में भारतीय शासन व्यवस्था का संचालन किसी एक ही व्यक्ति के हाथ में नहीं है। एकतंत्रीय शासन-प्रणाली से पनपी विसंगतियों ने उसको धराशायी बना दिया। भगवान् महावीर के युग में यहां गणराज्य व्यवस्था चल रही थी। समय की धूल ने उस व्यवस्था का भी लोप कर दिया। एक समय ऐसा आया, जब भारत की बागडोर विदेशी हाथों में चली गई। कठिन संघर्ष और बलिदान के बाद देश आजाद हुआ। उसके साथ ही यहां लोकतंत्र की बुनियाद रखी गई। लोकतंत्र में किसी व्यक्ति, दल या समूह को परम्परा से सत्ता के शिखर तक पहुंचने का अवसर नहीं मिलता। इस पद्धति के अनुसार सत्ता में जाने वाले व्यक्तियों का चयन होता है। चयन की पूरी प्रक्रिया जनता से जुड़ी हुई है। इस दृष्टि से कहा जाता है कि चुनाव लोकतंत्र का आधार है और चुनाव का आधार है जनता।

कुछ लोग चुनाव को लोकतंत्र का त्योंहार मानते हैं। भारतीय संस्कृति में त्योंहार मानने की परंपरा प्राचीनकाल से चली आ रही है। यहां त्योंहारों की सूची बहुत लम्बी है। हर त्योंहार के अपने कानून-कायदे होते हैं। कानून कायदे न हों तो किसी भी त्योंहार की परंपरा आगे चल ही नहीं सकती।

चुनाव को त्योंहार का रूप दिया जाए तो उसके कानून-कायदों को भी ध्यान में रखना जरूरी है। किन्तु सिद्धान्तों की नाव पर सवार होकर चुनाव का समन्दर पार करने का जमाना शायद बीत गया है। इसलिए सत्ता के गलियारे में घुसपैठ करने के लिए नये-नये तरीके खोजे जा रहे हैं। राष्ट्र-हित और जन-हित की महत्त्वाकांक्षा व्यक्ति-हित और पार्टी के दबाव से नीचे बैठती जा रही है। सेवा के स्थान पर स्वार्थ आसीन हो रहा है। जनता के दुःख-दर्द को दूर करने के वादे चुनाव घोषणापत्र की स्याही सूखने से पहले ही विस्मृति के गले में टंग जाते हैं।

जनता और जननेता के बीच आत्मीय रिश्ते स्थापित हों, उससे पहले ही उनमें गहरी दरारें पड़ जाती हैं। ऐसी स्थिति में चुनाव की संस्कृति अपना चुनाव खोती जा रही है।

लोकतंत्रीय प्रणाली में जनता की सबसे बड़ी संपत्ति है उसका मत (वोट)। मत का अर्थ है देश के भविष्य को उजालने के लिए किया गया स्वतंत्र चिन्तन। पर जिससमय मत के साथ प्रलोभन और भय जुड़ जाए, वह खरीद फरोख्ती की वस्तु बन जाए, उसके साथ मारपीट, लूट-खसोट और छीना-झपटी के किस्से बन जाएं, इससे भी बड़े हादसे घटित हो जाएं। यह सब क्या है? क्या आजादी की सुरक्षा ऐसे कारनामों से होगी? क्या ये सब देश की जनता के लिए निश्चित भविष्य के आश्वासन बन पाएंगे? ऐसे घिनौने तरीकों से विजय पाना और फिर विजय की दुन्दुभि बजाना, क्या यह लोकतंत्र की विजय है। ऐसी विजय से तो हार भी क्या बुरी है?

लोकतंत्र के कानून-कायदों के आधार पर सत्ता के संघर्ष में उतरा हुआ व्यक्ति स्वयं को राजनीति में स्थापित न कर पाए तो उसका विस्थापित रहना भी अच्छा है। बजाय इसके कि वह अपनी मान-मर्यादा को ताक पर रखकर अनैतिक तरीकों से विजयश्री का वरण करे। इस संदर्भ में एडीसन का अभिमत मननीय है। उन्होंने लिखा है–'इज्जत को चोट पहुंचाने की अपेक्षा दस हजार बार मृत्यु होना उत्तम है।' गम्भीरता से विचार किया जाए तो मौत का सही अर्थ है–अपने सिद्धान्तों और नीतियों की पटरी से नीचे उतरना। नीतिविहीन विजय के बाद किस खुशी में जश्न मनाया जाता है, जबकि लोकतंत्र का जनाजा निकल रहा होता है।

'संसद' देश की सर्वोच्च संस्था होती है। राज्यों में विधान सभाओं की भूमिका अहम होती है। इनमें आने वाले व्यक्ति भी नैतिक मूल्यों की फसल को उखाड़ देंगे तो उनकी सुरक्षा कौन करेंगे? बाड़ द्वारा फल खाने की जनश्रुति ऐसे प्रसंगों पर ही सत्य प्रमाणित होती है। सत्ता की परिक्रमा में खड़े व्यक्ति, सत्ताहीन हों या विपक्ष के दावेदार, आखिर वे चाहते क्या हैं? वोटों के गलियारों से सत्ता के शिखर पर पहुंचना या लोकतंत्र के आदर्शों की सुरक्षा करना। चुनावों में बरती जा रही धांधली को देखकर तो ऐसा लगता है कि वे घर-घर को मरघट में बदलने की प्रक्रिया अपना रहे हैं।

एक प्रत्याशी किसी गांव में वोट मांगने गया। एक व्यक्ति बोला–'आपको क्या वोट दें। पिछले चुनाव में कहा गया था कि गांव में मरघट की व्यवस्था ठीक नहीं है। आपने चुनाव जीतने के बाद मरघट बनवाने का आश्वासन दिया। उस आश्वासन को पांच साल हो गए हैं। अभी तक कहीं मरघट नहीं बना। यह बात

सुन प्रत्याशी ने कहा—'आप मुझे एक मौका और दें। इस वार मैं घर-घर में मरघट वनवा दूंगा।' ऐसे व्यक्ति और कुछ नहीं तो लोकतंत्र के लिए मरघट का निर्माण अवश्य कर रहे हैं। लोकतंत्र को वचाना है तो उसे ऐसे लोगों के हाथ में जाने से वचाना होगा।

चुनाव चाहे संसद के हों, विधान सभाओं के हों, महाविद्यालयों के हों या अन्य सभा-संस्थाओं के। जहां नीति की वात पीछे छूट जाती है, महासमर मच जाता है, उसमें जन, धन, समय और शक्ति की जो हानि होती है, उसकी क्षतिपूर्ति कठिन ही नहीं, असंभव है। ऐसे नाजुक मसले पर जनमत जागृत करने का काम अणुव्रत कर रहा है। अणुव्रत द्वारा निर्धारित 'चुनाव आचार संहिता' मील का पत्थर वन सकती है, वशर्ते कि नैतिकता से उखड़ती हुई आस्था को वहाल किया जाए।

३६. अपनी धरती पर उपेक्षा का देश

किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति उस देश की भाषा और साहित्य के साथ अविच्छिन्न रूप से गुंथी हुई रहती है। अतीत वर्तमान में जीवंत रहता है तो उसकी पदचाप अनागत को सचेत कर देती है। जिसका वर्तमान ठीक नहीं होता उसके भविष्य का आधार ही नहीं बनता। कोई भी देश अतीत की स्मृतियों और भविष्य की संभावनाओं के आधार पर विकास नहीं कर सकता। विकास का सूत्र वर्तमान के हाथ में रहता है। जिस देश का वर्तमान अपनी सांस्कृतिक संपदा की सुरक्षा नहीं कर सकता, वह उसे कोई नया अवदान दे सकेगा, इस चिन्तन को अवकाश ही नहीं मिलता।

संस्कृत और प्राकृत भारत की समृद्ध भाषाएं हैं। एक समय था जब ये दोनों भाषाएं लोक-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थीं। इन दोनों ही भाषाओं में उच्चकोटि का साहित्य रचा गया। देश के सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों को साहित्य में पिरोकर पीढ़ी-दर पीढ़ी आगे सरकाने का सपना देखने वाले मनीषियों ने यह नहीं सोचा था कि उनके साहित्य पर समय की धूल इतनी गहरी जम जाएगी, जिससे उसे सांस लेने में भी कठिनाई होने लगेगी। आज जो स्थिति है, सबके सामने है। अपनी ही धरती पर उपेक्षा का दंश झेलने वाली भाषाओं की पीड़ा को इतने कम लोगों ने पहचाना है कि उनका स्वर भी नक्कारने में तूती की आवाज की तरह बहुत मन्द है।

देश को एक छोर से दूसरे छोर तक जोड़ने वाली संस्कृत भाषा पांच हजार वर्षों की संस्कृति और सभ्यता की संवाहक है। संस्कृत की गुरुता को समझने वाले व्यक्ति मानते हैं कि वह हमारी आत्मा है। आत्मा को खोने का अर्थ है अपने अस्तित्व को खोना। इस सत्य को उजागर रखने का प्रयास चल रहा है। फिर भी देश में पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की घुसपैठ जिस चतुराई के साथ हो रही है, अधिक लोगों को यह अहसास ही नहीं होता कि उनके जीवन का सार निचुड़ रहा है और असार तत्त्वों की सत्ता स्थापित हो रही है।

देश की नयी शिक्षा नीति में एक त्रिभाषा फार्मूला की नयी बात जुड़ी है। इस फार्मूला के अनुसार संस्कृत भाषा को पाठ्यक्रम से निकाल दिया गया। तीन भाषाएं, जो अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाएंगी, उनमें संस्कृत को कोई स्थान नहीं है। कोई विद्यार्थी संस्कृत पढ़ने का इच्छुक है तो वह उच्च हिन्दी के अन्तर्गत सीख सकेगा अथवा स्वतंत्र विषय के रूप में उसका अध्ययन कर सकेगा।

एक ओर अमेरिका के हारवर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत भाषा, भारतीय संस्कृति और धर्म का एक बहुत बड़ा विभाग है, वहां विदेशी लोग अच्छी संख्या में संस्कृत पढ़ते हैं। दूसरी ओर भारत में संस्कृत को पाठ्यक्रम से हटाने का संकल्प क्रियान्वित हो रहा है। क्या यह भारतीय संस्कृति पर आघात नहीं है?

नयी शिक्षा नीति में संस्कृत को क्लासिकल भाषा का दर्जा दिया गया है। भाषाओं के चार वर्गों में प्रथम वर्ग में हिन्दी भाषा है। दूसरे वर्ग में आधुनिक भारतीय भाषाओं का समावेश है। तीसरे वर्ग में अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं का स्थान है। संस्कृत का स्थान चौथा है जो त्रिभाषा फार्मूला से बाहर रह गई। ऐसी स्थिति में संस्कृत के भविष्य पर/चिन्ता होना अस्वाभाविक नहीं है।

संस्कृत भाषा, जो कि सन् १९८७ तक आधुनिक भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त थी, उनके साथ भी ऐसा व्यवहार हो रहा है तो प्राकृत भाषा की उपेक्षा क्यों नहीं होगी? प्राकृत भाषा जैन संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। भगवान् महावीर ने इसी भाषा में उपदेश दिया। जैन आगम इसी भाषा में निबद्ध हैं। प्राकृत भाषा में लिखा हुआ साहित्य धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है उस साहित्य में तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति के साथ दुर्लभ वैज्ञानिक रहस्य भरे पड़े हैं। विज्ञान की नयी खोजें जैन आगमों में वर्णित अनेक अवधारणाओं को आत्मसात् कर आगे बढ़ रही हैं। इससे जैन धर्म की वैज्ञानिकता पुष्ट हो रही है। विज्ञान के विद्यार्थी जैन आगमों का गंभीर अध्ययन कर अपने क्षेत्र में कुछ नया काम कर सकते हैं पर प्राकृत भाषा के ज्ञान के अभाव में वे इस लाभ से वंचित रह जाते हैं।

जर्मन सरकार ने प्राकृत भाषा और साहित्य के प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु पचास करोड़ रुपयों की विशाल धनराशि भारत को प्रदान की है। प्रश्न उठता है कि भारत से बाहर संस्कृत और प्राकृत के लिए इतना कुछ हो रहा है तो भारत में उनकी उपेक्षा क्यों? भारत का योजना-आयोग भी भारतीय भाषाओं के विकास हेतु प्रयत्नशील है। हाल ही में उसकी एक संगोष्ठी हुई। उसमें उन सब संस्थाओं को आमंत्रित किया गया, जो भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ में विशेष काम कर रही हैं। जैन विश्व भारती के प्रतिनिधि भी वहां पहुंचे थे। उन्होंने वहां

चौदह सूत्री प्रोजेक्ट प्रस्तुत किया। योजना आयोग की ओर से सभी भारतीय भाषाओं के लिए बीस करोड़ का बजट स्वीकृत किया गया। एक ओर सब भाषाओं के लिए बीस करोड़, दूसरी ओर केवल प्राकृत के लिए पचास करोड़। यह और कुछ नहीं, दृष्टिकोण का अन्तर है। विदेशी विद्वानों में डॉ० हरमन जेकोबी, डॉ० शुब्रिंग, डॉ० पिशेल, डॉ० एल्सडोर्फ- जैसे अनेक विद्वानों ने प्राकृत साहित्य और भाषा पर उल्लेखनीय काम किया है तथा संस्कृत साहित्य से लाभ उठाने वाले पाश्चात्य विद्वानों में गेटे, शापेनहावर, शिलर, इलियट, स्मर्सन आदि नामों के चर्चे हैं। ऐसी स्थिति में भारतीय विद्वानों का ध्यान भी इस ओर केन्द्रित होना आवश्यक है।

तेरापंथ धर्मसंघ में लगभग डेढ़ शताब्दी से संस्कृत और प्राकृत भाषा के अध्ययन का क्रम चल रहा है। श्रीमज्जयाचार्य ने अपने साहित्य में जैन आगमों और उनकी टीकाओं का भरपूर उपयोग किया। पूज्य मघवागणी तो संस्कृत के पंडित कहलाते थे। पूज्य कालूगणी के युग में संस्कृत में काव्य लिखे गए। वर्तमान में भी हमारे यहां संस्कृत और प्राकृत भाषा का अध्ययन व्यवस्थित रूप से चल रहा है। आयारो पर संस्कृत भाष्य का प्रणयन संस्कृत भाषा को एक अनूठी देन है। मैं चाहता हूं कि हमारे साधु-साध्वियां एकनिष्ठ होकर संस्कृत, प्राकृत भाषा के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न रहें। मैं यह भी चाहता हूं कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय, जिस पर भारतीय भाषाओं के विकास का दायित्व है, संस्कृत के साथ हो रहे अन्याय से अपनी आंखें न मूंदे।

३७. विलक्षण परीक्षण

तीन विद्यार्थी गुरुकुल में पढ़ते थे। उनकी पढ़ाई पूरी हो गई। वे कुलपति के पास गए। उन्होंने कुलपति से घर जाने की इजाजत मांगी। 'क्या तुम्हारा अध्ययन पूरा हो गया ?' कुलपति के इस प्रश्न का विद्यार्थियों ने सकारात्मक उत्तर दिया। कुलपति बोले–'तुम बारह वर्ष यहां रहे, पढ़े और सब परीक्षाओं में उतीर्ण हो गए। पर अब तक एक परीक्षा शेष है।' विद्यार्थियों ने उत्सुक होकर पूछा–'गुरुदेव ! वह परीक्षा किस विषय की होगी। कब होगी ? और कहां होगी ?' कुलपति बोले– 'उस परीक्षा के लिए न कोई विषय निश्चित है और न समय निश्चित है और न स्थान निश्चित है।' यह बात सुन विद्यार्थियों की जिज्ञासा बढ़ गई। वे अपनी जिज्ञासा के पंख खोलते हुए बोले–'विषय की जानकारी बिना परीक्षा कैसे होगी ?' कुलपति ने उनकी जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा– यह परीक्षा ऐसे ही होगी।

कुछ समय बीता। एक दिन कुलपति ने तीनों विद्यार्थियों को बुलाकर आदेश दिया–चप्पलें उतारो और सामने जो वृक्ष दिखाई दे रहा है, वहां तक दौड़ लगाकर आओ। आज तुम्हारी परीक्षा है।' कुलपति का आदेश मिलते ही तीनों ने अपनी चप्पलें उतार दीं। उन्होंने नंगे पांव दौड़ शुरू की। वे कुछ ही कदम चले और रुक गए। क्योंकि मार्ग में नुकीली शूलें बिखरी पड़ी थीं।

एक विद्यार्थी मार्ग में शूलें देखकर उत्तेजित हो उठा। वह चीखकर बोला– 'यह कैसी परीक्षा ? ऐसी क्रूरता का राज क्या है।' वह आदेश की अवहेलना कर अपने कुटीर में लौट गया।

दूसरा विद्यार्थी दो क्षण असमंजस में रहा। फिर उसने सोचा–'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीय–गुरु की आज्ञा पर कभी प्रश्नचिह्न नहीं लगता। मरना मंजूर है, किन्तु गुरु के आदेश का पालन करूंगा।' इस चिन्तन के साथ वह नंगे पांव उन शूलों पर चला। कुछ दूर चला और उसके पांव लहूलुहान हो गए। मुश्किल से उसनेआधा रास्ता पार किया और लौट आया।

तीसरा विद्यार्थी समझदार था। उसने इधर-उधर देखा। झाड़ी के पास एक

झाडू पड़ा था। उसने झाडू हाथ में लिया, रास्ते के कांटे बुहारे और गुरु द्वारा संकेतित वृक्ष तक पहुंचकर वापस आ गया।

निश्चित समय पर वे तीनों कुलपति के पास गए। कुलपति ने पूछा–आदेश का पालन हो गया ?

'पहला विद्यार्थी बोला–'गलत आदेश का पालन करना पाप है।'

दूसरे विद्यार्थी के पांव की पीड़ा आक्रोश का रूप ले फूट पड़ी। उसने अपने कांटों से बिंधे हुए पांव दिखाते हुए कहा–'आदेश का पालन किया उसका यह परिणाम है। भविष्य में ऐसे आदेश का पालन कभी नहीं करूंगा।'

तीसरा विद्यार्थी विनम्र शब्दों में बोला–गुरुदेव ! आपके आदेश का पालन करके ही यहां उपस्थित हुआ हूं।'

कुलपति ने प्रश्न किया–'तुम्हारे पांव में कांटे नहीं लगे ?' विद्यार्थी ने कहा–'गुरुदेव ! मैंने झाडू से रास्ता साफ कर लिया था।'

यह बात सुनते ही उन दोनों विद्यार्थियों की आंखें खुल गईं। वे सहमते हुए बोले–गुरुदेव ! आपने रास्ता बुहारने का कब कहा था ?'

कुलपति ने उनको समझाते हुए कहा–'मैंने ऐसा करने का निषेध कब किया था।

कुलपति ने परीक्षा परिणाम सुनाते हुए तीसरे विद्यार्थी को उत्तीर्ण घोषित किया।

कितने ही वर्ष अध्ययन किया जाए, कितने ही प्रमाणपत्र प्राप्त किए जाएं, कितनी ही उपाधियां हासिल कर ली जाएं, जब तक प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, करणीय और अकरणीय का विवेक नहीं जागता है, अवसर को देखकर प्रवृत्ति करने का कौशल प्राप्त नहीं होता, तब तक सफलता नहीं मिल सकती। इसीलिए पुस्तकीय ज्ञान की तुलना में अनुभव के ज्ञान को महत्त्वपूर्ण माना गया है। जब तक विद्यार्थी अनुभव संपदा से संपन्न नहीं होता, केवल पुस्तकीय ज्ञान उपयोगी नहीं बनता।

एक समय था जब गुरुकुल परम्परा प्रचलित थी। गुरुकुलों में पुस्तकें कम होती थीं और प्रयोग अधिक होते थे। आज स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। छोटे-छोटे बच्चों के सिर पर पुस्तकों का इतना बोझ डाल दिया जाता है कि वे अपनी बचपन की स्वाभाविकता को ही खो देते हैं। इसी बात से प्रेरित होकर शायद किसी शायर ने लिखा होगा–

बस्ते की जगह पीठ पें जो बोझ लिये हों।
उन बच्चों में बच्चों की अदा भी नहीं मिलती॥

बच्चों का जीवन नयी संभावनाओं की धरती है। उस धरती में वैसे ही अंकुर फूटेंगे, जैसे बीज बोए जाएंगे। धतुरे के बीज बोकर आम के फल की आशा करना व्यर्थ है। इसी प्रकार बच्चों को गलत वातावरण और गलत संस्कार-संपन्न बनाने के लिए 'जीवन-विज्ञान' के व्यवस्थित प्रशिक्षण व्यवस्था हो।

३८. मानविकी पर्यावरण में असंतुलन

एक चीनी कहावत है कि पुरुष को शिक्षित करो तो एक जन शिक्षित होता है, पर एक स्त्री को शिक्षित करो तो पूरा वंश शिक्षित होता है । इसी प्रकार की विचारधारा थी हमारे स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव कालुगणी की । वे महिलाओं को गहरे धार्मिक संस्कार देने के पक्ष में थे । उनकी दृष्टि में एक संस्कारी महिला पूरे परिवार की धुरी बन सकती थी । रूस के क्रांतिकारी नेता लोनेन का विचार था कि महिलाओं का सामाजिक, मानसिक उद्धार किए बिना समाजवाद के निर्माण का काम नहीं हो सकता । आज हमारे देश में राजनीति के झरोखों से समाजवादी हवाएं प्रवेश कर चुकी हैं । समाजवाद की स्थापना और विकास के लिए नारेबाजी हो रही है, भाषणबाजी हो रही है और नयी-नयी योजनाएं भी बन रही हैं पर जब तक महिलाओं को साथ लेकर इस दिशा में प्रस्थान नहीं होगा, समाजवाद का नारा शब्दों की गिरफ्त से मुक्त होकर लोकजीवन में नहीं उतर सकेगा ।

भारतवर्ष में स्त्री और पुरुष को लेकर दोहरे मानदण्ड प्रचलित हैं । संविधान में स्त्री को वे सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो एक पुरुष को होते हैं । किन्तु व्यवहार के धरातल पर स्त्री का परिवेश बहुत सीमित होता है । सामान्यतः स्त्री और पुरुष के लिए कार्यक्षेत्र का विभाजन था । स्त्री घर को संभालती और पुरुष घर से बाहर काम करता । वैसे घर संभालना भी कोई छोटा काम नहीं है । पर उसे सामाजिक मूल्य कम मिला तो स्त्री ने घर से बाहर पग उठा लिये । विचारशील लोग इस प्रस्थान से सहमत थे, किन्तु परम्परावादी लोगों को यह सहन नहीं हुआ । उन्होंने कहना शुरू किया–'औरत का अपनी औकात से बाहर काम नहीं करना चाहिए । वह गृहिणी है, अधिकारिणी नहीं है जो मनमर्जी कुछ भी करती रहे । स्त्री पुरुष के अधीन रहकर ही सुरक्षित रह सकती है । पारिवारिक और सामाजिक मुद्दों पर छिड़ी यह बहस स्त्री की सोच और क्षमता को भी अपने भीतर लीलती गई । समान श्रम और समान वेतन की बात सिद्धान्ततः स्वीकृत होने पर भी स्त्री को पुरुष की तुलना में कम वेतन मिलता है । विकास के कुछ ऐसे अवसरों का लाभ स्त्री को

इसलिए नहीं मिलता, चूंकि वह स्त्री है, यह कैसी विडम्वना है। कई परिवारों में वेटी को वेटे की तरह पालने तक की मानसिकता नहीं है। इस मानसिकता का रोमांचकारी उदाहरण है कन्याभ्रूण की वढ़ती हुई हत्या।

एक समय था जव सन्तान की प्राप्ति में मनुष्य पराधीन था। सन्तान क्या हो ? कैसी हो ? इस सम्वन्ध में किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। जव से 'टेस्ट ट्यूव वेवी' अस्तित्व में आई है, प्रजजन विज्ञान में नये-नये अनुसंधान होने लगे हैं। ऐसे ही एक अनुसंधान से गर्भस्थ शिशु के लिंग का ज्ञान किया जाता है। लिंग की पहचान कराने वाली पद्धति का नाम है, 'एमिनो सिंथेसिस'। इस पद्धति के विकास का उद्देश्य था– गर्भस्थ शिशु में उपस्थित विषमताओं का अध्ययन। उस अध्ययन से शिशु की अपंगता, मानसिक असंतुलन, आनुवंशिक वीमारी आदि का पता लगाकर उसका उपचार करने की वात प्रमुख थी। किन्तु यह वात गौण हो गई और प्रमुख लक्ष्य वन गया गर्भस्थ शिशु के लिंग का ज्ञान। चिकित्सक 'एमिनो सिंथेसिस' द्वारा गर्भ परीक्षण कर वता देते हैं कि गर्भ में लड़का है या लड़की। लड़की होती है तो गर्भ समापत करा लिया जाता है। एक वम्वई महानगर में हुए सर्वे के अनुसार निन्नानवे प्रतिशत गर्भसमापन कन्याभ्रूणों का होता है। यह नारी शोषण का आधुनिक वैज्ञानिक रूप है। इसमें कन्या भ्रूण की हत्या का अधिक दायित्व उसकी मां का होता है।

भारतीय मां की ममता का एक रूप तो वह था, जव वह अपने विकलांग, विक्षिप्त और वीमार वच्चे का आखिरी सांस तक पालन करती थी। परिवार के किसी भी सदस्य द्वारा की गई उसकी उपेक्षा से मां पूरी तरह से आहत हो जाती थी। वही भारतीय मां अपने अजन्मे अवोध शिशु को अपनी सहमति से समाप्त कर देती है। क्यों ? इसलिए नहीं कि वह विकलांग है, विक्षिप्त है, वीमार है। पर इसलिए कि वह एक लड़की है। क्या उसकी ममता का स्रोत सूख गया है ? कन्याभ्रूणों की वढ़ती हुई हत्या एक ओर मनुष्य को नृशंस करार दे रही है, तो दूसरी ओर स्त्रियों की संख्या में भारी कमी से मानविकी पर्यावरण में भारी असंतुलन का खतरा उत्पन्न कर रही है।

कन्याभ्रूण की हत्या महिला जाति की अवमानना है और प्रकृति के सन्तुलन को विगाड़ने का ऐसा प्रयास है, जो सीधा लोगों की आंख पर नहीं आता। इस अमानवीय और घातक प्रवृत्ति को रोकने के लिए धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक-सभी संगठनों को सम्मिलित अभियान चलाने की जरूरत है। ज्ञात हुआ है कि महाराष्ट्र में गर्भस्थ शिशु के लिंग का पता करने वाली सभी तकनीकों पर कानूनी रोक लगा दी गई है। महाराष्ट्र के स्वास्थ्य राज्य मंत्री ने इस सिलसिले

में विधानसभा में अध्यादेश पेश किया था। इस कानून के बनने से वहां स्त्रीभ्रू हत्याओं पर स्वतः रोक लग गई है। देखना यह है कि अब कितने राज्य महाराष् का अनुकरण कर इस मानवीय अभियान में अपनी साझेदारी निभाते हैं।

कानून बनने के बाद कन्याभ्रूणों की हत्या रुक ही जाएगी, ऐसा मानना भ यर्थाथ से आंख मूंदना है। क्योंकि जब तक लोगों की मानसिकता नहीं बदलेगी, गैरकानूनी तौर पर ऐसे हादसे होते रहेंगे। इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ते देश की यह पंगु मानसिकता क्या इसे पीछे घसीट कर अठारहवीं शताब्दी में नहीं ले जाएगी?

३९. संयुक्त परिवार की वापसी आवश्यक

कभी-कभी मुझे एक क्षीण-सा स्वर सुनाई देता है– 'क्या संयुक्त परिवार की वापसी संभव है ? इस स्वर के पीछे निहित है अपनापे से भरे नाते-रिश्तों की एक लम्बी परंपरा। इस बीसवीं सदी में भारत में जो उपलब्धियां या अनुपलब्धियां हुई हैं, उनमें एक बहुत बड़ा विचारणीय पहलू है 'पारिवारिक विघटन।' एक समय था जब सौ-पचास व्यक्तियों का परिवार एक सूत्र में बंधकर रहता था। उनका सुख-दुःख साझा होता था। एक का सुख, सबका सुख और एक का दुःख सबका दुःख। केवल सुविधा-दुविधा ही नहीं, उनका चिन्तन भी साझा होता था। वे अपने चिन्तन को दूसरे के चिन्तन में विलीन करना जानते थे। उनका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता था, इसलिए निजी सोच को विकसित होने का अवसर ही नहीं मिलता था। वे आत्मकेन्द्रित न होकर परिवार केन्द्रित होते थे। परिवार के लिए अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं का विसर्जन करने का संस्कार उन्हें जन्म घुट्टी के साथ मिलता था। यही कारण है कि यहां बड़े-बड़े परिवारों की संस्कृति फली-फूली।

पश्चिम की संस्कृति व्यक्तिवादी संस्कृति है। वहां के लोग आत्मकेन्द्रित होते हैं। व्यक्तिगत जीवन में वे किसी का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते। उनके पारिवारिक रिश्ते गुंथे हुए नहीं होते। वहां का कोई भी वयस्क व्यक्ति अपने माता-पिता पर निर्भर नहीं रहता। निर्भर तो क्या, वह उनके साथ रहना भी पसंद नहीं करता। वहां पति-पत्नी का रिश्ता भी स्थिर नहीं होता। जब इच्छा हो, एक-दूसरे को तलाक देना या लेना साधारण-सी बात है। क्योंकि उस रिश्ते का जुड़ाव न तो अभिभावकों द्वारा होता है और न किसी सिद्धान्त के आधार पर होता है। छोटे से परिचय और भावुकता के आवेग से होने वाले सम्बन्ध में स्थिरता आएगी भी कैसे ?

पति-पत्नी के सम्बन्धों की मधुरता में भी संयुक्त परिवार की अहम भूमिका रही है। स्त्री हो या पुरुष, मानसिक एवं सामाजिक समस्याएं सबके सामने रहती हैं। समूह में रहने वाले व्यक्ति भी समस्याओं से आक्रान्त होते हैं। पर उनके सामने दिन भर में ऐसे कई प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं, जब वे अपने मन की बात

कह सुनकर हल्के हो जाते हैं। पति-पत्नी जिस समय आमने-सामने होते हैं, वे काफी बातों को भूल चुके होते हैं। इसलिए उनके बीच तनाव की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। किन्तु जहां घर में पत्नी अकेली रहती है, वह पूरे दिन में किससे बात करे? किसके सामने अपना मुंह खोले ? प्रशंसा या प्रताड़ना किससे पाए ? अपनी सारी समस्याओं को पति के सामने वह उस समय रखती है, जब वह थका-हारा घर लौटता है और पूर्ण विश्राम चाहता है। फलतः तनाव बढ़ता है और सम्बन्धों में कटुता का प्रवेश होने लगता है।

पश्चिम की संस्कृति में वृद्ध माता-पिता भी अपने बच्चों के साथ रहने की मानसिकता नहीं रखते। वहां न कोई किसी से विशेष अपेक्षा रखता है और न कोई किसी का विश्वास करता है। इसी कारण आपस में शिकवे-शिकायत की मनोवृत्ति भी नहीं रहती।

प्रश्न यह उठता है कि इन दो प्रकार की संस्कृतियों में कौन-सी संस्कृति अच्छी है ? किसी भी संस्कृति, परंपरा या रीति-रिवाज की अच्छाई उसकी उपयोगिता पर निर्भर है। पाश्चात्य देशों का अपना परिवेश है। वहां संयुक्त परिवार की संस्कृति पनप सकती है या नहीं, चिन्तन का विषय है। भारतीय परिवेश में यह संस्कृति बद्धमूल थी। इसके कारण जीवन में निश्चिन्तता और स्थिरता रहती थी।

परिवार में कोई सदस्य बीमार या अपाहिज हो जाता, वह असहाय नहीं बनता था। परिवार के अन्य सदस्य उसकी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक अपेक्षाओं की पूर्ति कर देते थे। पीहर, ससुराल तथा अन्यत्र कहीं जाने-आने के लिए बच्चों के अवकाश की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी। बच्चों का लालन-पालन मां अथवा आया के भरोसे ही नहीं होता था।

बच्चों को संस्कार देने का काम परिवार की बड़ी-बूढ़ी महिलाओं के हिस्से में आता था। नानी-दादी की वे मीठी कहानियां, प्यार भरी लोरियां और नेह-पगे हाथों की सहलाहट बच्चों में वह बहुत कुछ भर देती थी, जो उनके जीवन निर्माण हेतु आवश्यक होता था।

संयुक्त परिवार का एक बड़ा लाभ था सहयोग भावना का विकास। सहयोग की सौरभ केवल परिवार तक ही सीमित नहीं थी। पास-पड़ोस और दूर की रिश्तेदारी में भी सहयोग का आदान-प्रदान होता रहता था। घर में पापड़-बड़ी बनाने की संस्कृति इस सहयोग-भावना के आधार पर ही टिकी हुई थी। इसी प्रकार जन्म, विवाह, मृत्यु आदि सुख-दुःख के प्रसंग अन्तरंग रूप से सहभागी बनने के प्रसंग माने जाते थे।

अकेला व्यक्ति अपने आप को असहाय अनुभव करता है। उसके सुख-दुःख में किसी की हिस्सेदारी नहीं होती। न वह किसी के सामने अपना मन खोल पाता है और न किसी की सहानुभूति प्राप्त कर सकता है। उसके मन की मुस्कान छिन जाती है और वह दिन-ब-दिन टूटता जाता है।

एक अस्सी वर्षीया अध्यापिका अकेलेपन की त्रासदी भोग रही थी। एक दिन उसे अपने तीस वर्ष पुराने छात्र विलियम एल० स्टिजर का पत्र मिला। पत्र क्या था उसके लिए खुशियों का खजाना था। वह अकेली रहती थी। हाथ से खाना पकाती, अकेली खाती और अपने आपको पेड़ की अन्तिम पत्ती-सी मानती थी। उसने पचास वर्षों तक अध्यापन का काम किया। उस पूरी अवधि में वह पहला पत्र उसे मिला जिसमें उसके अध्यापन की प्रशंसा की गई थी। उसका बूढ़ा और बुझा-बुझा मन उस दिन इतना प्रसन्न था, जितनी प्रसन्नता उसे पूरे जीवन में नहीं मिली। एक छोटा-सा पत्र व्यक्ति के जीवन में इतनी खुशहाली भर सकता है। इसके आधार पर उस खुशी या सुख की कल्पना की जा सकती है, जो समूह में रहने से, सबका स्नेह, सहानुभूति और सहयोग पाने से मिलता है।

संयुक्त परिवार में लाभ ही लाभ है, यह बात भी ऐकान्तिक है। सामूहिक जीवन की कुछ कठिनाइयां भी हैं। सहिष्णु व्यक्ति ही उन कठिनाइयों में टिक कर रह सकता है। पर यह तथ्य सही प्रतीत होता है कि पारिवारिक विघटन से जितनी समस्याएं उभर रही है, उतनी संयुक्त परिवार की व्यवस्था में नहीं हो सकतीं।

पता नहीं संयुक्त परिवार की संस्कृति में पहली दरार कब पड़ी, पर यह धीरे-धीरे टूटने की विवशता भोगती जा रही है। कारण कुछ भी रहा हो, इस परंपरा के टूटने से सम्बन्धों की मधुरता में उपचार घुलता जा रहा है। नगरीय जीवन की तो यह सभ्यता हो गई है कि परिवार छोटा और निरपेक्ष हो। आसपास की तो बात ही क्या ? एक ही मकान के आमने-सामने दो फ्लेटों में रहने वाले परिवार भी एक-दूसरे से परिचित नहीं हो पाते। घर में कोई रिश्तेदार आ जाए तो जीवन का क्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है। मैत्री सम्बन्धों की संस्कृति एक सीमा तक सांस ले रही है। पर सहज रिश्तों का गला घोंटा जा रहा है या उसमें घुटन अनुभव की जा रही है।

इस सन्दर्भ में विचारणीय पहलू यह है कि जो कुछ हो रहा है, वह सोच-विचार पूर्वक हो रहा है या किसी विदेशी संस्कृति का अनधानुकरण मात्र हो रहा है। किसी भी परम्परा में चिन्तनपूर्वक किया जाने वाला परिवर्तन समाज के हितों में हो सकता है। किन्तु आंख मूंदकर किए गए परिवर्तन से कभी किसी का हित

सधा हो, समझ में नहीं आता ।

पारिवारिक विश्वास, समर्पण और सहयोग भावना को ताक पर रख कर पारिवारिक विघटन को जन्म देने वाली मानसिकता के सामने फिर से एक प्रश्नचिह्न टंग रहा है । इस प्रश्न को खूंटी से उतारने का दायित्व आज की युवापीढ़ी पर है और आने वाली पीढ़ी पर है । ये दोनों पीढ़ियां अपने बुजुर्गों के भोगे हुए सच को अपना सच मानकर ही संयुक्त परिवार की वापसी के बारे में कोई नया वातावरण सरज सकती हैं ।

४०. बालक कुछ लेकर भी आता है

युग का भविष्य उसकी नयी पीढ़ी पर निर्भर रहता है। जिस युग की नयी पीढ़ी जितनी अधिक शालीन, सुसंस्कृत, सुघड़ और शिक्षित होती है, उस युग के विकास की संभावनाएं उतनी ही प्रकार रहती है। राष्ट्र, समाज और परिवार के साथ भी यही सिद्धान्त घटित होता है। इसके आधार पर यह बात स्पष्ट होती है कि आज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण या करणीय काम है बच्चों का संस्कार-निर्माण।

कुछ लोगों का यह अभिमत है कि बच्चे का जीवन सफेद कागज जैसा होता है। उस पर व्यक्ति जैसे चाहे, वैसे चित्र उकेर सकता है। बच्चे को जिस दिशा में मोड़ना हो, सरलता से मोड़ा जा सकता है। एक दृष्टि से यह मतंव्य सही हो सकता है पर यह सर्वांगीण दृष्टिकोण नहीं है। क्योंकि हर बच्चा अपने साथ आनुवंशिकता लेकर आता है, गुणसूत्र (क्रोमोसोम) और संस्कारसूत्र (जीन्स) लेकर आता है। सामाजिक वातावरण भी उसके व्यक्तित्व का एक घटक है। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्कार-निर्माण के बीज हर बच्चा अपने साथ लाता है। सामाजिक या पारिवारिक वातावरण में उसे ऐसे निमित्त मिलते हैं, जिनके आधार पर उसके संस्कार विकसित होते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि माता-पिता अपनी सन्तान के लिए भौतिक सुख-सुविधाओं के साधन जुटा देते हैं, शिक्षा एवं चिकित्सा की व्यवस्था कर देते हैं, पर उनके लिए सर्वांगीण विकास के अवसर कम खोजते हैं। कुछ अभिभावक तो ऐसे होते हैं, जो उनकी शिक्षा और आत्मनिर्भरता के बारे में भी उदासीन रहते हैं। उचित मार्गदर्शन के अभाव में अथवा अधिक लाड-प्यार में या तो बच्चे कुछ करते ही नहीं या इस प्रकार के काम करते हैं, जो उन्हें भटकाने में निमित्त बनते हैं। ऐसी परिस्थिति में हर समझदार माता-पिता का यह दायित्व है कि वे अपने बच्चों को परवरिश में संस्कार-निर्माण की बात को न भूलें।

जो माता-पिता अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों के भरोसे छोड़ देते हैं, वे

उनके साथ न्याय नहीं करते । प्राइवेट स्कूलों में भी, जहां संस्कारपक्ष गौंण होता है और बौद्धिक विकास प्रमुख होता है, बच्चों का समग्र विकास नहीं हो सकता। धार्मिक लोगों को तो इस बिन्दु पर गंभीरता से सोचना चाहिए । कान्वेंट्स और पब्लिक स्कूल आधुनिक कहलाने वाले अभिभावकों के लिए आकर्षण के केन्द्र है। वे मानते हैं कि स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे आधुनिक रूप में विकसित होते हैं, समाज में जीने के तौर-तरीके बहुत अच्छे ढंग से सीखते हैं । कुछ अंशों में यह बात सही हो सकती है । पर सामाजिक तौर-तरीके ही जीवन नहीं है । जीवन की समग्रता के लिए संस्कृति, परम्परा, अनुशासन, विनय, धैर्य, सच्चाई, सेवाभावना आदि अनेक मूल्यों को जीना सिखाने की जरूरत है । जिस शिक्षाक्रम में संस्कृति के मूल पर ही कुठाराघात हो, उससे संस्कार-निर्माण की बात फलित कैसे होगी ?

जो अभिभावक अपने बच्चों को केवल धार्मिक परीक्षाओं के माध्यम से संस्कारी बनाने की बात सोचते हैं, उनका चिन्तन भी अधूरा है । धार्मिक परीक्षाओं में भाग लेने वाले बच्चे कुछ ही दिन पढ़ते हैं और परीक्षा के बाद प्रायः सब कुछ भूल जाते हैं । ऐसी स्थिति में उनके ज्ञान और चरित्र का धरातल ठोस नहीं बन पाता।

आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों को निरन्तर ऐसा वातावरण मिले और उनके शिक्षाक्रम में कुछ ऐसी चीजें जुड़ें, जो उनको बौद्धिक विकास के साथ भावनात्मक विकास के शिखर तक पहुंचा सकें ।

समाज के चिन्तनशील लोगों ने इस समस्या को समाहित करने के लिए एक योजना बनाई है । उसके अनुसार प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च माध्यमिक शिक्षा तक मूल पाठ्यक्रम के साथ नैतिक एवं धार्मिक संस्कार देने वाला पाठ्यक्रम विशेष रूप से रहेगा । इस पाठ्यक्रम में यह लक्ष्य रखा गया है कि बच्चों को जो कुछ सिखाना है, बहुत सरलता और प्रियता के साथ सिखाया जाए । सरलता और प्रियता से शिक्षा देने में कहानी और चित्र–इन दो विधाओं का समुचित उपयोग किया जाए।

अध्यापक बच्चों को केवल पुस्तक पढ़ाकर ही छुट्टी न लें । वे उनके साथ संवाद स्थापित करें । बच्चों को जो कुछ सिखाना है, उन्हीं के मुंह से कहलाएं। अध्यापकों का यह दायित्व भी है कि वे बालमनोविज्ञान पढ़ें । उसके आधार पर बच्चों की मानसिकता को समझकर वे उन्हें जीवन की सही दिशा में अग्रसर करें।

स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाना सरल है, पर बहुत छोटे बच्चों को पढ़ाना कठिन है । ऊंचे स्तर का साहित्य लिखना जितना कठिन

नहीं है, उतना कठिन है वाल साहित्य का निर्माण। इस दृष्टि से योग्य अध्यापकों को प्रशिक्षित करना होगा। प्रशिक्षित अध्यापक न हों तो कोई भी शिक्षा संस्थान और पाठ्यक्रम बच्चों को सुन्दर भविष्य नहीं दे सकता। जैन विश्व भारती अध्यापकों को प्रशिक्षित करने का दायित्व संभाले और हर क्षेत्र के लोग अपने सामाजिक, पारिवारिक एवं नैतिक कर्तव्य को समझें तो समाज में ऐसा दीर्घजीवी उपक्रम चल सकता है, जो वच्चों के सर्वांगीण विकास में उपयोगी है।

४१. संस्कार-हीनता की समस्या

मां के सपनों का भविष्य 'बालक' जब पहली बार स्कूल जाता है, मां की आकांक्षाओं को नये पंख लग जाते हैं। वह सोचती है कि उसका बेटा कुछ बनने के लिए जा रहा है। बेटे को बनाने की ललक में वह अपनी सुख-सुविधाओं को भी गौण कर देती है। वह देखना चाहती है अपने लाडले का उदात्त चरित्र और अनुशासित जीवन। चरित्र और अनुशासन के संस्कार विकसित करने के समय में कोई भी बालक यदि हिंसा की ओर कदम बढ़ाता है, अपराधी मनोवृत्ति के शिकंजे में जकड़ जाता है, उच्छृंखल बन जाता है अथवा नशीली चीजों का सेवन कर भान भूल जाता है, उस समय आंखों के सामने कुछ ऐसे प्रश्नचिह्न खड़े हो जाते हैं, जिनका समाधान आवश्यक है।

पहला और अहम सवाल यह है कि बालक इतना संस्कारहीन क्यों बन जाता है ? यह आनुवंशिकता का प्रभाव है या वातावरण का ? घरेलू परिस्थिति उसे अपराध के क्षेत्र में धकेलती है अथवा संगति के कारण उसका रुझान बदलता है? सिनेमा और टेलीविजन जैसे माध्यमों से देश की भावी पीढ़ी के पग गलत दिशा में उठ रहे हैं या अकारण ही संस्कारहीनता का आक्रमण हो रहा है ? आज हालात को देखते हुए लगता है कि इक्कीसवीं सदी के किशोर और अधिक संस्कारहीन होंगे। ऐसी स्थिति में परिवार, समाज और राष्ट्र के विकृतियों भरे चेहरों की कल्पना मात्र से सिहरन होने लगती है।

संस्कारहीनता की कारण-शृंखला का विश्लेषण किया जाए तो कुछ बातें साफ-साफ उभरकर सामने आती है। आध्यात्मिक वातावरण का अभाव, धार्मिक गुरुओं के सम्पर्क का अभाव, संस्कार निर्माणकारी साहित्य की कमी एवं वैसे साहित्य के अध्ययन में अभिरुचि की कमी, नानी, दादी द्वारा कहानियों के द्वारा दिए जाने वाले संस्कारों का अभाव, संस्कार-निर्माण के क्षेत्र में माता-पिता की अजागरूकता, अपराधी मनोवृत्ति को उत्तेजन देने वाले दृश्य और श्रव्य साधन आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं,

जो बच्चों की विवेक प्रज्ञा को भोंथरा बना देते हैं। ऐसे बच्चे कब क्या कर बैठें, कुछ कहना कठिन है।

आज देश में आतंकवाद का भूत नित नये नाच कर रहा है। पंजाब की धरती खून से नह रही है। बिहार, गुजरात, असम, लंका आदि अनेक प्रदेशों में यदा-कदा हिंसा की सक्रियता देखने और सुनने में आती है। यत्र-तत्र अन्य समस्याएं भी सिर उठाकर खड़ी हो जाती हैं। संभव है निकट भविष्य में आतंकवाद की जड़ें कट जाएं, हिंसा विफल हो जाए, दूसरी समस्याएं भी सुलझ जाएं, किन्तु संस्कारहीनता के कारण बच्चों का जो नया आतंकवाद जनम ले रहा है, उस पर काबू कैसे होगा ?

इस आतंकवाद का ताजा उदाहरण है बच्चों द्वारा बच्चों का अपहरण और हत्या। गांधी का देश। महावीर के आदर्शों पर आस्था। अहिंसा के परिवेश में हिंसा का यह ताण्डव रोमांचित करने वाला है। सत्रह और पन्द्रह वर्ष के दो किशोरों ने पांच और सात वर्षीय दो बच्चों का अपहरण किया। क्यों ? क्योंकि उन्होंने पहले ही एक दिन एक फिल्म देखी थी– 'पाप की दुनिया' उसमें जो कुछ देखा, उससे उनका मन उत्तेजित हो उठा। उन्होंने बहुत जल्दी योजना बनाई और उसकी क्रियान्विति कर दी। जहां तक ज्ञात हुआ है, बच्चों की हत्या करना उनका उद्देश्य नहीं था। वे बच्चों का अपहरण कर उनकी फिरौती में रुपये पाना चाहते थे। रुपये भी इसलिए नहीं कि वे अभावों में पले थे। भाव, प्रतिशोध आदि किसी भी कारण की अनुपस्थिति में उन अवयस्क किशोरों ने दो मासूम जानों को मौत के हवाले कर दिया। यह घटना जितनी द्रावक है उतनी ही विचारणीय है।

सिनेमा और टी० वी० के विरोध में कहीं से भी कोई स्वर उठता है तो लोग दलील देते हैं कि टी० वी० में रामायण का सीरियल कितना शिक्षाप्रद है। रामायण का जहां तक प्रश्न है, यह लोक-मानस में इस तरह घुली हुई है कि उसके नाम से ही करोड़ों लोगों में आस्था के अंकुर उग जाते हैं। पर उससे भी बच्चे क्या सीख पाते हैं। समाचार पत्रों में पढ़ा कि कुछ बच्चों ने रामायण देखकर तीरों का प्रयोग किया और उससे किसी की आंखें फोड़ डालीं। एक दूसरा संवाद सुना कि किसी बच्चे ने हनुमान की भूमिका अदा करते हुए किसी के घर आग लगा दी। इस प्रकार के और भी अनेक हादसे हो सकते हैं। क्या इन सबसे आंखें मूंदकर बैठा जा सकता है ?

आधुनिक साधनों की उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न लगाना मेरा काम नहीं है। पर यह तो निश्चित है कि आधुनिकता के प्रयोग में औचित्य की प्रज्ञा जागृत नहीं रही तो पारम्परिक संस्कारों की इतनी निर्मम हत्या हो जाएगी कि उनके अवशेष

भी देखने को नहीं मिलेंगे। संस्कारों का ऐसा हनन किसी व्यक्ति या समाज के लिए नहीं, पूरी मानव-संस्कृति के लिए बड़ा खतरा है।

जीवन में सृजन की नयी आकांक्षा संजोने के अवसर पर ध्वंस की चेतना का जागरण दिशाहीन का सूचक है। इस सूचना को ही अंतिम चैलेन्ज मानकर बच्चों के अभिभावक, शिक्षक और धर्मगुरु ऐसी नयी दिशा की खोज करें, जो देश की भावी पीढ़ी को और कुछ नहीं तो सुयोग्य नागरिक बना सके। उनको पाशविकता के शिकंजे से मुक्त कर मानवीय धरातल पर खड़ा कर सके। शिक्षा की धुंधलाती जा रही दृष्टि को परिमार्जित कर सके। समय रहते इस दिशा में प्रस्थान नहीं हुआ तो ऐसे हादसों को रोकना मुश्किल ही नहीं, असंभव हो जाएगा।

४२. संतान का कोई लिंग नहीं होता

शिक्षा जीवन का एक संस्कार है । इससे जीवन-शैली में परिष्कार होता है और सोच में बदलाव आता है । शिक्षा की अपेक्षा पुरुष के लिए जितनी है, उतनी ही स्त्री के लिए है । शिक्षित स्त्रियों ने अपना जीवन बनाया, परिवार को संस्कारी बनाया, समाज एवं राष्ट्र के लिए भी काम किया । इसके विपरीत जो स्त्रियां शिक्षा से वंचित रहीं, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ीं, पुस्तकीय शिक्षा को जीवनगत नहीं कर पायीं, वे अपना जीवन भी सही ढंग से नहीं जी पायीं । शिक्षा का सम्बन्ध केवल साक्षर होने से नहीं है । यहां से शिक्षा का प्रारंभ होता है । अक्षरों का हाथ पकड़कर चलना एक यात्रा की शुरूआत है । अक्षरों के माध्यम से जो कुछ कहा जाता है, वह जब तक जीवन में नहीं उतरता है, शिक्षा की सार्थकता के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है ।

भारत के देहातों और गांवों का महिला समाज स्वतंत्रता के चार दशक बाद भी निरक्षर होने और रहने का अभिशाप भोग रहा है । अशिक्षा, अन्धविश्वास और कुरूढ़ियों की गिरफ्त इतनी मजबूत है कि वह अपने जीवन को नया मोड़ देने की बात सोच ही नहीं सकता । एटमिक और स्पेश युग में भी ऐसी लक्ष्मण रेखा के भीतर खड़ा है, जो उसे महिला होने का बोधपाठ दे रहा है । शहरी संस्कृति में पली या किसी प्रबुद्ध वर्ग में खड़ी महिला होने का बोधपाठ दे रहा है । शहरी संस्कृति में पली या किसी प्रबुद्ध वर्ग में खड़ी कोई महिला अनन्तकाल से मान्य पुरुषों के कार्यक्षेत्र में प्रवेश करती है तो उसके स्त्रीत्व को आशंकाओं के घेरे में खड़ा होना पड़ता है । जो स्त्री पुरुषों के साथ काम करे अथवा पुरुषों जैसा काम करे, उसके लिए कहा जाता है–वह औरत तो मर्द है । क्या अर्थ है इस कहावत का ? विकास के रास्ते पर दो-चार पग भरने वाली स्त्री की वहां से वापसी ही इसका उद्देश्य हो तो अलग बात है । अन्यथा कोई स्त्री अपनी क्षमता का उपयोग किसी नये कार्यक्षेत्र में करती है तो उसमें दोष क्या है ?

समाज के विकास में स्त्री और पुरुष–दोनों की बराबर की भागीदारी है ।ऐसी

स्थिति में किसी का होना कोई हीनता की बात नहीं है। पर जिस परिवेश में महिला की कोई अस्मिता ही न हो, वहां महिला के रूप में जन्म लेना एक बड़ी त्रासदी है। ऐसे परिवेश की मानसिकता और परंपराएं महिला जाति के आत्मविश्वास पर आघात करती हैं। आहत मन वाली महिलाओं का व्यक्तित्व भी खण्डित हो जाता है। खण्डित व्यक्तित्व वाली महिलाएं किसी अखण्ड व्यक्तित्व का निर्माण कर पाएंगी, यह कल्पना भी कैसे हो सकती है ?

महिला के अनेक रूप हैं। उसका एक रूप है मां का। मां का सबसे बड़ा संसार होता है उसकी सन्तान। सन्तान का कोई लिंग नहीं होता। लड़का हो या लड़की, वह अपनी मां का अभिन्न आत्मीय होता है। उसकी ममता का सेक दोनों को मिलता है। कोई बच्चा शरीर या मस्तिष्क से अपाहिज हो तो भी मां की ममता में अन्तर नहीं आता। कभी-कभी तो यह देखा जाता है कि बच्चों के साथ उसका लगाव अधिक होता है। प्रत्येक मां अपने उसी बच्चे का साथ देना चाहती है, जो किसी दृष्टि से कमजोर या उपेक्षित हो।

एक ओर मां के मन में उमड़ता हुआ ममता का ज्वार, दूसरी ओर कन्याभ्रूणों एवं नवजात बच्चियों को मारने की संस्कृति। अभी पिछले दिनों राजस्थान विधान सभा में नवजात बच्चियों को मारने की कथित परम्परा को लेकर भारी हंगामा मचा। कन्याभ्रूणों की हत्या में बढ़ता हुआ संख्या का अनुपात भी विचारशील लोगों को आन्दोलित कर रहा है। भारत जैसे धर्मप्रधान देश में ये घटनाएं वास्तव में अवांछनीय हैं। इस संदर्भ में पूरे समाज और विशेषरूप से महिला समाज की मानसिकता को बदलने की जरूरत है। जब तक उनकी मानसिकता नहीं बदलेगी, किसी-न-किसी रूप में मानव समाज के माथे पर यह कलंक का धब्बा लगा रहेगा। जिस किसी व्यक्ति या वर्ग ने इस अमानवीय प्रथा को जन्म दिया है, उसे मानवता कभी माफ नहीं करेगी।

सभ्य और सुसंस्कृत कहा जाने वाला आज का मनुष्य-समाज परिवार-नियोजन की संस्कृति को तेजी के साथ स्वीकार करता जा रहा है। परिवार-नियोजन के साथ हमारी कोई असहमति नहीं है। पर हमारा विश्वास संयम है। कृत्रिम साधनों का उपयोग मुक्त कामुकता को सीधा प्रोत्साहन है। भारतीय लोग संयम के मूल्यों को समझें और बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या को संयम के द्वारा सुलझाएं तो पार्श्ववर्ती कई अन्य समस्याओं का समाधान हो सकता है।

नियोजित परिवार में दो या तीन बच्चों को वांछनीय माना जाता है। दो बच्चों में एक लड़का और एक लड़की का गणित बिठाया जाए तो मानविकी पर्यावरण संतुलित रह सकता है। किन्तु तीन बच्चों में दो लड़के और एक लड़की का अनुपात

रखा गया तो इक्कीसवीं सदी में किसी भी समय लड़कियों के अकाल की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जिस समय यह संभावना प्रबल होगी, कन्याभ्रूण की हत्या, नवजात कन्या की हत्या और दहेज संबंधी हत्या को समाज का पागलपन मानकर उसकी भर्त्सना की जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जिस व्यक्ति या समाज की कर्म सिद्धान्त में आस्था है, वह जानता है कि पंचेन्द्रिय प्राणी का ऐसा नृशंस वध उसे कहां ले जाकर छोड़ेगा? धर्म-कर्म की बात कोई स्वीकार करे या नहीं, मानवीय मूल्यों को तो कोई भी नकार नहीं सकता। महावीर, बुद्ध और गांधी के देश में महिला जाति के सामने सुरक्षित और निश्चिन्त जीवन जीने की समस्या इतनी आक्रामक मुद्रा में खड़ी है कि इसके समाधान हेतु अविलम्ब सघन प्रयत्न आवश्यक हैं। धर्म, समाज या राजनीति के मंच से समाज-सुधार का नारा बुलन्द करने वालों की उदार मुद्राएं तभी सार्थक हो सकेंगी, जब बेगुनाह कन्याभ्रूणों और नवजात कन्याओं से उसका जीवन नहीं छीना जाएगा।

४३. नारी-शोषण का नया रूप

संसद के ग्रीष्मकालीन सत्र १९८७ मे एक विधेयक पारित किया गया। उसके अनुसार अश्लील पोस्टर, पत्र-पत्रिकाओं और विज्ञापन में नारी-देह की अश्लील प्रस्तुति दण्डनीय अपराध मानी जाएगी। कानून बनना एक बात है और उसका पालन होना दूसरी बात है। जब तक कानून का पालन नहीं होता, उसके होने की सार्थकता क्या है ? भारत के संविधान में बाल-विवाह प्रतिबंधित है। पर प्रति वर्ष सैकड़ों-हजारों विवाह ऐसे हो रहे हैं। क्या यह बात किसी से छिपी हुई है ? दहेज का कानून सन् ६१ में बन चुका था। बावजूद इसके खुलेआम दहेज की मांग, ठहराव और प्रदर्शन का दौर चल रहा है। दहेज-हत्याओं की संख्या का अनुपात उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। क्या यह किसी से अज्ञात है ? और भी ऐसे कई बिन्दु हो सकते हैं, जो कानून की दृष्टि में प्रतिबन्धित हैं, पर जनजीवन में उनका थोड़ा भी प्रभाव नहीं है। ऐसे प्रभावहीन कानून क्या राष्ट्र की जीवनधारा को बदल सकते हैं ?

कानून का पालन तब होगा, जब सामाजिक मानदण्ड बदलेंगे और मनुष्य की सोच बदलेगी। जब तक सामाजिक और वैयक्तिक स्तर पर चेतना नहीं जागती है, किसी भी बुराई का सम्पूर्ण उन्मूलन नहीं हो पाएगा। व्यवस्था-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन का समुचित योग किसी भी बद्धमूल परम्परा को उखाड़कर फेंक सकता है। अन्यथा कितने ही पोस्टर फाड़े जाएं, विज्ञापनों पर स्याही पोती जाए और धरने दिए जाएं, जनता के कान पर जूं तक नहीं रेंग सकती।

प्रश्न यह है कि नारी-देह की अश्लील प्रस्तुति कौन करता है ? इसके लिए कुछ लोग फिल्मों को दोषी ठहराते हैं और कुछ लोग विज्ञापन एजेंसियों को। एक दृष्टि से यह ठीक है। फिल्म-निर्माता अपनी फिल्म को 'हिट' करने के लिए, पत्रकार अपने पत्र-पत्रिकाओं की मांग बढ़ाने के लिए और वस्तु-निर्माता अपनी-अपनी वस्तु की ओर उपभोक्ताओं का ध्यान खींचने के लिए नारी-देह का उपयोग करते हैं।

पर इससे भी अधिक चिन्तनीय बिन्दु है महिलाओं द्वारा अश्लील प्रस्तुति के लिए राजी होना। उनके सामने एकमात्र प्रलोभन है ढ़ेर सारा धन बटोरने का। निमित्त कुछ भी हो, महिलाएं 'माडलिंग' के क्षेत्र में जाएं ही नहीं तो उनके चित्रों का दुरुपयोग क्यो होगा ?

मुझे ऐसा लगता है कि एक व्यवसायी को अपना व्यवसाय चलाने की जितनी आकांक्षा होती है, शायद उससे भी अधिक आकांक्षा उन महिलाओं के मन में पल रही होगी, जो समाज के मूल्य-मानकों को ताक पर रखकर कैमरे के सामने प्रस्तुत होती हैं।

स्त्री आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बने, यह बुराई नहीं है। स्त्री के सम्बन्ध में सामाजिक सोच को बदलने तथा समुचित सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए कोई स्त्री आर्थिक स्वावलम्बन की दिशा में कदम बढ़ाए, इसे सामाजिक मान्यता प्राप्त है। पर अहम सवाल यह है कि उसकी आत्मनिर्भरता का तरीका क्या है ? सामाजिक कुरीतियों से लड़ने और उनसे मुक्त होने का अर्थ यह नहीं है कि वह सामाजिक शिष्टता की सीमा का अतिक्रमण कर दे।

महिलाओं की बिगड़ती हुई छवि से चिंतित होकर जिन महिला संगठनों ने विज्ञापन आदि में स्त्री के उपयोग का विरोध किया, उसका औचित्य समझ में आता है। पर विरोध का यह स्वर विज्ञापन एजेंसियों अथवा फिल्म-निर्माताओं को लक्ष्य कर उठा है। क्या इससे अधिक उचित यह नहीं होगा कि उन महिलाओं की मानसिकता को बदला जाए, जो ऐसे व्यवसाय से जुड़ती है।

यदि स्वयं महिलाएं अपनी जाति का गौरव सुरक्षित नहीं रखेंगी तो दूसरों का विरोध किस धरातल पर हो सकेगा ? महिलाओं की शक्ति पर मुझे भरोसा है। मैं स्वयं उनकी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक चेतना जगाने के पक्ष में हूं। इस क्षेत्र में हमारे समाज में काफी काम हुआ है, हो रहा है। पर भारतीय समाज में नारी का शोषण किसी एक ही स्तर पर नहीं हुआ है। एक ओर नारी-जागृति एवं नारी-मुक्ति के नारे बुलंदियों पर हैं, तो दूसरी और उनके शोषण के नए-नए रास्ते खुले रहे हैं। बहुत बार तो ऐसा होता है कि एक-स्त्री दूसरी स्त्री का शोषण करती है। ऐसी स्थिति में कुछ महिला संगठनों द्वारा चलाया गया अभियान सफल कैसे हो पाएगा ?

आज समाज में जो कुछ अवांछनीय हो रहा है, उससे छुटकारा पाने का सीधा-सा उपाय है मानसिकता का बदलाव। जब तक समाज की मानसिकता नहीं बदलेगी, अर्थ को सर्वोपरि महत्त्व मिलता रहेगा, तब तक उसकी प्राप्ति के लिए हर संभव उपाय काम में लिये जाएंगे। अर्थ के प्रति अतिरिक्त आकर्षण समाप्त हो, समाज

में सही मानदण्ड स्थापित हों, समय-समय पर उनके प्रति जागरूकता का वातावर बनता रहे और कोई भी स्त्री स्वयं को विज्ञापन, पोस्टर आदि के लिए प्रस्तुत करे तो संसद में पारित विधेयक की सार्थकता है। इसके लिए थोड़ी-थोड़ी जिम्मेवा सब वर्गों की हो सकती है, पर अधिक जिम्मेवारी महिलाओं की है। वे अपने दायित से प्रतिबद्ध रहकर ही अपनी छवि को उज्ज्वल रख सकती है।

४४. दक्षेस : बालिका वर्ष

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ का चौथा शिखर सम्मेलन इस्लामाबाद में सन् १९८८ के समापन के अवसर पर आयोजित हुआ। इसका संक्षिप्त नाम है दक्षेस। इसके सदस्य देश हैं– भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल, भूटान, श्रीलंका और मालदीव। इस सम्मेलन में इन देशों के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री सामूहिक रूप से अलग-अलग रूप से मिले। इन्होंने दक्षेस क्षेत्र के लोगों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की योजना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। व्यापार एवं उद्योग के क्षेत्र में आपसी सहयोग, उनके विचार-विमर्श का एक बिन्दु रहा और दक्षेस को आणविक हथियारों से सर्वथा मुक्त कर पारंपरिक हथियारों में कमी लाने की बात विशेष रूप से चर्चित रही। उल्लेखनीय बात यह है कि हथियारों की होड़ समाप्त करने का आह्वान पाकिस्तान के विदेशमंत्री याकूब खां ने किया।

दक्षिण एशियाई देशों में संबंधो की मधुरता, व्यावसायिक विकास और निःशस्त्रीकरण का मुद्दा सहज रूप से आकृष्ट करने वाला है। इससे भी अधिक महत्त्व की बात है दक्षेस के सात सदस्य देशों के विदेशमंत्रियों का वह निर्णय, जिसके अनुसार ये देश सन १९९० के वर्ष को 'दक्षेस बालिका वर्ष' के रूप में मनाएंगे। इस वर्ष बालिकाओं के लिए अनेक कल्याणकारी कार्यक्रम प्रारंभ करने के मीठे आश्वासन में इन देशों की महिला जाति को आशा की नयी किरण दिखाई दी होगी पर यह आश्वासन और घोषणा शब्दों की परिधि में ही कैद होकर न रह जाए, इस बिन्दु पर भी ध्यान केन्द्रित करना है।

सन् १९७५ का वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के रूप में मनाया गया। वर्ष की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक मनाने की घोषणा हुई। वर्ष बीत गया। दशक भी बीत गया। उस अवधि में महिला जाति के विकास हेतु किस स्थायी कार्यक्रम की आधारशिला रखी गई ? संयुक्तराष्ट्र संघ के द्वारा उद्घोषित अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष और दशक में विश्व स्तर पर महिलाओं के सम्मेलन आयोजित किए गए। प्रथम विश्व महिला सम्मेलन सन १९७५ में १९ जून से २ जुलाई तक मेक्सिको

में हुआ। उसमे एक सौ तैंतीस देशों की महिलाओं ने भाग लिया। सना १९८० में डेनमार्क में संयुक्त राष्ट्र-संघ संघीय महिला सम्मेलन हुआ। उसके बाद सन् १९८५ का सम्मेलन नैरोबी (केन्या) में हुआ। इसमें महिला दशक की उपलब्धियों का लेखा-जोखा लिया गया। महिला दशक पूरा होने के बाद सन् १९८७ जून २३ से मास्को में चौथी विश्व महिला कांफ्रेस हुई। इसमें एक सौ चौवन देशों के आठ सौ से अधिक महिला संगठनों ने भाग लिया। इस बीच पश्चिमी देशों में नारी-मुक्ति की लहर उठी। उसका हल्का-सा प्रभाव भारत पर भी हुआ। पूरे दशक की समीक्षा की जाए तो ऐसा नहीं लगता कि महिला दशक से पहले और पीछे की परिस्थितियों में कोई बहुत बड़ा अन्तर आया हो।

दक्षेस सम्मेलन में बालिकाओं के कल्याण हेतु जो मुद्दे उठाए गए है, उनमें प्रमुख हैं–

- बालिकाओं के अपहरण और खरीद-फरोख्त को रोकना।
- बालिकओं को वेश्यावृत्ति की ओर ढकेलने की प्रवृत्ति को बन्द करवाना।
- जन्म के साथ ही लड़के और लड़की के पालन में रहने वाले भेदभाव को समाप्त करने की मानसिकता का निर्माण करना।
- भोजन, शिक्षा आदि में लड़की होने के कारण होने वाली उपेक्षा को दूर करवाना।

भारत हो, पाकिस्तान हो, नेपाल या और कोई देश हो, उक्त प्रकार की घटनाएं किसी भी देश के गौरव को कम करने के लिए काफी हैं। स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिकों को निश्चिन्तता और सुरक्षा भी प्राप्त न हो तो स्वतंत्रता का अर्थ ही क्या रहता है? बालिका वर्ष में इन सब घटनाओं का समय पर ही प्रतिकार हो सका तो कम से कम सात देशो में महिला जाति को एक दीर्घकालीन त्रासदी से छुटकारा मिल सकेगा। मैं आशावादी हूं और चाहता हूं कि महिलाओं को भी पूरी गरिमा के साथ जीने का अधिकार मिले। किन्तु यह काम इतना सरल नहीं है। इसके लिए सबसे पहले महिलाओं की मानसिकता बदलनी होगी। जब तक वे अपनी पुत्री को पुत्र की तुलना में कम समझेंगी, बालिकाओं के शोषण की कहानी आगे-से-आगे बढ़ती जाएगी।

दक्षेस सम्मेलन में पारित महिला अथवा बालिका सम्वन्धी प्रस्तावों और निर्णयों को लागू करने के लिए किसी सुचिन्तित प्रक्रिया को अपनाना होगा। उस प्रक्रिया के तहत बालिकाओं में आत्मविश्वास और स्वाभिमान जगाना, उनके अभिभावकों को अपने दायित्व के प्रति सचेत करना, आर्थिक परावलम्बन को कम करना, दहेज,

हत्या एवं भ्रूणहत्या की समस्या से निपटने के लिए ठोस अभियान चलाना तथा इस दिशा में काम करने के लिए महिला संगठनों को विशेष रूप से सक्रिय करना आवश्यक प्रतीत होता है। अन्यथा कुपोषण, सारसंभाल की कमी और सुरक्षा का भय स्त्री जाति के अस्तित्व को निगलता जा रहा है। पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या में होती जा रही कमी एक नये प्रकार के असन्तुलन की समस्या को जन्म दे सकती है। समय रहते ही इस दिशा में गंभीर चिन्तन के साथ गंभीरता से काम करने की अपेक्षा है। सन् १९९० का वर्ष बालिकाओं को संभावित उत्पीड़न से त्राण देकर उनकी आत्मिक शक्ति को बढ़ाएगा, इस विश्वास के साथ मैं महिलाओं को निर्देश देना चाहूंगा कि वे अणुव्रत का रक्षा-कवच धारण कर वैयक्तिक और सामाजिक आघातों से टूटते हुए महिला समाज को जगाने, उठाने और रचनात्मक कार्यों में नियोजित करने की दिशा में पहल करें।

४५. व्यक्तित्व की कमी को भरना है

आज का आदमी एटोमिक युग में भी जी रहा है और स्पेश युग के सपने देख रहा है । धरती से प्राप्त होने वाले ऊर्जा के स्रोतों का उसने बखूबी दोहन किया है । अब वह आकाश का दोहन करने के लिए उद्यत हो रहा है । किन्तु उसकी मानसिकता में बहुत बड़ा अन्तर नहीं आया है । आज भी वह उन मूल्यों का बोझ ढो रहा है, जो वैयक्तिक और सामाजिक चेतना पर आवरण डालने वाले हैं । वह आज भी उन परम्पराओं में जी रहा है, जो केंचुल की भांति अर्थहीन है और गति में बाधा उपस्थित करने वाली हैं । वह आज भी सोच के उस वियावान में खड़ा है, जहां उसका पथ प्रशस्त नहीं है और मंजिल तक पहुंचाने वाला नहीं है। ऐसी स्थिति में धरती पर जनम रहे, पनप रहे सारे गलत मूल्यों के साथ संघर्ष करने का संकल्प जगा सके तो ऐसा क्षण भी उपस्थित हो सकता है जो मनुष्य के भीतर एक बेचैनी पैदा कर दे, उथल-पुथल मचा दे और ऐसी मशाल जला दे जो विचारों का सारा कल्मस धोकर उसके सामने दिव्य उजाला विछा दे ।

मूल्यों का संकट किसी एक प्रान्त, शहर, वर्ग या समाज में नहीं, पूरी मानव जाति इसे भोग रही है । ऐसी स्थिति में नारी अपवाद कैसे बन सकती है ? इस युग में नारी जाति के लिए सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व को समाज की सीधी स्वीकृति नहीं मिल पाती है । उसकी क्षमताओं का उपयोग करने के स्थान पर उसकी दुर्बलताओं के उभारा जाता है । उसके आत्मविश्वास को कम करने का प्रयास भी होता है । यद्यपि सब लोगों का दृष्टिकोण एक समान नहीं होता । फिर भी जिस बात को बार-बार दोहराया जाता है, वह जन-धारणाओं में वैसा ही आकार ले लेती है । इसलिए आम आदमी के सोचने और देखने के तरीके मे बदलाव लाना अपेक्षित है ।

आज ऐसा समय है, जब एक स्त्री को स्त्री होने का बोधपाठ देना आवश्यक नहीं है, उसके व्यक्तित्व में जो कमी है उसे भरना जरूरी है । इसके लिए उसे अपने चारित्रिक सौन्दर्य को निखारना होगा, आत्मविश्वास को बढ़ाना होगा,

आत्मनिर्भरता की आवश्यकता का अनुभव करना होगा, चिन्तन एवं अभिव्यक्ति को नया परिवेश देना होगा, स्वाभिमान को जगाना होगा, निरभिमानता का विकास करना होगा, अनासक्ति का अभ्यास करके संग्रह-वृत्ति को नियंत्रित करना होगा, प्रदर्शन-प्रियता से ऊपर उठकर आत्माभिमुख बनना होगा, अनाग्रही वृत्ति को विकसित करना होगा तथा सहिष्णुता, मृदुता एवं विनम्रता को आत्मसात करना होगा ।

महिलाओं का विकास सबको अभीष्ट है, क्योंकि वह सबके विकास की मूलभूत वुनियाद है । इसके लिए उन्हें नकारात्मक दृष्टिकोण छोड़कर सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने की जरूरत है । डिप्रेशन से मुक्त होकर अपने स्वरूप को पहचानने की जरूरत है । ऐसा करके कोई भी स्त्री अपने व्यक्तित्व को नयी पहचान दे सकती है और अपनी क्षमताओं का समाज के हित में, राष्ट्र के हित में तथा मानवता के हित उपयोग कर सकती है ।

४६. संकल्प की स्वतंत्रता

मनुष्य स्वतंत्र संकल्प का स्वामी होता है। उसका संकल्प जैसा होता है, व्यक्तित्व भी वैसा ही निर्मित हो जाता है। सृजन और ध्वंस के संस्कार मनुष्य के भीतर होते हैं। उन संस्कारों को वह संकल्पशक्ति के सहारे बदल सकता है। जिस व्यक्ति में विधायक भावों की प्रचुरता होती है, वह ध्वंसात्मक संस्कारों को सृजनशीलता में बदल लेता है। निषेधात्मक भाव व्यक्ति को क्रूरता, हिंसा, अनुशासनहीनता, असदाचार आदि की दिशा में प्रेरित करते हैं। जिस राष्ट्र और समाज में हिंसा का बोलवाला होता है, रास्ते चलते बेगुनाह लोगों को मौत के घाट उतार दिया जाता है, वह उस राष्ट्र और समाज का दुर्भाग्य होता है। उस दुर्भाग्य से बचने के लिए अहिंसक शक्तियों को जगाने और संगठित बनाने की जरूरत है।

यह सच है कि हिंसक वारदातें आदमी के मन में दहशत पैदा कर देती हैं। दहशत की स्थिति में कोई भी व्यक्ति न तो सही ढंग से सोच सकता है और न ही अपनी क्षमताओं का उपयोग कर सकता है। भयोत्पादक परिस्थितियों का प्रभाव बच्चों और वृद्धों पर अधिक होता है। युवकों में भय की मात्रा कम होती है। वे जान-बूझकर खतरों को मोल लेते हैं। उनकी मानसिकता साहसिक काम करने की रहती है, किन्तु इसमें भी विवेक की अपेक्षा है। विवेक के अभाव में युवक कुछ ऐसे काम कर लेता है, जो उसे उम्र से कई वर्ष आगे धकेल कर जर्जर बना देते हैं।

देश की युवापीढ़ी सही अर्थ मे अपने यौवन को सुरक्षित रखना चाहे और कोई कीर्तिमान स्थापित करना चाहे तो उसे प्रतिस्रोतगामी बनना होगा। अनुस्रोत में बहना सरल होता है। एक पतला-सा तिनका भी प्रवाह में बह जाता है, पर विपरीत दिशा में बहने के लिए शक्ति की जरूरत होती है।

भोगवादी मनोवृत्ति युग का प्रवाह है। इस प्रवाह को मोड़कर त्यागप्रधान मनोवृत्ति का निर्माण करना युवा होने की सार्थकता है।

सत्य के प्रति अनास्था लोकजीवन का एक स्वर है। इस स्वर को बदलकर

सत्यनिष्ठा का विकास करना युवकत्व की पहचान है । जो युवा सत्य पर अडिग रहता है, अपने वचन के प्रति जागरूक रहता हुआ उसका पालन करता है तो एक दिन ऐसा आता है, जब वचन स्वयं उसका पालन करने लगता है, उसे वचनसिद्धि का वरदान मिल जाता है ।

श्रम से पराङ्मुख होना अकर्मण्यता की पहचान है । अकर्मण्यव्यक्ति की क्षमताओं में जंग लग जाता है और वह कुछ न करने के कारण उम्र से पहले ही वूढ़ा हो जाता है । श्रमशीलता व्यक्तित्व को निखारने और यौवन को चिरकाल तक टिकाए रखने का अमोघ उपक्रम है ।

सौहार्द एक विधायक भाव है । यह व्यक्ति को जोड़ता है और संबंधों को विस्तार देता है । सौहार्द की पौध तब सूखती है, जब उसके आसपास वैमनस्य की आग जल उठती है । सौहार्दहीन व्यक्ति अकेला हो जाता है । अकेलेपन की कुंठा और निराशा उसे भीतर भीतर ही तोड़ती जाती है । इसलिए युवक को निरन्तर सौहार्दप्रधान होना चाहिए ।

व्यसन एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो जिन्दगी का रस सोख लेती है । व्यसन चाहे धूम्रपान का हो, मद्यपान का हो, जुए का हो या शिकार का, व्यसन व्यसन ही है । जिस देश की युवा पीढ़ी व्यसनमुक्त होती है, उस देश की सुख-समृद्धि को कोई छीन नही सकता ।

प्रामाणिकता एक ऐसा मूल्य है, जो व्यक्ति को चरित्र की ऊंचाई तक पहुंचा देता है । भ्रष्टाचार की सारी समस्या प्रामाणिकता को भूलने की समस्या है । वैभव संपन्न बनने की अनिरुद्ध आकांक्षा और प्रवृत्ति के परिणाम के विस्मृत करने की मनोवृत्ति व्यक्ति को अप्रामाणिक बनाती है । युवकों का दायित्व है कि वे प्रामाणिकता के आदर्श को सामने रखकर चलें ।

जिस देश के युवक इस सप्तपदी के आधार पर अपनी जीवनशैली का निर्धारण करेंगे, वे युग की हर समस्या का समाधान खोजते हुए निर्वाध गति से आगे वढ़ सकेंगे ।

४७. खानपान की संस्कृति

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। वह कुछ भी करता है, पहले सोचता है। उसकी सोच सही हो तो उसके हाथ से कभी कोई गलत काम नहीं हो सकता। किन्तु जब सोच में विकृति का प्रवेश हो जाता है तो विवेक की डोर उसके हाथ से छूट जाती है। अविवेक के रास्ते पर कदम भरने वाला व्यक्ति कब क्या कर ले, कुछ कहा नहीं जा सकता। विवेक व्यक्ति के खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार आदि सभी बिन्दुओं पर अंकुश रखता है। इस अंकुश के हटते ही वह स्वच्छन्द हो जाता है। उसकी वृत्तियों और प्रवृत्तियों पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

इस युग का मनुष्य प्रगतिशीलता के सपने देख रहा है। वह वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के साथ जीवन की संपूर्ण शैली बदलने के लिए उत्सुक है। आवश्यक परिवर्तन नहीं होने से जीवन में रूढ़ता आती है। इस दृष्टि से मैं बदलाव को उचित मानता हूं। पर इसमें औचित्य का अतिक्रमण हो जाए तो खतरे भी कम नहीं हैं। शताब्दियों से चली आ रही किसी भी परम्परा को एक झटके से तोड़ डालना साहस तो हो सकता है, पर ऐसा करने से पहले उसके बारे में गंभीर चिन्तन की अपेक्षा है।

संस्कृति जीवन का अविभाज्य अंग है। संस्कृति का विकास समाज का विकास है। सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की पहचान होती है। खान-पान की भी एक संस्कृति है। इसका सम्बन्ध धार्मिक संस्कारों के साथ भी है। भारत में चल रहे अनेक धर्म खानपान की शुद्धि पर विशेष बल देते हैं। खानपान की शुद्धि से उनका अभिप्राय है मांसाहार और मद्यपान का वर्जन। शारीरिक, मानसिक और धार्मिक–सभी दृष्टियों से ऐसा आहार और पेय वर्जित है। इस वर्जना के बावजूद आज की युवापीढ़ी का झुकाव शराब और अण्डों की तरफ हो रहा है। यह एक विचारणीय पहलू है।

मांसाहार अप्राकृतिक भोजन है। मनुष्य की शरीर-संरचना इस आहार के अनुकूल नहीं है। धार्मिक ग्रन्थों में ऐसे आहार की गणना तामसिक आहार में की गई। यह उत्तेजक होने के साथ-साथ अनेक बीमारियों का घर होता है। इंग्लैंड के प्रोफेसर हेगे के अनुसार मांस और अण्डे में यूरिक एसिड होती है। उससे गठिया, लकवा, श्वास, अनिद्रा, मधुमेह, जलोदर, हिस्टीरिया, सिरदर्द आदि अनेक प्रकार की बीमारियां हो जाती हैं। डॉ० ए० कींग्जकर्ड ने कंठमाल जैसे रोगों के मूल में मांसाहार को भी कारण माना है। मद्यपान करने से लीवर खोखला हो जाता है, पेट बाहर आ जाता है, मस्तिष्क विकृत हो जाता है, स्मृति क्षीण हो जाती है और भी कई विकृतियां शुरू हो जाती हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि बीयर आदि हल्की शराब पीने वाले यह मानते ही नहीं हैं कि वे मद्यपान कर रहे हैं। कई बड़े शहरों में किशोर से युवा हो रही पीढ़ी इस विचारधारा से आक्रान्त हो रही है।

मांस और मद्य की ऐसी निष्पत्तियों को पढ़-सुनकर भी कुछ लोग इनसे विरत नहीं होते। कुछ व्यक्ति नये सिरे से इनके आदी हो जाते हैं। इनमें एक बड़ा कारण है टेलिविजन पर इनका अन्धाधुन्ध प्रचार। एक ओर किसी धार्मिक मान्यता से असम्मत महापुरुष का चरित्र भी यदि बच्चों को पढाया जाता है तो उसका तीव्र विरोध किया जाता है। जबकि वैसा उदात्त चरित्र तो जीवन में नयी प्रेरणा भरने वाला होता है। दूसरी ओर अनेक धर्मों की पवित्र परम्परा के साथ खिलवाड़ करने वाली यह विज्ञापन की संस्कृति। क्या इससे किसी के धार्मिक अनुयायियों को आघात नहीं होता है? जिन लोगों की धार्मिक परम्परा अपने अनुयायियों को ऐसा करने की छूट देती है, वे भी गुण-दोष के आधार पर ऐसे सन्दर्भों में विचार करें।

टी० वी० की तरह समाचारपत्रों में भी विज्ञापन की संस्कृति फलफूल रही है। आधे-आधे पृष्ठों में दिए गए विज्ञापन–'सण्डे हो चाहे मण्डे' रोज चलेंगे अण्डे' किस विकृत दिमाग की उपज है? क्या ऐसे विज्ञापन बच्चों को गुमराह नहीं कर रहे हैं। इन वर्षो में समाज के बच्चे केक, पेस्ट्री आदि अण्डे मिश्रित खाद्य पदार्थों से परहेज नहीं करते। उनके अभिभावक भी इस विषय में सचेत नहीं हैं। यही कारण है, खानपान सम्बन्धी सांस्कृतिक मूल्य चरमरा रहे हैं।

कुछ लोगों का तर्क यह है कि मांस और अण्डे में पोषक तत्त्व अधिक होते हैं। जहां तक मैंने समझा है, यह बात भी भ्रामक है। एकान्ततः सही नहीं है। कुछ समय पहले एक पत्र में शाकाहार और मांसाहार में पाये जाने वाले प्रोटीन को लेकर एक तालिका दी गई थी। उसके अनुसार सबसे अधिक प्रोटीन सोयाबीन में होता है। वह तालिका इस प्रकार है–

पदार्थ	प्रोटीन प्रतिशत
सोयाबीन	४३.२
मूंगफली	२६.७
उड़द, मूंग	२४
चना	२२.५
अरहर	२२.३
मसूर की दाल	२५.१
भेड़ का मांस	१८.५
गाय का मांस	२२.६
मछली	२१
अण्डा	१३.३

विटामिन्स एवं अन्य पोषक तत्त्वों के बारे में भी व्यवस्थित तालिका उपलब्ध की जाए तो शाकाहार में उनका प्रतिशत कम नहीं रहेगा, ऐसा अनेक डॉक्टरों का अभिमत है। मानव शरीर को जितनी कैलोरी की अपेक्षा है, उसकी पूर्ति के लिए सन्तुलित भोजन की तालिका यत्र-तत्र मिल सकती है। उस ओर ध्यान न देकर स्वास्थ्य के नाम पर संस्कृति को भूलना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। समाज की युवापीढ़ी अपने सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए एक जागरूक प्रस्थान करे और मांसाहार एवं मद्यपान के विरोध में सामूहिक स्वर उठाए तो इस प्रवाहपातिता को रोका जा सकता है।

४८. सभ्यता के नाम पर

जनता अनुस्रोतगामी होती है । स्रोत का मुख जिस ओर होता है, जनता का रुख उसी ओर मुड़ जाता है । शाश्वत मनोवृत्ति की ओर इंगित करते हुए शास्त्रकारों ने लिखा है–'अणुसोयपट्ठिए बहुजणंमि' जिस समय अधिक लोग अनुस्रोतगामी वन रहे हों, प्रतिस्रोत में आगे बढ़ना बहुत अधिक कठिन होता है। अच्छे अच्छे लोग अपना रास्ता वदलकर उस पथ पर अग्रसर हो जाते हैं, जो सीधा होकर भी भटकाने वाला होता है । इस क्रम मे एक व्यक्ति गलत रास्ता लेकर हजारों-हजारों लोगों को प्रवाह में वहा लेता है । प्रवाहपातिता का यह संक्रामक रोग उस समय अधिक घातक हो जाता है, जब व्यक्ति अपनी विवेक रूप किश्ती को तट पर छोड़ देता है और आंख मूंदकर प्रवाह में कूद पड़ता है ।

वहुत बार ऐसा भी होता है कि कुछ व्यक्ति किसी गलत प्रवृत्ति का प्रारम्भ करते हैं, वह कालान्तर में सभ्यता का मुखौटा पहनकर वहुप्रचारित हो जाती है । सभ्यता के नाम पर बहुसंख्यक लोग गुमराह हो जाते हैं और वह प्रवृत्ति वल पकड़ लेती है । मादक पदार्थ–भांग, गांजा, शराव, सिगरेट, मारिजुआना, कोकीन, हेरोइन, स्मैक, एल० एस० डी० तथा ऐसी ही कुछ नशीली दवाओं की लत सभ्यता के नाम पर ही पड़ती हैं । मूलतः यथार्थ से भागने, परिस्थिति विशेष से विद्रोह करने, गम गलत करने, कुतूहल को शान्त करने तथा साथियों के दवाव से अधिकांश युवा या किशोर ऐसा रास्ता अपनाते हैं । बर्वादी का प्रारम्भ इसी रास्ते से होता है । उत्सुकता रुचि में वदलती है और रुचि सघन आदत में परिणत हो जाती है । उसके वाद तो चाहने पर भी उस आदत से छुटकारा पाना कठिन हो जाता है ।

किसी भी समाज या देश को सत्यानाश के कगार पर ले जाकर छोड़ना हो तो उसकी युवापीढ़ी को नशे की लत में डाल देना ही काफी है । १९वीं सदी के चौथे दशक में ब्रिटिश शासकों ने चीन के साथ ऐसा ही किया था । उन्होंने अपने व्यापारियों के माध्यम से चीन के अधिसंख्य निवासियों को अफीम का आदी वनाकर

निष्क्रिय कर दिया था। जिस समाज या देश के अधिक लोग एक प्रवाह में दह जाते हैं, वहां कुछ लोग उस प्रवाह से अलग हटकर खड़े रहना चाहते हैं। पर परिस्थितियां उन पर भी दबाव डालती हैं। अन्ततः उन्हें उनके साथ होना पड़ता है।

एक ज्योतिषी ने राजा के सामने भविष्यवाणी की–अमुक दिन वर्षा होगी। उस जल में नहाने वाले और पीने वाले सब लोग पागल हो जाएंगे। राजा को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उसने जनता को इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी। ठीक समय पर वर्षा हुई। राजा को ज्योतिषी की बात याद आई। उसने रानी और मंत्री को सजग कर दिया। उन तीनों ने वर्षा के पानी का उपयोग नहीं किया। उनके अतिरिक्त गांव के सभी लोग पागल हो गए। उन्होंने निर्वस्त्र होकर एक जुलूस निकाला। इधर राजा और मंत्री शहर के हालात देखने के लिए राजभवन से बाहर आए। उन्हें कपड़ों में देखते ही लोग उन्हें घेरकर कहने लगे–हमारा राजा पागल हो गया है, मंत्री पागल हो गया है। पागल मंत्री और राजा क्या करेंगे। इन्हें मारकर गिरा दो। राजा और मंत्री ने उन्हे समझाने का प्रयत्न किया, पर वे किसी की कुछ सुनते ही नहीं थे। आखिर राजा और मंत्री भी नग्न बनकर उनके साथ हुए, तब उनकी मुसीबत टली।

राजा और मंत्री की तरह इस सदी की युवा और किशोर पीढ़ी नशेबाज लोगों के उत्पात से बचने के लिए थोड़ा-सा नशा करती हैं। पर कालान्तर में वह उनकी परवशता हो जाती है इस दृष्टि से शास्त्रों में कहा है–'कुसंग से बचना चाहिए।' एक व्यक्ति मिथ्यादृष्टि होता है तो वह हजारों को डूबो सकता है। इस दृष्टि से कहा गया है कि मिथ्यात्व का पाप सबसे बड़ा है। मादक पदार्थों से सुखानुभूति का मिथ्यात्व फैलकर आम आदमी को पथभ्रष्ट करने वालों से सावधान रहने की जरूरत है। अनेक लोगों को उस रास्ते पर चहलकदमी करते देखकर भी जो लोग प्रतिपथ में आगे बढ जाते हैं, वे दुर्गति से अपना बचाव कर लेते हैं।

४९. उत्तर की प्रतीक्षा में

भोजन जीवन का आधार है। कोई भी संसारी प्राणी भोजन के बिना जीवित नहीं रह सकता। भोजन जीवन का लक्ष्य तो नहीं है, पर जीवन टिकाकर रखने की सार्थक आवश्यकता जरूर है। जन्म के बाद भोजन की जितनी अपेक्षा है, गर्भावस्था में उससे अधिक अपेक्षा है। जन्म से पहले माता द्वारा किए गए भोजन का तीसरा भाग बच्चे के हिस्से में आता है। इतना पोषण न मिले तो बच्चे के स्वास्थ्य और विकास पर कुप्रभाव पड़ सकता है।

भोजन कब और कितना जाए, इसकी कोई नियामकता नहीं है। कालचक्र के प्रथम तीन भागों में क्रमशः तीन दिन, दो दिन और एक दिन से भोजन करने का सामान्य क्रम है। कुछ व्यक्ति अपनी संकल्प-शक्ति के सहारे इस अवधि को बढ़ा भी लेते हैं। वे छह महीने या बारह महीने तक निराहार रह सकते हैं। देवों के आहार ग्रहण का क्रम उनकी आयुःस्थिति पर निर्भर है। पर आहार ग्रहण करने की इच्छा उनमें भी जागृत रहती है।

कालक्रम से खाद्य पदार्थों की गुणवत्ता घटती जा रही है। उनकी मिठास और शक्ति में भी अन्तर आ रहा है। इस कारण भोजन के कुछ समय बाद ही भूख का अनुभव होने लगता है। एक समय था, जब अधिसंख्य साधु एक समय भोजन किया करते थे। आज की परिस्थिति में तीन बार का भोजन न्यूनतम आवश्यकता-सा बन गया है। गृहस्थ लोगों में तो कितनी बार की नियामकता रही ही नहीं है। चाय, सरबत, जूस आदि पेय तो कितनी ही बार लिये जा रहे हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो चाय लिए बिना बिछौना छोड़ ही नहीं सकते। 'बेड-टी' लेने के बाद ही उनमें उठने की शक्ति आती है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति जीवन भर भोजन छोड़ने की बात कहे, आश्चर्य जैसा लगता है।

जो लोग वर्षों से बीमार हैं, जिनमें घूमने फिरने की सामर्थ्य नहीं है, जो लम्बे समय से खटिया पकड़ चुके हैं, जिनके जीवित रहने की आशा क्षीण हो गई है मौत जिनके सिरहाने खड़ी है, ऐसे व्यक्ति भी भोजन छोड़ने की बात पर सहमत

नहीं होते। जिन लोगों का भोजन छूट चुका है जो ग्लूकोज, आक्सीजन या ओषधियों के सहारे जीवन का एक-एक दिन बढ़ा रहे हैं, जिनका जीना मृत्यु से भी अधिक डरावना हो गया है, ऐसे व्यक्ति भी भोजन छोड़ने की बात पर मौन हो जाते हैं। जीवन की डोर हाथ से छूटने के अन्तिम क्षण तक मनुष्य की जिजीविषा इतनी प्रबल रहती है कि वह जीवन के साधनों से मुंह नहीं मोड़ सकता।

दूसरी ओर कुछ ऐसे लोगों से भी हमारा वास्ता पड़ता है, जो हाथ का कौर मुंह तक ले जाते-ले जाते रुक जाते हैं और सदा-सदा के लिए भोजन छोड़ देते हैं। स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन, स्वस्थ वातावरण। बाहर की स्थिति में कोई बदलाव नहीं। पर भीतर से मन बदलता है, कोई रासायनिक परिवर्तन होता है और भोजन की इच्छा समाप्त हो जाती है। ऐसा क्यों होता है ? मेडिकल साइंस के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। ऐसे व्यक्ति का हार्ट, लीवर, गुर्दा आदि सब अवयव ठीक काम करते हैं। रक्तचाप सामान्य होता है। नाड़ी की गति ठीक होती है। मस्तिष्क सही ढंग से काम करता है। शरीर पर कोई भी लक्षण ऐसा नहीं होता, जो उसके बारे में सोचने का मुद्दा बन सके। फिर भी वह एकाएक खाने से इनकार कर बैठता है। परिवार की मुनहारें उसे विचलित नहीं कर सकतीं। डॉक्टर का परामर्श उसके संकल्प को शिथिल नहीं कर पाता और किसी प्रकार का दबाव उसे भयभीत नहीं बना सकता। उसके मन में भोजन के प्रति इतनी अरुचि हो जाती है कि देव आकर कह दे, तो भी वह भोजन करने के लिए तैयार नहीं होता।

घूमते-फिरते, खाते-पीते स्वस्थ व्यक्ति की मनोदशा कैसे बदल जाती है। यह रिसर्च का विषय है। कुछ वैज्ञानिक इस क्षेत्र में काम करें और अब तक अज्ञात रहस्यों का अनावरण कर सकें तो धर्म के क्षेत्र में एक नयी उपलब्धि हो सकती है। ऐसी घटनाएं इन्हीं दिनों या वर्षों में घटित हुई हैं, ऐसी बात नहीं है। हजारों वर्ष पहले भी संलेखना पूर्वक अनशन की रोमांचक घटनाएं घटी हैं, वर्तमान में घट रही हैं और भविष्य में भी ऐसे प्रसंगों को रोका जा सके, यह संभव नहीं लगता।

हाल ही में ३ जुलाई १९८८ को लाडनूं की एक बहन ने पचीस दिनों की तपस्या में संथारा स्वीकार किया। उसकी अवस्था सत्तावन साल की है। पिछले कई वर्षों से एक उपवास करने में भी उसे कठिनाई होती थी। १० मई को प्रातःकाल तक उसने कुछ सोचा भी नहीं था। उसने पूरे मन से चाय बनवाई। चाय पीते-पीते ही क्या हुआ, वह स्वयं नहीं जानती। उसने आधी चाय छोड़ दी और चाय के साथ सदा-सदा के लिए पूरा भोजन छोड़ने का मानसिक संकल्प कर लिया। परिवार के लोगों ने उसे समझाने का प्रयास किया, किन्तु उस पर कोई असर नहीं हुआ। उससे पूछा गया कि 'वह मरना क्यों चाहती है ?' उसने तपाक से उत्तर

दिया–'मैं मरना कब चाहती हूं। भोजन में मेरी रुचि नहीं है। मुझे अपने जीवन को सार्थक करना है। मैं एक दिन भी खोना नहीं चाहती। मुझे त्याग करना है। मैं परम समाधि में हूं। मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। भोजन छोड़ने के बाद मेरी समाधि बढ़ी है, मनोबल बढ़ा है। मुझे न परिवार से मोह है, न पति से मोह है, न पुत्र से मोह है। ये सब मेरी परीक्षा लेकर थक चुके हैं। अब इन सबका सहयोग और समर्थन मुझे प्राप्त है। मेरे मन में न जीने की आकांक्षा है, न मरने की चाह है और मौत का भय है। मैं 'संथारा' स्वीकार कर कृतार्थ होना चाहती हूं।'

बहन ने संथारा स्वीकार किया, उस समय सैकड़ों लोग वहां उपस्थित थे। उनमें कुछ प्रबुद्ध लोग भी थे। उसे परखने के लिए कई सवाल-जवाब किए गए। उसकी धृति, उसका निश्चय और विवेक वास्तव में ही चौंकाने वाले थे। जीवन-यात्रा को मोड़ देने की यह प्रक्रिया कितनी वैज्ञानिक है! कितनी व्यावहारिक है! और कितनी आकर्षक है! कुछ विरल व्यक्ति ही इस साहसिक यात्रा के लिए पग उठाते हैं। यह साहस उनमें कहां से और कैसे आता है? यह प्रश्न आज भी उत्तर की प्रतीक्षा में है।

५०. कौन किसको कहे ?

स्वास्थ्य के तीन प्रकार हैं– आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक। माद पदार्थ तीनों प्रकार के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। निरन्तर अति मात्रा में क आने वाली नशीली दवाएं या अन्य पदार्थ शरीर में एक प्रकार के विष को उत्प कर देते हैं। उससे शरीर-तंत्र की व्यवस्था में गड़बड़ी होती है, मन विकृत होत है और आत्मशक्तियां मूर्च्छित हो जाती हैं। धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मादव पदार्थों के सेवन को एक अपराध के रूप में स्वीकृत किया गया है। क्योंकि खान पान जीवन को सीधा प्रभावित करता है। जैन तीर्थंकरों ने खाद्य-संयम और पेयसंयम का निरूपण करते समय इसी तथ्य को ध्यान में रखा होगा। व्यसनमुक्त जीवन- जीने की बलवती प्रेरणा दी। व्यसन किसे माना जाए ? इस प्रश्न का उत्तर एक संस्कृत पद्य में मिलता है–

> द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या
> पापर्द्धि चौर्यं पर-द्वार-सेवा।
> एतानि सप्त व्यसनानि लोके,
> घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥

जुआ, मांस, शराब, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्रीगमन– ये सात दुर्व्यसन हैं। मनुष्य की दुर्गति में इनकी अहम भूमिका है। दुर्व्यसनों का यह वर्गीकरण सम्भवतः जैन आचार्यों की सूझबूझ का परिणाम है। वैसे तो हर व्यसन पतन में निमित्त बनता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में शराब ही हमारा आलोच्य विषय है।

जैन धर्म में व्यसनमुक्त जीवन को आदर्श जीवन माना गया है। इस दृष्टि में जैन लोग इस आदर्श को सामने रखकर चलते हैं। फिर भी युग के प्रवाह को मोड़ना बहुत सीधा काम नहीं है। इसीलिए प्रवाहपाती जैन दुर्व्यसनों के शिकार हो रहे हैं और स्टैण्डर्ड का जीवन जीने के लिए शराब, सिगरेट आदि को जरूरी समझने लगे हैं। यह दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। ऐसा करना जैनत्व की मूलभूत

संस्कृति पर प्रहार है और जीवन के साथ खिलवाड़ है। उन्हें अपनी इस भूल का अहसास होना चाहिए।

हमारे देश की सांस्कृतिक जमीन तो मादक पदार्थों के अनुकूल है ही नहीं, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि भी इनके औचित्य को प्रमाणित नहीं कर सकती। फिर भी वर्तमान के राजनैतिक माहौल में शराब को खुली छूट मिली हुई है। शराव सव दृष्टियों से खराव है, इस तथ्य को समझने के वाद भी केन्द्रिय सरकार और राज्य सरकारें इसे प्रतिवन्धित करने में सफल नहीं हो पायी हैं। उनकी दृष्टि में शराव से होने वाली आय देश के अर्थ-तंत्र को संतुलित रखने में निमित्त बनती है। यह वात जितनी सही है उतना ही सच यह है कि शराव पर प्रतिवन्ध न होने से अपराधों की संख्या में वृद्धि होती है। शराव से होने वाले लाभ के अनुपात में नुकसान अधिक वड़ा है। किन्तु वह सीधा नहीं दिखता, इसलिए लोगों का ध्यान उधर कम जाता है।

यही कारण है कि राजकीय भोजों में शराब और मांसाहार का उपयोग आम वात हो गई है। आज देश के नेता, संपादक, साहित्यकार और कवि, जिन पर देश के निर्माण का दायित्व है, खुलेआम शराब की गिरफ्त में हैं। ऐसी स्थिति में कौन किसको कहे और कौन सुने?

अभी कुछ दिन पहले ही नवम्बर १९८६ के अन्तिम सप्ताह में पंजाव केसरी में सोवियत नेता गोर्वाच्योव के मन्तव्य को प्रकाशित किया गया था। उसके अनुसार गोर्वाच्योव अपने व्यक्तिगत जीवन में शराव का उपयोग नहीं करते हैं और न ही वहां के राजकीय भोजों में शराव की व्यवस्था होती है। भारत में भी उनके सम्मान में आयेजित राजकीय भोज में भी शराब के स्थान पर जूस का प्रवन्ध था। गोर्वाच्योव मानते हैं कि 'शराव' के कारण लोगों की उम्र कम होती जा रही है, वच्चों में जन्मजात रोग वढ़ रहे हैं, लापरवाही शौर अनुशासनहीनता वढ रही है। उन्नत समाज के लिए शराव जैसे मादक पदार्थ तवाही के कारण हैं। इसलिए रूस में शराव-मुक्ति का अभियान बहुत तेजी से चल रहा है। संसार की वड़ी शक्तियों में एक शक्ति व्यसनमुक्त जीवन-शैली की ओर आकृष्ट हो, यह घटना अन्य सव राष्ट्रों के लिए प्रेरणा का स्रोत वन सकती है।

भारतीय जनता महात्मा गांधी के उपदेश को आधार मानकर चलने वाली है। गांधीजी ने एक वार कहा था–'यदि मैं डिक्टेटर वन जाऊं तो सवसे पहले शराव को बन्द करूं।'

गांधीजी के अनुयायी सत्ता के केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर भी उनके इस सपने

को साकार नहीं कर सके हैं। भारत की सरकारें और जनता दोनों ही इस दृष्टि से कोई कदम नहीं उठा पयी हैं। वह देश धन्य है, जिसमें शराब जैसे मादक पदार्थ सर्वथा प्रतिबन्धित हैं। स्वस्थ और शालीन जीवन-पद्धति के लिए ऐसा करना अपेक्षित है। हमने अणुव्रत के आधार प व्यसनमुक्त जीवन का आदर्श उपस्थित किया और प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा उस आदर्श को व्यवहार्य बनाने का रास्ता दिखाया। ध्यान का प्रयोग नशे से मुक्ति दे सकता है, इस आस्था के साथ प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास हो तो वांछित लाभ की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

५१. शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग का अवसर

शिक्षा जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य के लिए रोटी और कपड़े का जितना उपयोग है, उतना ही उपयोग शिक्षा का है। रोटी के विना आदमी जी नहीं सकता और शिक्षा के बिना अच्छा जीवन नहीं जी सकता। इस दृष्टि से शिक्षा भी जीवन की एक महत्त्वपूर्ण आकांक्षा है। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए स्कूलों और कॉलेजों की संख्या निरन्तर वढ़ती जा रही है। वहां आधुनिक सुविधाओं के साथ नयी टेक्नालाजी को भी पर्याप्त स्थान मिल रहा है। फिर भी आज की शिक्षा पद्धति से किसी को सन्तोष नहीं है। शिक्षा के दुष्परिणाम देखकर अधिसंख्य लोग यह कहने लगे हैं कि शिक्षा-पद्धति गलत है। यह वात हमारे सामने भी आई है। हमने कहा–'शिक्षा के दुष्परिणाम ही नहीं, सुपरिणाम भी निकल रहे हैं। यदि शिक्षा-पद्धति सर्वथा गलत ही होती तो अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, चार्टेड एकाउंटेंट आदि कहां से आते ? बौद्धिक और शारीरिक विकास कैसे होता ? शिक्षा के कारण विकास की एक श्रृंखला चल रही है। यह दूसरी वात है कि उससे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण नहीं होता। सांस्कृतिक और भावनात्मक विकास नहीं हो पाता। निष्कर्ष की भाषा में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा-पद्धति गलत नहीं, अधूरी है। इस अधूरेपन को मिटाने के लिए कोई उपक्रम चलाना जरूरी है।

वर्तमान शिक्षा पद्धति इतने सवालों से घिर गई है कि एक-एक सवाल समाधान मांगता है। यदि आम आदमी की दृष्टि में शिक्षा का क्रम ठीक नहीं है तो उसे सुधारने का प्रयत्न क्यों नहीं हुआ ? क्या इस समस्या की जड़े इतनी गहरी चली गई हैं कि समाधान सूझता ही नहीं है ? शिक्षा-नीति के बारे में एक लम्बी और देश-व्यापी वहस का नतीजा क्या आया ? यदि शिक्षा के साथ जुड़ी हुई विसंगतियों को निकालना है तो उसे सर्वांगीण वनाना होगा। क्या अपूर्ण शिक्षा के द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण संभव है ? सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अर्थ है– व्यक्ति की बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक, भावानात्मक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का

जागरण । केवल बौद्धिक विकास की बुनियाद पर सर्वांगीण चेतना का निर्माण नहीं हो सकता ।

पिछले दिनों दिल्ली में ही एक केन्द्रीय मंत्री से मुलाकात हुई । शिक्षा के सन्दर्भ में चर्चा चली तो वे बोले–'शिक्षानीति में बदलाव की बात से प्रधानमंत्री सहमत हैं । उन्होंने एक नया चिन्तन दिया ।' 'नवोदय विद्यालय' के निर्माण का । इसके लिए पूरी योजना बन चुकी है । प्रत्येक जिले में इस ढंग का एक-एक विद्यालय खोला जाएगा । हर विद्यालय पर करोड़ों रुपयों का व्यय वहन किया जाएगा । इससे जिला-स्तर पर शिक्षा की दृष्टि से काफी अच्छा काम हो जाएगा । पर सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए अभी कोई रास्ता नहीं मिल रहा है । यह बात सुनकर मैंने कहा–'यही तो मूलभूत अपेक्षा है । जब तक ऐसा रास्ता नहीं मिलेगा, नयी से नयी तकनीक शिक्षा का स्तर उन्नत नहीं कर सकेगी । शिक्षा का स्तर उन्नत हुए विना जीवन-स्तर को उठाने की कल्पना साकार कैसे होगी ?'

इस बात को सब जानते हैं कि शिक्षा-पद्धति को बदलना किसी के हाथ की बात नहीं क्योंकि इसका संचालन सरकारी तंत्र से होता है । इस सम्बन्ध में हम केवल सुझाव दे सकते हैं, पर नीति को नहीं बदल सकते । फिर भी हम अपने ढंग से कोई नया रास्ता ढूंढ सकते हैं । समाज की युवा पीढ़ी को उस रास्ते पर चला सकते हैं ।

थाइलैण्ड की परम्परा है कि वहां प्रत्येक व्यक्ति को एक वर्ष के लिए बौद्ध भिक्षु बनना जरूरी है । जापान के बारे में भी यही कहा जाता है कि वहां युनिवर्सिटी की शिक्षा सम्पन्न करने के बाद प्रत्येक विद्यार्थी को कम से कम छह महीने तक अनिवार्य रूप से ध्यान का कोर्स कराया जाता है । इसी प्रकार का कोई उपक्रम वर्ष भर चले तो शिक्षा से जुड़ी हुई समस्या का समाधान हो सकता है । वह उपक्रम क्या होगा ? कैसे होगा ? राष्ट्रीय स्तर पर उसका उपयोग हो या नहीं ? समाज के स्तर पर तो उसका लाभ उठाया जा सकता है । इस दृष्टि से बुद्धि जीवी प्रेक्षा-ध्यान शिविर में एक नया चिन्तन सामने आया है । जो वहुत प्रासंगिक और सार्थक प्रतीत हुआ । उस पर खुलकर चर्चा भी चली और चर्चा में सम्मिलित लोगों की सहमति भी मिली । प्रारूप इस प्रकार है–

एक बालक प्राइमरी शिक्षा से ग्रेज्युएशन तक पहुंचने में कम से कम पन्द्रह -सोलह वर्ष का समय लगाता है । पोस्ट ग्रेज्युएशन या स्पेशेलाइजेशन की बात को एक बार छोड़ भी दे तो भी क्रमशः पूरी शिक्षा प्राप्त करने में पन्द्रह-सोलह वर्ष लगते हैं । यह परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद गृहस्थी बसाने और व्यवसाय में प्रवेश करने

से पहले एक वर्ष का समय आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से लगाया जाए तो जीवन में रहा अधूरापन पूर्णता में परिणत हो सकता है।

वह एक वर्ष का समय बालक, जो कि तब तक युवा बन चुका होगा, उसके संस्कार-निर्माण, जीवन-निर्माण और व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होगा। उस अवधि में वह हमारी प्राचीन गुरुकुल पद्धति से संस्कारी बनेगा। वहां से उसके जीवन में नयी दिशा खुल सकती है। व्यक्तित्व का रूपान्तरण घटित हो सकता है। अभिभावक जानना चाहेंगे कि क्या एक वर्ष में ऐसा हो सकता है? क्यों नहीं हो सकता? जब दस दिन के प्रेक्षा-शिविरों में रहकर व्यक्ति अपने आपको बदल सकता है तो एक वर्ष के शिविर में बदलाव क्यों नहीं होगा? इस प्रसंग में संदेह करने की जरूरत ही नहीं है। अभिभावक थोड़ी-सी हिम्मत करें और निर्णय लें कि वे कॉलेजों से उत्तीर्ण बच्चों को एक वर्ष तक विशेष प्रशिक्षण पाने का समय देंगे। यह प्रयोग हम आगामी 'योगक्षेम वर्ष' में करना चाहते हैं। एक वर्ष का समय बीच में है। इस अवधि में अभिभावक लोग अपनी और अपने बच्चों की मानसिकता बनाएं। इधर व्यवस्था पक्ष सुनियोजित हो जाए। यह हमारा प्रथम प्रयोग चामत्कारिक प्रयोग सिद्ध होगा। इसके सुपरिणाम पूरे समाज और देश का ध्यान इस ओर आकृष्ट करेंगे, ऐसा विश्वास है।

एक प्रश्न और हो सकता है कि यह क्रम कहां चलेगा? मैं समझता हूं कि जैन विश्व भारती इसकी अच्छे ढंग से व्यवस्था कर सकती है। इस सम्बन्ध में प्रचार-प्रसार यानी समाज के लोगों तक समुचित जानकारी पहुंचाने का दायित्व 'बौद्धिक मंच' को उठाना चाहिए। प्रबुद्ध लोग इस क्रम की उपयोगिता को समझें और केवल एक वर्ष के लिए अपने बच्चों को हमें सौंप दें। हम अपने चिन्तन और पुरुषार्थ के द्वारा समाज की एक पीढ़ी को भी संस्कारी बना सके तो वे संस्कार पीढ़ी दर पीढ़ी आगे से आगे संक्रान्त होते रहेंगे। यह प्रयोग संस्कारहीनता और मूल्यहीनता की समस्या का स्थायी समाधान बने, इसके लिए आप और हम सब मिलकर आज से ही अपना काम शुरू कर दें, यह अपेक्षा है।

५२. शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा कौन प्राप्त कर सकता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर कई कोणों से दिया जा सकता है । जो प्रतिभासंपन्न होता है, जो अच्छी शाला में पढ़ता है, जिसके अभिभावक पैसा खर्च कर सकते हैं, जो मेहनत करता है इत्यादि अनेक प्रकार के चिन्तन इस परिप्रेक्ष्य में उभरते हैं । आगमवाणी में इस प्रश्न का समाधान खोजा जाए तो वहां लिखा है–

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्य च ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥

– अविनीत व्यक्ति को विपत्तियों का सामना करना पड़ता है और विनीत व्यक्ति के पास संपदाएं आती हैं, ये दो बातें जों जानता है, वह शिक्षा को प्राप्त करता है ।

शिक्षा-प्राप्ति की योग्यता के अनेक मानकों में यह एक ऐसा मानक है, जिसको प्रत्यक्ष रूप से समझा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है, जो विद्यार्थी अध्यापक को गुरु मानकर विनीत रहता है, समर्पित भाव से निर्देश का पालन करता है और कठोर अनुशासन को भी आत्महित मानकर सहन कर लेता है, वह शिक्षा के अज्ञात रहस्यों को खोलकर शिखर पर चढ़ जाता है । जो विद्यार्थी उद्दण्ड, अनुशासनहीन और अविवेकी होता है, वह हजार प्रयत्न करने पर भी शिक्षित नहीं हो सकता।

शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में चार बातें बताई गई हैं–ज्ञानी बनना, एकाग्रचित्त होना, आत्मस्थ होना और दूसरों को आत्मस्थ बनाना । इन महान लक्ष्यों से प्रतिबद्ध होकर पढ़ने और पढ़ाने वाले कितने विद्यार्थी और अध्यापक मिलेंगे । ज्ञान एक ऐसा धागा है, जिससे बंधकर रहने वाला व्यक्ति अपने जीवन के दुराहे, तिराहे या चैराहे पर कभी भटक नहीं पाता । यह धागा जिसके हाथ से छूट जाता है, वह अर्थ, सत्ता और कामुकता के भ्रमजाल में फंसकर अपनी मंजिल ही नहीं, जीवन भी खो देता है ।

इस सदी का अध्यापक अध्यापन को केवल पेशा मानकर चलता है अथवा विद्यार्थी को ज्ञानी, वैज्ञानिक, देशभक्त और महान बनाने का लक्ष्य सामने रखकर चलता है ? आज का विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त करने के लिए पढ़ता है अथवा व्यवसायी बनने का सपना उसे पढ़ने के लिए प्रेरित करता है ? अध्ययन और अध्यापन का मूल्य विद्यार्थी एवं शिक्षक– दोनों के हाथों से ही फिसल गया है, ऐसा प्रतीत होता है। शिक्षा जगत में बढ़ने वाली समस्याओं के मूल में ही यही एक ऐसा कारण है, जिसकी ओर शिक्षाविदों को अपना ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत है।

शिक्षा का सम्बन्ध पुस्तक पढ़ने या रटने तक सीमित नहीं है। जो कुछ पढ़ा जाए उसे जीवन में उतारे बिना शिक्षा सफल नहीं हो सकती। जिस प्रकार अध्यात्म रटने का नहीं, प्रयोग करने का तत्त्व है, उसी प्रकार शिक्षा भी प्रायोगिक होकर ही अपनी अर्थवत्ता को प्रमाणित कर सकती है। विद्यार्थी, अध्यापक और अभिभावक–इस त्रिवेणी में ऐसी प्रायोगिक शिक्षा की धारा बहे, यह आवश्यक है।

५३. सर्वोत्तम क्षण

धर्मसंघ के इतिहास को नयी दिशा देने वाला आयोजन अपनी सार्थकता का स्वयंभू साक्षी होता है। देश की राजधानी दिल्ली में बौद्धिक मंच द्वारा एक ऐसा ही आयोजन आयोजित है। १६ एवं १७ अगस्त १९८७ की यह द्विदिवसीय आयोजना न केवल तेरापंथ धर्मसंघ में, बल्कि समस्त जैन संघों में अपने ढंग की प्रथम अयोजना है। इसमें स्नातकोत्तर एवं विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्ति विशेष रूप से उपस्थित हैं। प्रबुद्धता की गरिमा एवं मर्यादा से मंडित लोगों के बीच सीधा संवाद स्थापित करना इस मंच का उद्देश्य है। चिन्तन और विवेक की संपदा जिन लोगों के पास है, वे उस सम्पदा को धर्मसंघ एवं समाज के लिए भी उपयोगी बनाएं, यह आवश्यक है। किसी भी व्यक्ति द्वारा प्रस्तावित समाधान समाज की बड़ी समस्या का हल निकाल सकता है और किसी व्यक्ति द्वारा समर्पित समय एवं श्रम से समाज को ठोस आधार मिल सकता है। ऐसी स्थिति में हर व्यक्ति का यह नैतिक दायित्व है कि वह वैयक्तिक और पारिवारिक सीमाओं से ऊपर उठकर व्यापक संदर्भों में अपनी शक्ति का नियोजन करे।

तेरापंथ समाज का प्रबुद्ध वर्ग अपने धर्मसंघ की नीतियों एवं गतिविधियों से पूरा परिचित रहे, यह अपेक्षित है। शिक्षा, व्यवसाय आदि में अधिक व्यस्त लोग पूर्ण रूप से धर्मसंघ के निकट नहीं आ पाते। दूरी के कारण अनेक बातों की जानकारी नहीं मिलती। इस कारण समय पर उनके अच्छे विचार और अच्छे सुझाव उपलब्ध नहीं हो पाते। उनको भी सामयिक दिशा दर्शन नहीं मिल पाता। इधर-उधर की बातों से मन में कुछ भ्रान्तियां भी स्थान पा लेती हैं। उनका निराकरण प्रत्यक्ष वार्तालाप से ही संभव है। इस दृष्टि से भी समाज के प्रबुद्ध लोगों का मिलन और विचार-मंथन कोई नया आयाम खोल सकता है।

तेरापंथ धर्मसंघ के लिए समय सदा मेहरवान रहा है। विगत दो सौ सत्ताईस वर्षों में समय-समय पर ऐसे उपक्रम सामने आते रहते हैं, जिन्होंने संघीय गरिमा

को और अधिक ऊंचाई तक पहुंचाया है। आज भी हमारा समाज एक नयी करवट लेने की तैयारी में है। साधना, शिक्षा और शोध के क्षेत्र में एक ऊंची छलांग भरने की चाह जागृत हो रही है। इसके लिए अनेक संस्थान स्थापित हुए हैं। उन संस्थानों की कार्यक्षमता को बढ़ाने की जिम्मेवारी इंटेलेक्च्युअल वर्ग पर है। इंटेक्च्युअल का सीधा-सा अर्थ है बौद्धिक। हमें केवल बौद्धिक ही नहीं, प्रवुद्ध लोगों की जरूरत भी है। उन लोगों में से कार्यकताओं का चयन करना है। ऐसे कार्यकर्ता, जो सशक्त हों, व्यसनमुक्त हों, सत्ता, संपदा, पद और प्रतिष्ठा की परवाह न करने वाले हों। ऐसे कार्यकर्ता, जिनके पास अपनी सम्यक् दृष्टि हो, निर्भीक चिन्तन हो और किसी भी निर्णीत चिन्तन की क्रियान्विति के लिए पर्याप्त साहस अवं उत्साह हो। ऐसे कार्यकर्ता, जो सक्षम होने के साथ संपूर्ण रूप से समर्पित हों, जिनके मन में धर्मसंघ के व्यक्तित्व को सर्वांगीण बनाने की तड़प हो। ऐसे कार्यकर्ताओं का एक वर्ग उभरकर सामने आए और वे अपने पीछे नये कार्यकर्ताओं को तैयार करने का संकल्प करें।

हमारे समाज की एक पीढ़ी श्रावक समाज की वागडोर संभालती आई है। आज भी वह पूरी निष्ठा के साथ अपने कर्तव्य से जुड़ी हुई है। पर उससे आगे किसी शून्य की स्थिति कितनी विचारणीय हो जाती है। क्या हमारी प्रबुद्ध युवा पीढ़ी उस शून्य को भरने की स्थिति में है ? क्या वह किसी बड़े दायित्व को ओढ़ने के लिए तैयार है ? क्या वह परिवार से भी पहला स्थान समाज को देने की मानसिकता वना सकती है ? यदि नहीं तो फिर इतने सारे उपक्रमों का स्थायित्व किसके आधार पर होगा ? विकास के नये द्वार खोलने के लिए किन मजवूत हाथों का विश्वास किया जाएगा। इन सब प्रश्नों का उत्तर इस बौद्धिक मंच को देना है।

तेरापंथ धर्मसंघ का सौभाग्य है कि उसके हाथ में कुछ व्यापक कार्यक्रम हैं, मानवीय कार्यक्रम हैं, मनुष्य को मनुष्य बनाने का बोधपाठ देने वाला 'अणुव्रत' का कार्यक्रम है। अणुव्रत ने लाखों-लाखों लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। अणुव्रत हमारी पहचान का एक बड़ा आधार बना है। ऐसी स्थिति में समाज के प्रबुद्ध लोग 'अणुव्रत' से अपरिचित रहें, यह दीये तले अंधेरा है। इस अंधेरे को दूर कर अणुव्रत को देशव्यापी ही नहीं, विश्वव्यापी कार्यक्रम की ठोसता प्रदान करना प्रबुद्ध लोगों का काम है।

हमारे समाज का अधिसंख्य भाग आज अर्थार्जन में संलग्न है। अर्थ गृहस्थ जीवन की अनिवार्य अपेक्षा है। इसके बिना किसी का काम नहीं चलता। पर अर्थ ही तो सब कुछ नहीं है। सार्थक जीवन के कुछ और उद्देश्य भी होते हैं।

उन उद्देश्यों से आंख मूंदकर केवल अर्थ की अन्धी दौड़ में भाग लेकर क्या समाज पिछड़ नहीं जाएगा ? सब लोग इस बात को समझें या नहीं प्रबुद्ध लोग तो समझते ही हैं। प्रशासन, दर्शन, विज्ञान साहित्य आदि न जाने कितने क्षेत्र अछूते पड़े है। युग की रफ्तार के साथ चलने के लिए आवश्यक है कि कोई भी उपयोगी कार्यक्षेत्र समाज से अनछुआ न रहे। जिस समाज के लोग विभिन्न क्षेत्रों में शिकार पर चढ़कर काम करते हैं, वे अपने समाज को भी शिखर पर पहुंचा देते हैं। समाज को शिखर पर पहुंचाने के लिए सामाजिक विसंगतियों को मिटाना भी बहुत जरूरी है। इन विसंगतियों के कारण उपजी हुई सामयिक समस्याओं के समाधान में प्रबुद्ध वर्ग की रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग बहुत कार्यकारी प्रमाणित हो सकता है।

तेरापंथ समाज में हजारों प्रबुद्ध महिलाओं और पुरुषों को देखता हूं तो मुझे गौरव का अनुभव होता है। पर जब यह देखता हूं कि वे सब एक ही प्रवाह में बह रहे हैं, एक दिशागामी होकर चल रहे हैं, तब मुझे चिन्ता भी होती है। मेरी इस चिन्ता को चिन्तन का मुद्दा बना कर कुछ नये निष्कर्ष निकाले जाएं तो समाज में एक युग का प्रवर्तन हो सकता है।

इस प्रकार के अन्य अनेक बिन्दुओं को ध्यान में रखकर यह इन्टेलेकच्युअल कान्फ्रेंस बुलाई गई है। बहुत वर्षों पहले मैंने अपने मन में एक सपना संजोया था। कुछ अंशों में उस सपने को साकार होता देखकर मैं प्रसन्न हूं।

तेरापंथ समाज के सामने यह एक अपूर्व अवसर उपस्थित हुआ है। इस अवसर का लाभ उठाने के लिए एक-एक क्षण का सदुपयोग करना है। वह क्षण सर्वोत्तम क्षण होगा, जब समाज का प्रबुद्ध वर्ग नयी ऊर्जा और नया प्रकाश प्राप्त कर नये संकल्प के साथ नयी दिशा में प्रस्थान करेगा। मुझे आशा ही नहीं, पक्का विश्वास है कि यह उपक्रम तेरापंथ समाज में नयी चेतना और नये उत्साह का संचार करेगा।

५४. विषमता की धरती पर समता की पौध

धर्म के बारे में भिन्न-भिन्न अवधारणाएं हैं। कुछ जीवन के लिए धर्म की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। कुछ लोगों का अभिमत है कि धर्म ढकोसला है। वह आदमी को पंगु बनाता है और रूढ़ धारणाओं के घेरे में बन्दी बना लेता है। शायद इन्हीं अवधारणाओं के आधार पर किसी ने धर्म को अमृत बताया और किसी ने अफीम की गोली। ये दो विरोधी तत्त्व हैं। इन दोनों ही तथ्यों में सत्यांश हो सकता है, यह अनेकान्तवादी चिन्तन का फलित है।

धर्म की अनिवार्यता स्वीकार करने वालों के लिए धर्म है अन्धकार से प्रकाश की यात्रा। आलोक आदमी के भीतर है। उसे पाने के लिए इधर-उधर भटकने की जरूरत नहीं है। आलोक तक वही पहुंच सकता है, जो अन्तर्मुखी होता है। अन्तर्मुखता धर्म है और बहिर्मुखता अधर्म है। अन्तमुर्खता प्रकाश है और बहिर्मुखता अन्धकार है। अन्तर्मुखता धर्म है और बहिर्मुखता अधर्म है। अन्तर्मुखता आचार है और बहिर्मुखता अतिचार है। जो व्यक्ति जितना भीतर झांकता है, उतना ही धर्म के निकट होता है।

धर्म को 'ढकोसला' मानने वाले वे प्रबुद्ध लोग हैं, जिन्होंने पूजा और उपासना को ही धर्म मान लिया। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा आदि धर्म-स्थानों में जाने वाले व्यक्तियों के हर आचरण को धर्म समझ लिया। धार्मिक क्रियाकाण्डों तक जिनकी पहुंच सीमित हो गई और धार्मिकों की दोहरी जीवन-पद्धति को देखकर जो उलझ गए।

भगवान् महावीर अपने युग के सफल धर्म-प्रवर्तक थे। धर्म को जानने या पाने के लिए उन्हें किसी परम्परा का अनुगमन नहीं करना पड़ा। वे स्वयं धर्म के ज्ञाता द्रष्टा थे। उन्होंने उस समय धर्म के द्विविध रूप का निरूपण किया। उनकी दृष्टि में भी धर्म का एक रूप अमृतोपम था तो दूसरा रूप प्राणलेवा जहर जैसा।

उन्होंने कहा—'धर्म द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है। ऐसे

धर्म की शरण मे जाने वाला व्यक्ति निर्द्वन्द्व हो जाता है, निर्भय हो जाता है। और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।'

धर्म के दूसरे रूप का चित्रण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा–'धर्म कालकूट विष के समान है, अविधि से ग्रहण किए गए शस्त्र के समान है और अनियंत्रित वेताल के समान है।

कालकूट विष का पान करने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है, धार की ओर शस्त्र को पकड़ने वाला अपना अंग भंग कर लेता है और बिना साधा हुआ वेताल पग-पग पर समस्या खड़ी कर देता है। इसी प्रकार धर्म की ओट में पलने वाला आडम्बर, प्रदर्शन, अंधविश्वास, कुरूढ़ियां, अन्धानुकरण और अर्थहीन क्रियाकाण्ड व्यक्ति को पतन के मार्ग पर ले जाते हैं। धर्म के नाम पर चलने वाली विसंगतियों को देखकर ही किसी व्यक्ति का मन धर्म से विरक्त हो सकता है। धर्म के क्षेत्र में पनपने वाली विकृतियों को समाप्त कर दिया जाए तो वह अंधकार में प्रकाश विखेर देता है, विषमता की धरती पर समता की पौध लगा देता है। दुःख को सुख में बदल देता है और दृष्टिकोण के मिथ्यात्व को दूर कर व्यक्ति को यथार्थ के धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है। यथार्थदर्शी व्यक्ति धर्म के दोनों रूपों को सही रूप में समझ लेता है, इसलिए वह कहीं भ्रान्त नहीं होता।

५५. धर्म आत्मा : सम्प्रदाय शरीर

वाह्य परिवेश जब-जब मन के द्वार पर दस्तक देता है, वेचैनी वढ़ जाती है। वेचैन मनोदशा में दरवाजा खोलकर बाहर झांकने की इच्छा ही नहीं होती। वह क्षण विरल और विरलतम होता है, जब आत्मा के द्वार पर कोई दस्तक होती है। उस दस्तक को सुनना, उसके प्रति सचेतन होना ही धर्म के आमंत्रण को स्वीकार करना है। धर्म की सत्ता के प्रति आस्था और उसका आचरण किसी के कहने मात्र से नहीं होता। वह संस्कारगत होता है अथवा किसी घटना के बाद जनम लेता है। धर्म का फलित है अन्धकार से आलोक की यात्रा। आलोक मनुष्य की आत्मा में होता है। इसीलिए आत्मा के दरवाजे पर दस्तक की प्रतीक्षा है।

धर्म एक शाश्वत मूल्य है। यह अनाम है अरूप है। साधारण लोग अनाम और अरूप तत्त्व को पहचान नहीं पाते। इस दृष्टि से अरूप को रूप दिया जाता है और अनाम को नाम देकर सम्बोधित किया जाता है। धर्म को भी परिभापाओं के अनेक चौखटों में फिट करने का प्रयत्न हुआ है। इसकी कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं–

- आत्मा का स्वभाव धर्म है।
- आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने का साधन धर्म है।
- आत्म-शुद्धि का जो साधन है, वह धर्म है।
- सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना का नाम धर्म है।
- अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि व्रतों की अनुपालना का नाम धर्म है।
- सहिष्णुता, निर्लोभता, सरलता और कोमलता की साधना धर्म है।
- अन्तर्मुखता धर्म है।
- अतीन्द्रिय चेतना के विकास का द्वार धर्म है।
- अपने आप में रमण करना धर्म है।

धर्म असाम्प्रदायिक होता है, अपारम्परिक होता है, पर उसे व्याख्यायित करने

वाले मान्य व्यक्तियों के पीछे सम्प्रदाय बन जाता है, परम्परा बन जाती है। धर्म के मुख्य व्याख्याता कभी सम्प्रदाय की बात नहीं करते। बुद्ध और महावीर ने भी सम्प्रदाय की बात नहीं की। कोई महापुरुष सम्प्रदाय बनाना चाहते ही नहीं हैं, पर वे चलते हैं तो सम्प्रदाय बने बिना रहता नहीं।

मेरे अभिमत में न तो धर्म बुरा होता है और न सम्प्रदाय बुरे होते हैं। इन दोनों में ही जब विकृतियों और विसंगतियों का समावेश होने लगता है, तब बुराई का प्रवेश होता। धर्म की बात पर स्वार्थ का मुलम्मा चढ़ जाए और सम्प्रदाय वैमनस्य, घृणा एवं कलह का केन्द्र बन जाए, तब धर्म अपनी पवित्रता खो देता है। और सम्प्रदाय विवादों के घेरे में खड़े हो जाते हैं। इसलिए धर्म और सम्प्रदाय को अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रखा जाए, यह सुखद है।

धर्म आत्मा है, सम्प्रदाय शरीर है। धर्म को शरीर माना जाए तो सम्प्रदाय कवच है। धर्म जीने की कला है, सम्प्रदाय उसे विकसित और प्रसारित करने के साधन हैं। धर्म गूदा है, सम्प्रदाय छिलके हैं। धर्म शिक्षा है, सम्प्रदाय स्कूल के कक्ष हैं। इस दृष्टि से धर्म और संप्रदाय दोनों का उपयोग है।

धर्म धर्म रहे और संप्रदाय संप्रदाय रहे तो कोई समस्या नहीं है। समस्या का मूल है धर्म और संप्रदाय को एक मान लेना। मजहबी विचारधारा के लोग जब मजहब को ही सब कुछ मान लेते हैं, तब धर्म के नाम पर शोषण होता है, मारपीट होती है, खूनखराबा होता है और समरनीति उपजती है। इन मजहबी वारदातों से धर्म की जो बदनामी हुई है, उसे धोने का एक ही उपाय है–धर्म और संप्रदाय के अन्तर को समझना। धर्म को सम्प्रदाय से ऊपर मानना।

५६. धर्म-क्रांति के सूत्र

'क्रान्तिकारी कहलाना फूलों के स्पर्श जितना सुखद लगता है, पर क्रान्तिकारी बनना कांटों का ताज पहनना है'–ऐसा अभिमत है कुछ विचारशील लोगों का। वास्तव मे क्रांति की यात्रा बहुत सीधी नहीं है। क्रान्ति कहीं भी घटित हो सकती है। समाज और राजनीति में घटित क्रांति का जितना अर्थ है, धर्म के क्षेत्र में भी क्रान्ति की अर्थवत्ता कम नहीं है। कुछ लोग धर्म क्रान्ति का नाम सुनकर चौंकते हैं पर यह कोई चौंकाने वाली बात नहीं है। क्रान्ति का अर्थ है किसी विचारधारा या परम्परा की सत्ता में एक साथ घटित होने वाला बड़ा परिवर्तन। इसकी अपेक्षा तब अनुभव होती है, जब मूल तत्त्व में विकृति का मिश्रण हो जाता है।

धर्म एक सर्वोत्तम तत्त्व है। यह स्वयं विशुद्ध है और जन-जन के जीवन को विशुद्धि का अवदान देने वाला है। किन्तु जब तथाकथित धार्मिकों, धर्माधिकारियों, पंडों और पुजारियों ने धर्म की आत्मा में इतनी विकृति घोल दी, इसकी शुद्धिकरण की क्षमता का लोप-सा होने लगा। उस समय अनायास ही एक नया, बिल्कुल नया स्वर निकला–धर्म-क्रान्ति होनी चाहिए।

धर्म में क्रान्ति की आवश्यकता तब हुई, जब धर्म के नाम पर स्वार्थ साधने का चक्र चलने लगा, धर्म के नाम पर शोषण होने लगा और धर्म के नाम पर दंगे फसाद होने लगे। धर्म स्वार्थ की नहीं, परमार्थ की चेतना है। धर्म की ओट में अवांछनीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना धर्म को धोखा देना है, अपने आप को धोखा देना है।

एक आदमी तम्बाकू पीता है। उसे बीड़ी सिगरेट देकर धर्म मानना स्पष्ट रूप में दुर्व्यसन को पोषण देना है। दुर्व्यसन किसी भी परिस्थिति में धर्माचरण की कोटि में नहीं आ सकता। इसी प्रकार कोई भूखा आदमी भीख मांगकर पेट भरता है। वह कहता है– भूखे को रोटी दो, भगवान भला करेगा। प्यासे को पानी पिलाओ, धर्म होगा, पुण्य होगा। यह धर्म और पुण्य का प्रलोभन व्यक्ति को पाप के पथ पर अग्रसर करता है। किसी भूखे को रोटी खिलाना, भाईचारा को बढ़ावा देना

हो सकता है, किन्तु भिखारीपन को बढ़ाकर धर्म का दम्भ भरना समझ की कुंठा को प्रकट करना है।

कुछ लोग मन्दिर में जाते हैं, धर्मगुरुओं के पास जाते हैं, प्रवचन सुनते हैं, पूजा करते हैं और स्वयं को धर्म का दावेदार मान बैठते हैं। जबकि उनका आचरण उनकी धर्मपरायणता के आगे प्रश्नचिह्न लगाने वाला है। वे लोग धोखा देते हैं, शोषण करते हैं, तोड़-फोड़ करते हैं, मनुष्य को अछूत मानते हैं, रिश्वत लेते हैं, वोट बेचते हैं या खरीदते हैं तथा सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय देते हैं। और भी न जाने क्या-क्या करते हैं। इतना सब कुछ करते हुए भी वे एक बार मन्दिर में आरती उतारकर या गुरु महाराज के चरणों में सिर झुकाकर अपने सब पापों का समीकरण ही नहीं करते, अपनी धार्मिकता का नया खाता भी खोलते हैं। क्या यह सब प्रवंचना नहीं है?

धर्मक्रान्ति के नये नारे से पांच बातें फलित होती हैं–

- धर्म को अन्धविश्वास की कारा से मुक्त कर प्रबुद्ध लोकचेतना के साथ जोड़ना।
- रूढ़ उपासना से जुड़े हुए धर्म को प्रायोगिक रूप देना।
- परलोक सुधारने के प्रलोभन से ऊपर उठकर धर्म को वर्तमान जीवन की शुद्धि में सहायक बनाना।
- युगीन समस्याओं के सन्दर्भ में धर्म को एक समाधान के रूप में प्रस्तुत करना।
- धर्म के नाम पर होने वाली लड़ाइयों को आपसी वार्तालाप के द्वारा निपटाकर सब धर्मों के प्रति सद्भावना का वातावरण निर्मित करना।

धर्म की इस पंचसूत्री योजना के द्वारा धर्म के क्षेत्र में प्रविष्ट विकृतियों को समाप्त कर उसे अपने मौलिक रूप में प्रस्थापित किया जा सकता है। ऐसा होने से ही धर्मक्रान्ति के अभियान की सार्थकता है। अन्यथा केवल नारों के बल पर किसी भी क्षेत्र में क्रांति की संभावना को कोई निश्चित रूप नहीं दिया जा सकता।

५७. दो रत्ती चन्दन

राजकन्या ने संकल्प कर लिया कि 'जो व्यक्ति उबलते हुए तेल के कड़ाहे में स्नान करेगा, उसके साथ शादी करूंगी ।' राजकुमारी बड़े राजा की बेटी थी । रूप-संपदा से संपन्न थी । कला-कुशल थी । उसकी ख्याति सुन अनेक राजकुमारों ने शादी का प्रस्ताव भेजा । पर उसका संकल्प बाधक बन गया । उबलते हुए तेल के कड़ाह में स्नान करने का अर्थ मौत का मुकाबला । मरना किसी को इष्ट नहीं था । बात टलती गई ।

एक युवा राजकुमार सन्त के पास बैठा था । प्रसंग चल पड़ा । सन्त बोले– 'एक रत्ती बावना चन्दन डाल दिया जाए तो उबलता हुआ तेल का कड़ाह प्रभावहीन हो जाता है ।' राजकुमार ने बावना चन्दन मंगवाया और राजकुमारी की चुनौती स्वीकार कर ली । शहर में यह सूचना पहुंची तो लोग जरूरी काम छोड़कर राजभवन की ओर आने लगे । देखते-देखते हजारों की भीड़ एकत्रित हो गई । राजभवन के परिसर में तेल का कड़ाह आग पर चढ़ा दिया गया । तेल पूरी तरह से उबल चुका था । राजकुमार उसमें अवगाहन करने के लिए तैयार खड़ा था । दर्शकों के मन में करुणा उमड़ रही थी । पर राजकुमार के चेहरे पर गर्व की दीप्ति थी । उसने बावना चन्दन की पुड़िया तेल के कड़ाह में डाली और उत्साहित होकर उसमें कूद पड़ा । बहुत रोमांचक थे वे क्षण । उबलते हुए तेल की एक बूंद शरीर पर कहीं भी लग जाए तो वह स्थान जल जाता है । वैसी स्थिति में युवक तेल में पूरी तरह डूबकर बाहर निकल आया । राजकुमारी ने उसके गले में वरमाला पहनाकर अपना संकल्प पूरा किया ।

यह कहानी है । ऐसी घटना कभी घटित हुई या नहीं, निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है । बावना चन्दन के प्रयोग से शीतलता की बात प्रसिद्ध है । 'खमतखामणा' भी एक ऐसा ही बावना चन्दन है, जो क्रोध के उफनते हुए दरिया को शान्त कर सकता है । आत्मा की गहराई में उफनता आग का दरिया के शान्त कर सकता है । आत्मा की गहराई में उफनता आग का दरिया जब नियंत्रण से

वाहर हो जाता है तो प्रलय मचा देता है। इसे शान्त करने का अमोघ उपाय है क्षमा का आदान-प्रदान।

जैन-संस्कृति मे एक विलक्षण पर्व है पर्युषण पर्व। आठ दिनों तक इस पर्व की आराधना करने के बाद नौवें दिन खमतखामणा के क्षण उपस्थित होते हैं। खमतखामणा का अर्थ है—मन के सकल ताप-संतापों को धोकर संपूर्ण रूप से हल्कापन का अनुभव करना। यह अहिंसा की उत्कृष्ट साधना है। सामान्यतः लोग अहिंसा को न मारने तक सीमित रखते हैं। किन्तु तीर्थंकरों ने कहा कि जव तक मनुष्य के मन का वैर-भाव समाप्त नहीं होता, वह क्षण-क्षण मारता रहता है। किसी दूसरे का प्राणवियोजन वह भले ही न करे, पर स्वयं स्वयं को मारता है। यह हिंसा है। इस हिंसा से वही बच सकता है, जो मन, वचन और कर्म से संसार के सब प्राणियों के साथ मैत्री का हाथ बढ़ाता है।

पर्युषण पर्व खमतखामणा का पर्व है। मैत्री का पर्व है, क्षमा लेने और देने का पर्व है, आत्मशोधन का पर्व है। इस सन्दर्भ में क्षमायाचना शब्द मीमांसनीय है। इसमें छोटा और बड़ा ये दो वर्ग स्थापित हो जाते हैं। क्षमा मांगने वाला छोटा और क्षमा देने वाला बड़ा। बड़प्पन और हीनता—ये दोनों वृत्तियां अध्यात्म के क्षेत्र मे उपादेय नहीं हैं। अध्यात्म का रास्ता आत्मौपम्य का है, समानता का है। इसमें व्यक्ति अपने प्रमाद के लिए क्षमा मांगता है और दूसरे को विना मांगे ही क्षमा देता है। इस नयी शैली में व्यक्ति का अहं विगलित होकर बह जाता है। एक अहं टूटता है, तव दूसरा अभिभूत हो जाता है। जब दो व्यक्तियों के वीच अहं की वाधा नहीं रहती है तो वे दोनों ही गुणग्राही बन जाते हैं।

यह खमतखामणा का पर्व कितना अद्भुत है! कितना मांगलिक है! कितना महान है और कितना उपयोगी है। इस दिन भी मन की ग्रान्थियां न खुलें तो 'सम्यक्त्व' की सुरक्षा मुश्किल हो जाती है। सम्यक्त्व एक अनमोल रत्न है। मन की पवित्रता इसकी सुरक्षा-मंजूषा है। जिस प्रकार साधारण पात्र में सिंहनी का दूध नहीं टिकता, उसी प्रकार कलुषित मनोभूमि में सम्यक्त्व रत्न नहीं रह सकता। इस रत्न की सुरक्षा हेतु आपके मन में स्थान है या नहीं? यह देखने के लिए पर्युषण महापर्व एक आईना है। इस आईने में झांककर मन की कलुषता को धोना पर्व को मनाने की सार्थकता है। पर्युषण पर्व या संवत्सरी पर्व की आराधना अच्छी प्रकार हुई या नहीं? इसका मानदण्ड है खमतखामणा का दिन। अन्तःकरण की प्रत्येक ग्रन्थि को खोलकर भीतर तक चुभे हुए शल्यों को निकालकर जीवन को नयी दिशा देने वाला, उसे प्रसन्नता से भर देने वाला यह पर्व विश्वशान्ति का प्रतीक बन सकता है।

५८. मन की ग्रन्थियों का मोचन

जैन परम्परा में पर्वों और त्योहारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये पर्व न आमोद-प्रमोद के लिए होते हैं, न मनोरंजन के लिए होते हैं और न प्रीतिभोज के रूप में होते हैं। इन पर्वों का एक ही लक्ष्य है– जीवन की पवित्रता, चित्त की निर्मलता और मन की शान्ति। जिस पर्व से ये सब बातें घटित होती हैं, वह पर्व अपनी विशिष्टता को स्वयं स्थापित कर लेता है। पर्व की आराधना करने के वाद भी पवित्रता, निर्मलता और शान्ति की उपलब्धि न हो तो पर्व की प्रासंगिकता के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है।

जैन पर्वों में सवसे बड़ा पर्व है संवत्सरी। संवत्सरी का दूसरा दिन खमतखामणा का दिन होता है। इसे भी एक पर्व की गरिमा प्राप्त होती है। यह पर्व व्यक्ति को विराट् बनाने वाला है। इसमें संबंधों की सारी सीमाएं टूट जाती हैं। अपनेपन और परायेपन की भेदरेखा समाप्त हो जाती है। जीवन में भरा हुआ राग और द्वेष का लावा पिघलकर बह जाता है। जीवन की धरती पर मैत्री और समता की पौध लहलहा उठती है। ऐसे ही क्षणों में व्यक्ति को अनुभव होता है–'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई– संसार के छोटे-बड़े सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है। किसी के प्रति मेरे मन में शत्रुता का भाव नहीं है।' भावनात्मक स्तर पर किया गया मैत्री का यह संकल्प बहुत बड़ा संकल्प है। इस संकल्प का संवंध केवल उन्हीं मनुष्यों या प्राणियों के साथ नहीं है, जिनसे व्यक्ति का कोई रिश्ता नहीं है, जान-पहचान नहीं है और प्रयोजन नहीं है। अेसे व्यक्तियों के सामने मैत्री का हाथ बढ़ाना बहुत बड़ी बात नहीं है।

बड़ी बात मे मित्रों के साथ मैत्री करना। ऐसे मित्र जिन्होंने कभी स्वार्थ पर चोट की, हितों का विघटन किया, किसी मर्म का प्रकाशन किया, जिनके साथ संवंध कटुतापूर्ण हो गए, क्या उनके सामने एक बार फिर मैत्री का हाथ वढ़ाया जा सकता है? ऐसे परिजन, जिन्होंने कभी स्वप्न में भी अहित नहीं किया, पर किसी गलतफहमी के कारण आज वे दूर हो गए। क्या उनको फिर से निकट लिया जा सकता है?

यदि खमतखामणा करने वाले व्यक्ति के पास इन प्रश्नों का सकारात्मक उत्तर नहीं है तो क्या सब जीवों के प्रति मैत्री का आदर्श खण्डित नहीं होता है ?

'खामतखामणा' का अर्थ है क्षमा देना और क्षमा लेना। व्यक्ति किसी को शब्दों से क्षमा देता है, पर मन आक्रोश से भरा रहता है। यह क्षमादान है या उसकी विडम्बना है ? व्यक्ति क्षमा मांगता है, पर सामने वाले व्यक्ति द्वारा किए गए दुर्व्यवहार को भूलता नहीं है। क्या मन का पूरा सहयोग मिले बिना क्षमा मांगने का प्रयोग सफल हो सकता है ? ऊपर-ऊपर से विश्वात्मा के साथ तादात्म्य की बात और भीतर अलगाव की प्रेरणा। ऊपर से एकता एवं मैत्री का दिखावा और भीतर विरोध की ज्वाला। क्या यह खमतखामणा की सार्थकता है ?

मैं जानता हूं कि व्यक्ति जब तक पूर्ण नहीं होता है, उसमें अनेक दुर्बलताएं रहती हैं। मन की कुटिलता भी एक दुर्बलता है। जब तक मन की मलिनता नहीं मिटती, जीवन का दर्पण साफ नहीं हो पाता। जिस दर्पण में व्यक्ति झांककर देखता है, वह यदि धुंधला है तो उसमें प्रतिबिम्बित छवि साफ-सुथरी कैसे होगी ? संवत्सरी के दिन प्रतिक्रमण कर व्यक्ति चौरासी लाख जीव योनियों के साथ खमत-खामणा कर लेता है। पर जिनके साथ कुछ अवांछित घटित हुआ है, जिनके प्रति मन में दुर्भावना है, उनका सामना होने पर व्यक्ति कहता है– आपके साथ कोई कटु व्यवहार हुआ हो तो खमत-खामणा है। इस कथन का क्या अर्थ है ? साहस तो इतना होना चाहिए कि आपके अमुक व्यवहार से मुझे ठेस पहुंची अथवा मेरे व्यवहार से आपको निश्चित रूप से आघात लगा है। पर आज हमें उस प्रसंग से उत्पन्न तनाव को समाप्त करना है, मन हल्का करना है और सदा-सदा के लिए कटुता को भूलकर मैत्री-भाव बढ़ाना है। इस प्रकार अतीत के संपूर्ण कालुष्य को धोकर अन्तर्मन से स्वस्थ होना खमत-खामणा का सही प्रयोजन है।

कुछ परिवारों में छोटे-छोटे कारणों को लेकर वैमनस्य हो जाता है, अनबन हो जाती है, आपस में बोलचाल बन्द हो जाती है। उस परिवार के सदस्य संवत्सरी का खमत-खामणा करने के बाद भी अपने वैमनस्य को नहीं भूलते। आपस में एक दूसरे से नहीं बोलते।

यह खमत-खामणा भी हास्यास्पद बन जाता है। खमत-खामणा करने मात्र से मन वीतराग हो जाता है, यह तो मैं नहीं मानता। पर कम-से-कम व्यक्तिगत जीवन में छोटी-छोटी बातों को लेकर जो गांठे उलझ जाती हैं, उन्हें खोलना आवश्यक है।

'खमतखामणा' का पर्व धार्मिक लोगों के लिए एक आह्वान है। इसे सुनकर भाई-भाई, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, सास-बहू, ननद-भाभी, नौकर-मालिक आदि सभी

रिश्तों के बीच में आए खुरदरेपन को दूर करना है, चौड़ी होती हुई खाई को पाटना है। यह बात श्रावक-श्राविकाओं के लिए जितनी आवश्यक है, साधु-साध्वियों के लिए उससे भी अधिक आवश्यक है। उनके मन में भी किसी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका या अन्य व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार की गांठ लगी हो, उसे खोलकर मानसिक हल्कापन अथवा मनःप्रसत्ति का अनुभव करना चाहिए।

५९. जीवनशैली में बदलाव जरूरी

हमारे देश में जन्म-दिन मनाने की परम्परा है, निर्वाण दिन मनाने की परंपरा है, बोधप्राप्ति का दिन मनाने की परम्परा है और भी अनेक प्रकार के दिन मनाए जाते हैं। क्यों ? किसी भी दिन को मनाने का प्रयोजन है, उससे संबंधित व्यक्ति के दर्शन, चिंतन, जीवन या साहित्य से प्रेरणा पाना और समय की परतों को उतारकर उसे जनता के बीच प्रतिष्ठित करना। उसके व्यक्तित्व या कर्तृत्व को जन-जन तक पहुंचाने के उद्देश्य से कुछ कार्यक्रमों का आयोजन भी किया जाता है। वे आयोजन उस व्यक्तित्व या कर्तृत्व को कितना उजागर कर पाते हैं, इस तथ्य की प्रामाणिक प्रस्तुति बहुत कठिन है। प्रायः देखा जाता है कि गोष्ठियों, सेमिनारों और समारोहों के साथ मूल प्रयोजन भी समाप्त हो जाता है। बड़े आयोजनों की दौड़-धूप में किसी को यह जानने का अवकाश ही नहीं मिलता कि जिस व्यक्ति का कोई भी दिन मनाया जा रहा है, उसके पीछे आधार क्या है ?

दीपावली भगवान् महावीर का निर्वाण दिन है। महावीर जैन धर्म के तीर्थंकर थे। जैन लोग ही दीपावली को मनाते हैं, ऐसी बात नहीं है। भारत की धरती पर बसने वाले लोगों का इसके साथ आन्तरिक जुड़ाव है। धार्मिक, सांस्कृतिक या राष्ट्रीय किसी भी दृष्टि से हो, दीपावली को लेकर बच्चों और बूढ़ों सबमें आकर्षण रहता है। कुछ लोग तो नये वर्ष का प्रारंभ भी दीपावली से करते हैं। उस दिन घर, दुकान और बाजार सजते हैं। मिठाइयां बंटती हैं, अतिशबाजी होती है, दीये जलते हैं, विद्युत्बल्बों से घर जगमगा दिया जाता है। और भी न जाने क्या-क्या होता है।

प्रश्न है कि इन सब प्रवृत्तियों से महावीर का क्या संबंध है ? सब लोग इस प्रश्न पर विचार करें या नहीं, जैन लोगों के सामने यह एक अहम सवाल है। वे महावीर को महान् मानकर ही पूर्णकाम हो जाते हैं ? महावीर का जप करने मात्र से दीपावली की सार्थकता हो जाती है ? महावीर और लक्ष्मी का चित्र सामने रखकर पूजा करने से महावीर की महत्ता प्रकट हो जाती है अथवा और भी कुछ

करणीय शेष रहता है ? दीपावली को महावीर के साथ जोड़कर यही सब किया जाता है तो विशेष बात क्या हुई ? अपेक्षा इस बात की है कि महावीर के दर्शनों को लोकजीवन के साथ जोड़ा जाए और उसे जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास किया जाए।

भगवान महावीर सत्य के खोजी थे। उन्होंने सत्य की खोज के लिए प्रस्थान किया। पूरे बारह वर्षों तक बिना थके बिना रुके चलते रहे। उस यात्रा में उनका पथ समतल नहीं था। कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा। कही उतार, कहीं चढ़ाव। कहीं संकरी-सी पगडंडी और कहीं विशाल राजपथ। कहीं प्रशंसकों और समर्थकों की भीड़ तो कहीं आतंकवादियों के जानलेवा हमले। उपद्रवों के किस्से इतने रोमांचक हैं कि उन्हें पढ़ने या सुनने मात्र से मन कांप उठता है। महावीर नाम से ही नहीं, कर्म से महावीर थे। वे उन स्थितियों में एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं हुए। उन पर भांति-भांति के मिथ्या आरोप लगाए गए पर कभी उनका संतुलन नहीं टूटा। आखिर आवरण हटा और सत्य प्रकट हो गया। उन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया अथवा वे स्वयं सत्य बन गए। उनकी यात्रा संपन्न हो गई।

बारह वर्ष की साधना के बाद भगवान महावीर को सिद्धि मिली। उसके बाद वे तीस वर्षों तक भारत की धरती पर घूमे। इस अवधि में हजारों व्यक्ति घर और परिवार की सीमाओं को तोड़कर प्रव्रजित हुए। लाखों लोगों ने उनका अनुयायित्व स्वीकार किया। उनका परिनिर्वाण हुए ढाई हजार वर्ष पूरे हो गए। उनका पचीस सौवां निर्वाण महोत्सव मना लिया गया। पर अब भी जैन लोगों की संख्या सात के अंक को पार कर आठवें अंक में प्रवेश नहीं पा सकी है। एक ओर हम गर्व के साथ कहते हैं कि भगवान महावीर द्वारा निरूपित धर्म इतना व्यापक है कि उसमें विश्व-धर्म बनने की क्षमता है। दूसरी ओर जैनों की संख्या जहां है, लगभग वहीं ठहरी हुई है।

इससे भी अधिक विचारणीय बिन्दु यह है कि इस समय जितने जैन हैं, क्या वे सही अर्थ में जैनत्व को समझते और जीते हैं ? सिद्धशिलातल पर विराजमान भगवान् महावीर की ज्ञानचेतना पर जैन समाज का जो प्रतिबिम्ब है, उसका धुंधलापन क्या जैन लोगों को झकझोरने के लिए काफी नहीं है ?

चारित्रिक आस्था में कमी, व्यावसाय में खुली अप्रामाणिकता, खानपान की अशुद्धि, हिंसाजनित प्रसाधन सामग्री का उपयोग, जाति आदि के आधार पर मनुष्य को हीन या घृणित मानने का मनोभाव आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जो जैनत्व के आगे सवालिया निशान लगा चुकी हैं। एक जैन व्यक्ति की जीवनशैली अजैन लोगों की जीवनशैली से थोड़ी भी भिन्न नहीं है तो उसे जैन होने से क्या लाभ मिला ?

दीपावली के पावन प्रसंग पर भगवान् महावीर के अनुयायी एक क्षण के लिए रुकें, वे अपनी जीवनशैली का अवलोकन करें, उसमें परिवर्तन की अनिवार्यता और संभावना पर विचार करें, महावीर दर्शन के आधार पर एक नयी जीवन-शैली का निर्धारण करें और उसके अनुसार जीना प्रारंभ कर आने वाली पीढ़ी को आगे बढ़ने के लिए ठोस जमीन दें। महावीर परिनिर्वाण दिवस मनाने का यह तरीका ही अधिक प्रासंगिक और प्रभावी हो सकता है।

६०. कर्तृत्व अपना

जैन धर्म आत्मकर्तृत्व के सिद्धान्त में विश्वास करता है आत्मकर्तृत्व का अर्थ है-व्यक्ति अपने सुख-दुःख, सौभाग्य-दुर्भाग्य, जय-पराजय तथा उच्चता-हीनता का निर्माता स्वयं है। इस दृष्टि से अपनी स्थिति के लिए किसी दूसरे को दोषी ठहराना यौक्तिक नहीं है। यदि व्यक्ति का पुरुषार्थ सही दिशा में नियोजित नहीं है तो वह सुख, सौभाग्य आदि की कल्पना भी नहीं कर सकता। यदि उसका पुरुषार्थ समग्रता से जागृत है तो उसे कोई दुःख और दुर्भाग्य दे भी नहीं सकता। किसी वाह्य निमित्त से कभी दुर्भाग्य के साथ उसका साक्षात्कार भी हो जाए तो वह उसे-सौभाग्य से रूपान्तरित कर सकता है। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि निमित्तों को देखो, समझो पर उन्हें ही सब कुछ मत मानो। निमित्त आखिर निमित्त हैं। पुरुषार्थ की पवन तेज हो जाए तो उसके सामने कोई भी निमित्त वाधा वनकर खड़ा नहीं रह सकता।

वातावरण और सहायक सामग्री व्यक्ति के पुरुपार्थ को जगाती है। यह एक सामान्य बात है। पर इसके बिना पुरुषार्थ की लौ जल ही नहीं सकती, ऐसा एकान्त आग्रह नहीं होना चाहिए। जिन लोगों ने इस चिन्तन को आधार बनाकर अपनी यात्रा शुरू की, वे या तो थक गए या मुड़ गए। परिस्थिति के गलियारों से उठता हुआ धुआं व्यक्ति को आंख मूंदने के लिए विवश करता है। किन्तु जो व्यक्ति उस धुएं को बर्दास्त कर लेता है, वह विना किसी अवरोध के आगे बढ़ जाता है। उसके पदचिह्न दीपक बनकर दूसरों को राह दिखाने का महत्त्वपूर्ण काम कर सकते हैं।

जिन लोगों में पुरुषार्थ के प्रति गहरी आस्था होती है, उनमें एक आकांक्षा जनम लेती है, अपना रास्ता आप बनाने की और अपना जीवन आप जीने की। अपने द्वारा अपने का निर्माण एक अद्भुत कला है। इस कला को वे लोग साध सकते हैं, जो अपने व्यक्तित्व के अभिन्न अंग चरित्र की कभी उपेक्षा नहीं करते चरित्र-वल की क्षीणता में व्यक्ति की सारी शक्तियां क्षीण हो जाती हैं। चरित्र की

आभा से दीप्त जीवन की एक अलग ही छवि होती है। इस छवि को साफ-सुथरा रखने के लिए अस्वीकार की क्षमता को जगाना अपेक्षित है जो व्यक्ति मोहक प्रलोभनों का अस्वीकार कर सकता है, वह अपनी प्रतिरोधात्मक शक्ति के द्वारा अपना स्वामी बन जाता है, अपने भाग्य का निर्माता बन जाता है। बाह्य प्रभावों से अप्रभावित रहता हुआ वह आत्मकर्तृत्व का बोधपाठ पढ लेता है। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि सही होती है, ज्ञान सही होता है, अनुभव सही होता है और आचरण सही होता है। दृष्टि और आचरण–इन दोनों तटों के बीच में ही सुख, दुःख अथवा सौभाग्य और दुर्भाग्य की नदी बहती है।

६१. कुछ अनुत्तरित सवाल

कुछ लोग इतने क्रूर होते हैं कि पुराने दफनाए हुए मुर्दों को उखाड़ लेते हैं। मुर्दे उखाड़ने के भी कई उद्देश्य होते हैं और उन उद्देश्यों की पूर्ति में मनुष्य अपनी करुणा और विवेक—दोनों को ताक पर रख देता है। मुर्दे केवल मुनष्यों के ही नहीं होते, अन्धविश्वासों और अन्धपरम्पराओं के भी होते हैं। इन दिनों ऐसा ही कुछ सुनने में आ रहा है।

प्राचीन काल में यज्ञ, होम आदि अवसरों पर पशुबलि, नरबलि आदि देने की परम्परा थी। इस परम्परा के शिकार वे व्यक्ति होते थे, जो अभाव के साये में जीते थे। ऐसे व्यक्तियों की उपलब्धि न होने पर छल और माया का सहारा लेकर मासूम बच्चों को पकड़ा जाता और उन्हें बलि का बकरा बना दिया जाता। कितनी क्रूर और पाशविक मनोवृत्ति रही होगी, जिसने इस प्रकार की बलि का विधान किया! कितने हृदयशील, स्वार्थी और अर्थलोलुप थे वे लोग, जो किसी छोटे से स्वार्थ की पूर्ति के लिए मासूम बच्चों को मौत की सलीब पर टांग देते थे। वे कैसे न्याय और न्यायालय थे, जो इस प्रकार के जघन्य अपराधों को भी कानून के सहारे रोक नहीं पाते थे।

भगवान महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ऐसी अमानवीय परम्पराओं के खिलाफ आवाज उठाई थी। वे अहिंसा के प्रखर प्रचेता थे। किसी को मानसिक कष्ट पहुंचाना भी उसकी दृष्टि में पाप था। उन्होंने वाचिक हिंसा का भी प्रतिवाद किया। ऐसी स्थिति में नरबलि जैसी जघन्य प्रवृत्ति पर प्रहार करके उन्होंने लोकचेतना को झकझोर डाला। पशु-बलि और नरबलि का समर्थन करने वाले शास्त्रों को आधार मानकर जो लोग धर्म के नाम पर हिंसा करते थे, वह तो और भी बड़ी विडम्बना थी।

भगवान महावीर के युग में नरबलि की सत्ता हिल गई थी। सती-प्रथा एक दूसरे प्रकार की नरबलि है। उस समय यह प्रथा भी नहीं थी। दहेज-हत्या का तो उस समय प्रचलन भी नहीं था। दास-प्रथा के रूप में जीवित व्यक्तियों के

यातना देने की एक परम्परा अवश्य प्रचलित थी। भगवान महावीर ने इस परम्परा के मूल पर प्रहार कर उसकी जड़ें खोद डालीं। उन्होंने मानवीय समता से भी ऊपर प्राणी मात्र के प्रति समत्व का दर्शन दिया। इस दर्शन के प्रति आस्थाशील व्यक्ति नरबलि, दहेज-हत्या और स्त्री के आत्मदाह जैसी अमानवीय प्रवृत्तियों को अपना समर्थन दे ही नहीं सकता, वह तो पशुबलि को भी अकृत्य मानता है।

पता नहीं आज का आदमी पुनः किस युग में लौटना चाहता है, जो सतीप्रथा को पुनरुज्जीवित करने के लिए आमादा हो रहा है, दहेज-हत्या को मौका दे रहा है, भ्रूण-हत्या को कानूनन वैध माना जा रहा है और पशुबलि की तो बात ही क्या, नरबलि की त्रासदी को उत्पनन कर रहा है। क्या मनुष्य की चेतना इतनी जड़ीभूत हो गई है कि ऐसी क्रूरता के क्षणों में भी प्रकम्पित नहीं होती?

नरबलि में मासूम बच्चों की बलि और वह भी उनके अपने ही माता-पिता द्वारा। मनुष्यता का कितना क्रूर मजाक है यह। इसी नवम्बर के अन्तिम सप्ताह में मेरठ जिले के 'पांची' गांव में गरीब मां-बाप ने धनी बनने के लिए किसी तांत्रिक के कहने पर अपने सात वर्षीय पुत्र का सिर काटकर काली देवी को चढ़ा दिया। इन्हीं दिनों भीलवाड़ा जिले के बीगोद गांव में छिपे धन को पाने के लिए एक पांच वर्ष के बच्चे की बलि दी गई।

ऐसी नृशंस घटनाओं का होना और इतनी जल्दी-जल्दी होना क्या मनुष्य की राक्षसी मनोवृत्ति का सूचक नहीं है? जिस घटना में बच्चे के माता-पिता स्वयं जिम्मेदार बनते हैं, वहां तो ऐसा लगता है मानो दुनिया उलट रही है और प्रलय हो रहा है। बालक को सबसे अधिक संरक्षण मिलता है उसकी मां का। एक मां उसके दुःख-दर्द को जितना समझती है, कोई नहीं समझ सकता। मां न हो तो बच्चे की दुनिया अन्धी हो जाती है। ऐसी स्थिति में मां अपने फूल-से नाजुक बच्चे को मारने दे या मार दे, इससे अधिक राक्षसीपन और क्या होगा। क्या मनुष्य को धन-वैभव से इतना प्रेम है कि वह उसके लिए अपने ही अंश को समाप्त करने में संकोच नहीं करता? क्या उस बच्चे की आह उसे कभी शान्ति से बैठने देगी?

पहली बात तो यह है कि ऐसा अमानवीय कृत्य करके कोई भी व्यक्ति धनी बना हो, एक भी उदाहरण नहीं मिलता। अन्धविश्वासों की कारा में जकड़ा हुआ आदमी ही ऐसी बेसिर-पैर की बात पर भरोसा करता है और फिर जीवन भर अनुताप की आग में जलता है।

दूसरी बात—इन तरीके से किसी व्यक्ति को संयोगवश थोड़ा-बहुत धन मिल भी जाए तो क्या वह अपनी निर्द्वन्द्व जिन्दगी के सुख-चैन को उस धन के बदले में गिरवी नहीं रख देता? क्या वह समाज में सिर ऊंचा करके जी सकता है?

क्या वह अपनी शेष सन्तानों के बीच एक दुर्लंघ्य दूरी का ताप नहीं भोगेगा ? ये कुछ ऐसे सवाल हैं, जो अनुत्तरित रहकर भी आदमी को कचोटते हैं और इनके उत्तर भी उसके लिए सुखद नहीं होते।

हमारे देश में एक ओर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए अणुव्रत जैसे आन्दोलन चलते हैं, दूसरी और ऐसे अमानवीय काण्ड घटित होते हैं। यह एक ऐसी विसंगति है, जिसे तोड़ने के लिए एक साथ लाखों-करोड़ों अंगुलियो को उठाकर बुराई को बुराई के रूप में उजागर करने की अपेक्षा है। ऐसी प्रवृत्ति को जिस दिन पूरा संसार हेय दृष्टि से देखने लगेगा, यह अपने पांवों के बल पर खड़ी नहीं रह सकेगी। आज सबसे बड़ी कमी यह हुई है कि बुराई को पूरी दृढ़ता के साथ बुराई कहने की हिम्मत चुकती जा रही है। मानवीय मूल्यों में विश्वास रखने वाले लोगों का दायित्व है कि वे अपराधी मनोवृत्ति के मूल को पकड़े। अपने सांस्कृतिक मूल्यों में घुसपैठ कर रही विकृति को दूर करें और प्रबल जनमत जागृत कर प्रासंगिक जागरूकता का परिचय दें।

६२. सावधानी की संस्कृति

भगवान महावीर ने सम्राट श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार को दीक्षित किया। राजकुमार मेघ समझदार था, बुद्धिमान था, विवेक-संपन्न था। वह बहुत कुछ जानता था, पर यह नहीं जानता था कि मुनि-जीवन की चर्या क्या होती है ? मुनि को क्या करना चाहिए ? कैसे करना चाहिए ? इस दृष्टि से वह भगवान के निकट पहुंचा। बद्धांजलि प्रणत होकर उसने पूछा–'भंते ! मैं आपकी शरण में आ गया हूं। आपकी शरण स्वीकार करने के बाद मैं पूरी तरह से निश्चिंत हूं। अब मुझे किसी प्रकार का भय नहीं है। पर मैं अबोध हूं। कृपा कर आप मेरा मार्ग-दर्शन करें। मुझे कैसे चलना चाहिए ? कैसे ठहरना चाहिए ? कैसे बैठना चाहिए ? कैसे सोचना चाहिए ? कैसे भोजन करना चाहिए ? कैसे बोलना चाहिए ?' और भी बहुत कुछ पूछा था। मुनि मेघ की उन जिज्ञासाओं के पीछे ठोस उद्देश्य था। वह कुछ होना चाहता था। वह कुछ करना चाहता था। जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा– ये तीनों बातें जिजीविषा के साथ जुड़ी हुई हैं। जो व्यक्ति जीना चाहता है, सार्थक और सोद्देश्य जीवन जीना चाहता है, आदर्श की अवधारणा के साथ वैसा ही कुछ बनना चाहता है, उसे एक निश्चित जीवनशैली का अनुसरण करना ही होगा।

भगवान महावीर ने अपने नवदीक्षित शिष्य की प्रश्नाकुल आंखों में झांका। वहां नये जीवन के सतरंगे सपने तैर रहे थे। उन सपनों को साकार करने की प्रबल आकांक्षा ने ही मुनि मेघ को मुखर किया था। भगवान ने शिष्यों को समाहित करते हुए कहा–

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावंकम्मं न बंधई॥

वत्स ! मुनि बनने का अर्थ यह नहीं है कि उसे खाना-पिना, पहनना-ओढ़ना घूमना-फिरना, उठना-बैठना,सोना आदि प्रवृत्तियों का त्याग करना होगा। देहधारी

प्राणी इन प्रवृत्तियों का त्याग नहीं कर सकता। फिर भी यह आवश्यक है कि उसकी हर प्रवृत्ति गृहस्थों से भिन्न प्रकार की हो। 'अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा'–द्रष्टा वह होता है, जो किसी भी पदार्थ का उपयोग अपने ढंग से करता है, गृहस्थों की भांति नहीं करता। यह वह विभाजक रेखा है, जो एक गृहस्थ और मुनि की जीवनशैली में रहे हुए अन्तर को अभिव्यक्ति देने वाली है।

भगवान महावीर ने मुनि को प्रवृत्ति करने की इजाजत दी, पर प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करने का निर्देश दिया। यतना शब्द संयम का वाचक है। संयम की साधना के लिए होने वाली प्रवृत्ति कभी संयमशूल हो भी नहीं सकती। यतनापूर्वक चलना गमनयोग है। यह अपने आप में साधना है। शास्त्रकारों ने यतना के चार रूप बताए हैं– द्रव्ययतना, क्षेत्रयतना, कालयतना और भावयतना। द्रव्ययतना का अर्थ है आंखों से देखना। क्षेत्र यतना का सम्बन्ध युगप्रमित–गाड़ी के जुए जितनी भूमि को देखने से है। कालयतना में किसी सीमा का संकेत नहीं है। साधक जब तक चले, देखकर चले। कदाचित् आंख की रोशनी चली जाए तो वह दूसरे साधकों की निश्रा में चले। भावयतना का अर्थ है उपयुक्त होकर चलना।

यहां उपयुक्त शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। साधक जिस समय जो प्रवृत्ति करे, उसमें पूरे मन से जुड़ जाए अर्थात पूर्ण भावक्रिया के साथ क्रिया करे तो वह समाधि की स्थिति तक पहुंच सकता है। गमनयोग मे उपयोग की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार ने लिखा है :

इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते इरियं रिए॥

इन्द्रियों के विषयों का वर्जन, पांच प्रकार के स्वाध्याय का परिहार, गमनयोग में तन्मयता और उसी को प्रमुख मानकर चलना– यह उपयुक्त गमन या भावक्रिया के साथ होने वाले गमन का चित्र है। इस प्रकार संयम से चलना आध्यात्म है। इसलिए साधक की गमनक्रिया में यतना की अपेक्षा है।

साधक की अन्तरंग साधना की एक कसौटी है उसका गमनयोग। इस कसौटी पर वह साधक खरा उतरता है, जो बहुत जल्दी (दौड़ता हुआ) नहीं चलता है, बोलता हुआ नहीं चलता है, हंसता हुआ नहीं चलता है, खाता हुआ नहीं चलता है और इधर-उधर अन्यमनस्क भाव से देखता हुआ नहीं चलता है।

जो साधक चलते समय उद्विग्न हो जाता है, अधीर हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है, केवल ऊपर या नीचे की ओर देखता हुआ चलता है, मन से बात

करता हुआ चलता है, उसके गमनयोग सिद्ध नहीं हो सकता ।

चलने की तरह खड़ा रहने, बैठने, सोने, बोलने और भोजन करने आदि सभी प्रवृत्तियों में उपयुक्त रहने की अपेक्षा है, जागरूकता की अपेक्षा है। जागरूक साधक को अपने प्रमाद का बोध हो जाता है। जो अपने प्रमाद को समझता है, वह उससे बच भी सकता है। इसलिए साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक हो, संयमपूर्वक हो, यही उसकी सफलता है ।

६३. जीवन क्या है ?

जीवन एक प्रवाह है। वह रुकता नहीं है, बहता रहता है। जो बहता है, वही प्रवाह होता है। जिसमे ठहराव है, गतिहीनता है, वह प्रवाह नहीं हो सकता। प्रवाह स्वच्छता का प्रतीक है, जबकि ठहराव में गन्दगी की संभावना बनी रहती है। प्रवाह में जीवनी-शक्ति है, जबकि ठहराव में अस्तित्व का लोप संभव है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के प्रवाह को आगे बढ़ाना चाहेगा। सवाल एक ही है कि जीवन कैसा हो ? भारतीय आस्था के अनुसार जीवन का स्वरूप यह है–

शान्तं तुष्टं पवित्रं च सानन्दमिति तत्त्वतः।
जीवनं जीवनं प्राहुः भारतीय सुसंस्कृतौ ॥

भारतीय संस्कृति में उस जीवन को प्रशस्त जीवन माना गया है, जो शान्त हो, सन्तुष्ट हो, पवित्र हो और सानन्द हो। शान्ति, सन्तुष्टि, पवित्रता और आनन्द जीवन की महान उपलब्धियां हैं। इनका सम्बन्ध बाह्य पदार्थों से नहीं, व्यक्ति की अपनी वृत्तियों से है। पदार्थों का ढेर लग जाए तो भी वहां शान्ति का जन्म नहीं हो सकता। सन्तोष की प्राप्ति भी पदार्थ से नहीं हो सकती। संसार की सम्पूर्ण सुख-सुविधाएं कदमों में आकर बिछ जाएं, फिर भी तोष का अनुभव नहीं होता। लाभ लाभ को बढ़ाता है, यह तीर्थंकरों की वाणी है। तीर्थकरो की वाणी अनुभूत सत्य से पूत होती है। उसमें किसी प्रकार के संदेह का अवकाश ही नहीं रहता।

तीसरा तत्त्व है पवित्रता। उसका पदार्थ के साथ कोई रिश्ता ही नहीं है। पदार्थ के साथ जितना गहरा अनुबन्ध होता है, पवित्रता पर उतना ही सघन आवरण आ जाता है। पवित्रता नहीं है तो आनन्द कहां से आएगा ? आनन्द का निवास तो चित्त की पवित्रता में ही होता है। ऐसी स्थिति में सार्थक जीवन जीने की आकांक्षा अधिक दूभर हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि पदार्थवादी युग में कोई व्यक्ति सार्थक जीवन जी ही नहीं सकता। मेरे अभिमत से असंभव कुछ भी नहीं है। फिर भी मंजिल के अनुरूप रास्ते की खोज बहुत आवश्यक है। सार्थक जीवन जीने के भी कुछ उपाय हैं। उसी आस्था के परिप्रेक्ष्य में ये उपाय हैं–

संयमात् जायते शान्तिः तोषहेतु स्वतंत्रता।
हेतु शुद्ध्या पवित्रत्वं स्वस्थः आनन्दमर्हति॥

शान्ति का उत्स संयम है। जो लोग संयम से जीते हैं, विशिष्ट शान्ति का अनुभव करते हैं। स्वतंत्रता से सन्तोष की प्राप्ति होती है। सोने के पिंजरे में कैद पंछी को कितने ही मेवे-मिष्टान्न मिल जाएं, वह कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। परतंत्रता चाहे बाहर की हो, या भीतर की, वहां आत्मतोष नहीं मिल सकता। जीवन में पवित्रता तब तक नहीं उतर सकती, जब तक साधन-शुद्धि न हो। धतुरे के बीज से आम का वृक्ष नहीं उग सकता। इसी प्रकार अशुद्ध साधन से शुद्ध साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। आनन्द का अनुभव उस व्यक्ति को होता है, जो स्वस्थ रहता है। स्वस्थ कौन? 'स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थ'–जो अपने आप में रहता है, पूरी तरह से आत्मस्थ है जिसकी वृत्तियां अन्तर्मुखी हैं, जो बाहर नहीं भटकता, वह स्वस्थ होता है।

इस प्रकार का जीवन भारतीय संस्कृति का जीवन है। ऐसा जीवन कोई भी जी सकता है, बशर्ते कि वह इतना उदात्त जीवन जीना चाहे। जिसका जीवन प्रारंभ से ही कुंठा और निराशा का शिकार हो, वह प्राप्त अवसर का भी लाभ नहीं उठा सकता। जिस व्यक्ति का चिन्तन प्रवाहपाती होता है, जो यह सोचता है कि सब लोग असंयम की दिशा में बढ रहे हैं, मैं अकेला ही संयम के रास्ते पर क्यों चलूं? वह कोई ऊंचा काम नहीं कर सकता।

जो व्यक्ति अपने जीवन में कभी निराश नहीं होता। कठिन से कठिन परिस्थिति को भी जो हंसता-हंसता पार कर देता है, जिसकी गति में कभी अवरोध नहीं आता, जो अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखता है, उसका प्रयोग करना जानता है और समय पर उचित प्रयोग करता भी है, वह जीवन को अर्थवान बना लेता है। जीवन की सार्थकता और व्यर्थता उसकी शैली पर निर्भर है जिस जीवन शैली में संयम और सादगी का मूल्य है, अनुशासन और विनय का महत्त्व है, वह शैली सबके लिए हितावह हो सकती है।

६४. तपस्या का कवच

भगवान अरिष्टनेमि के युग का प्रसंग है। द्वारिका नगरी में द्वैपायन ऋषि तपस्या कर रहे थे। कुछ मनचले युवकों ने शराब के नशे में बेभान होकर उनको सताया। ऋषि आवेश में आ गए। उन्होने द्वारिका को भस्मीभूत करने का संकल्प कर लिया। यह संवाद श्रीकृष्ण तक पहुंचा। श्रीकृष्ण सीधे भगवान अरिष्टनेमि के पास पहुंचे। उन्होंने द्वारिका को शाप-मुक्त बनाने का उपाय पूछा। अरिष्टनेमि ने उनको तपोयोग के द्वारा ऋषि के शाप को प्रभावहीन करने का रास्ता सुझाया। श्रीकृष्ण ने उसी दिन से आयम्बिल तप की घोषणा कर दी। द्वारिका में प्रतिदिन कोई-न-कोई व्यक्ति आयम्बिल तप करता रहे। एक दिन भी यह क्रम टूटने न पाए, ऐसी व्यवस्था कर दी गई। बारह वर्ष तक निरनतर तपस्या का क्रम चला।

ऋषि द्वैपायन ने संक्लिष्ट परिणामों में देह का त्याग किया। द्वारिका को भस्म करने का उनका संकल्प शिथिल नहीं हुआ। दूसरे जनम में वे व्यन्तरदेव बने। अपना संकल्प पूरा करने के लिए वे बराबर सचेत थे। पर उन्हें अवकाश नहीं मिला। तपस्या के सामने उनकी शक्ति जड़ीभूत हो गई। फिर भी उनके मन का आक्रोश शान्त नहीं हुआ।

बारह वर्ष के बाद एक दिन द्वारिका के नागरिकों ने प्रमाद कर लिया। उस दिन जिस व्यक्ति को आयंबिल करना था, उसे विस्मृति हो गई। अन्य लोग निश्चिन्त थे। आयंबिल का सिलसिला टूटा और व्यन्तरदेव को मौका मिल गया। द्वारिका-दहन का उसका संकल्प पूरा हुआ। श्री कृष्ण देखते रह गए। वे भी कुछ नहीं कर सके। एक दिन तपस्या का क्रम टूटने से जो हालात हुए, सबको बोध-पाठ मिल गया। तप का तेज देवीशक्ति को भी प्रतिहत कर सकता है, इस अनुभव ने तपस्या के प्रति होने वाली आस्था को और अधिक सघन बना दिया।

आज हमारे देश के जो हालात हैं, जन-जीवन में स्थिरता नहीं है। मारपीट, लूट-खसोट और हत्याओं का जो दौर चल रहा है, देशवासी पूरी तरह से आतंकित है। आतंक का प्रभाव कहीं कम है तो कहीं अधिक, किन्तु निश्चिन्तता और निर्भयता

का माहौल कहीं नहीं है। पग-पग विघ्नबाधाओं की आशंका है। देश को इस संकट से बचाने के लिए यदि भारत सरकार 'अखण्ड तप' की घोषणा करे तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। अखंड तप का अर्थ है–एक दिन भी ऐसा न जाए, जिस दिन उपवास या आयमिबल की तपस्या न हो, मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि तपस्या का तेज हिंसा की शक्ति को निरस्त कर सकता है।

तपस्या का सम्बन्ध आत्मा की शुद्धि से है। तपस्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों का निर्जरण होने से आत्मा की उज्ज्वलता स्वयं प्रकट हो जाती है। सामान्यतः मनुष्य में दो प्रेरणाएं काम करती हैं– काम की प्रेरणा और मोक्ष की प्रेरणा। तपस्या मोक्ष की प्रेरणा से किया जाने वाला अनुष्ठान है। इसके द्वारा शरीर और मन–दोनों को साधा जा सकता है। एक दृष्टि से यह आत्मानुशासन का गहरा अभ्यास है। जो व्यक्ति अपने शरीर, इन्द्रिय और मन का संयम कर सकता है, वही तपस्या के क्षेत्र में गति कर सकता है।

तपस्या एक यात्रा है। इस यात्रा का पहला पड़ाव है देह की आसक्ति का त्याग, दूसरा पड़ाव है ख्याति की आसक्ति का त्याग और तीसरा पड़ाव है भविष्य की आकांक्षा का त्याग। इन पड़ावों पर विश्राम कर संचित करने वाला तपस्वी लक्षित मंजिल तक पहुंच जाता है। वह पार्थिव शरीर की संपूर्ण हलचल बन्द कर आत्मा के साथ संवाद स्थापित कर लेता है। आत्मा के साथ संवाद स्थापित करने का अर्थ है पदार्थ-निरपेक्ष सुख का अनुभव करना। आहार करने से जो सुख या तृप्ति मिलती है, उससे कई गुना अधिक सुख या तृप्ति निराहार रहकर पायी जा सकती है। आहार करने वाला आहार को पचाने में जितनी शक्ति का व्यय करता है, निराहार रहने वाला सहज रूप से उतनी शक्ति बचा लेता है। पाचनतंत्र के संचालन में खपने वाली ऊर्जा भीतर की ओर मुड़ जाती है। इससे व्यक्ति का मनोबल बढ़ता है, संकल्पबल पुष्ट होता है और अनिष्ट का निवारण होता है।

देश की जनता एक नया प्रयोग शुरू करे, तपस्या के द्वारा अतिरिक्त ऊर्जा को उपलब्ध कर उसका संचय करे और राष्ट्रीय स्तर पर इस कार्यक्रम को व्यापकता दे तो निश्चित रूप से कोई कारगर समाधान निकल सकता है। धर्माचार्य, राजनेता और जनता–सब मिलकर देश के हर प्रान्त में, हर गांव और शहर में तप का चिराग जला दें तो विघ्न-बाधओं का अन्धकार स्वयं तिरोहित हो जाएगा।

६५. क्षमा है अमृत का सरोवर

मनुष्य का जीवन एक सागर है । उसमें अमृत भी है, जहर भी है और भी बहुत कुछ है वहां । जब-जब इस सागर को व्यवहार की मथनी से मथा जाता है, भीतर के तत्त्व उभरकर बाहर आ जाते हैं । जब उसके भीतर का जहर पूंजीभूत होकर बाहर आता है, तो मनुष्य सांप, बिच्छू आदि जहरीले जन्तुओं से भी अधिक मारक हो उठता है । उसका मन, वाणी और शारीरिक चेष्टाएं विष बुझे तीरों की तरह किसी के सर्वस्व का हरण कर लेते हैं । इसी बात को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने जीवन को अमृतमय बनाने का निर्देश दिया है ।

क्षमा एक अमृत है । यह जिसके पास होता है, कटुता के जहर को धोकर स्वयं अमृत बन जाता है । जैन धर्म में क्षमा का गौरव पूरी गुरुता के साथ उद्‌गीत हुआ है । धर्म के चार दरवाजों में पहला द्वार क्षमा है । इस द्वार में प्रवेश किए बिना कोई भी व्यक्ति उस महापथ पर आगे नहीं बढ़ सकता । दस प्रकार के श्रमण धर्मों मे पहला धर्म क्षमा है । क्षमा जीवन का तेज है, ओज है । क्षमा ब्रह्म है, सत्य है । क्षमा ही तपस्वियों का रूप है । इसलिए क्षमा धर्म का विकास अपेक्षित है ।

क्षमापना, क्षमायाचनां और खमतखामणा—ये तीनों शब्द क्षमा धर्म की परिक्रमा करते हैं । अपनी भूल के लिए क्षमा मांगना और औरों की भूल के लिए क्षमा करना—इन दोनों का समन्वित रूप है 'खमतखामणा' । खमतखामणा का सही रूप तभी समने आता है, जब सहिष्णुता का विकास हो । इसके अभाव में खमतखामणा का मूल्य शाब्दिक उच्चारण से अधिक कुछ नहीं है । कभी-कभी इससे विडम्बना भी हो जाती है । क्षमा धर्म की साधना करने वाला व्यक्ति सहिष्णु होता है । सहनशील व्यक्ति दूसरों की भूल को न अधिक महत्त्व देता है और न उसकी गांठ बांधकर रखता है और न किसी के साथ दुर्व्यवहार ही करता है । यदि प्रमादवश कभी कुछ घटित हो जाए तो वह उसे तत्काल साफ कर देता है ।

क्षमाशील व्यक्ति वीतराग नहीं सराग, छद्‌मस्थ ही होता है । वह प्रतिशोध,

भय और आशंका की गिरफ्त से मुक्त नहीं होता। इन कारणों से तथा अन्य किसी कारण से वह आवेशाविष्ट भी हो सकता है। ऐसे समय में महापुरुषों की वाणियों और उसके आधार पर दिया गया उपदेश आक्रोश को समाप्त करने मे निमित्त बनता है। इसी प्रकार कुछ पर्व दिन भी जीवन की धारा को बदलने में निमित्त बनते हैं। पर्युषण पर्व क्षमा का पर्व है। इस पर्व की आराधना करते समय ऐसा वातावरण निर्मित होता है कि कठोर से कठोर व्यक्ति का अन्तर भी पसीज जाता है। उस समय व्यक्ति अपने भूले-भटके मन को संभाले। आक्रोश किसी दूसरे का नहीं, स्वयं का हनन करता है, यह सोचकर अपने मन के रोष का निवारण करे तो आत्महित एवं परहित दोनों एक साथ सध जाते हैं।

पर्युषण पर्व के मंगल अवसर पर व्यक्ति खमतखामणा करता है। क्षमा का आदान-प्रदान सही रूप में हुआ या नहीं, इसका मानदण्ड दूसरा नहीं, व्यक्ति स्वयं होता है। खमतखामणा करने के बाद मन हल्का हो जाए, चित्त आह्लाद से भर जाए और भीतर का शल्य निकल जाए तो जान लेना चाहिए कि खमतखामणा हो गया। ऐसा करने वाला व्यक्ति सबका मित्र बन जाता है। दूसरा कोई उसका मित्र बने या नहीं, उसके मन में किसी के प्रति शत्रुता का भाव नहीं रहता। मैत्री होने के बाद उत्तरोत्तर भावविशोधि होती रहती है।

खमतखामणा के व्यावहारिक रूप को अभिव्यक्ति देते हुए आगमों में बताया गया है–

खामेमि णं देवाणुप्पिया !
खमंतु णं देवाणुप्पिया !
खमंतुमरिहंति णं देवाप्पिया !

देवानुप्रिय ! मैं आपसे क्षमायाचना करता हूं। आप मुझे क्षमा करें। क्योंकि आप क्षमा करने में समर्थ हैं। सामर्थ्य के अभाव में क्षमा का आदान-प्रदान करना संभव ही नहीं है। जिस समय खमतखामणा का व्यावहारिक स्वरूप सामने आता है, मन, वाणी और शरीर एकीभूत हो जाते हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक सरलता इसकी निष्पत्ति है। एक बार ग्रन्थिमोचन करने के बाद 'बीयं तं न समायरे' अपनी ओर से दूसरी बार कभी ग्रन्थिपात का अवसर ही न उपस्थित होने दे, यह खमतखामणा की पूर्णता है। क्षमावान वह होता है जो अतीत को विस्मृत करता है, वर्तमान की चिन्तनधारा बदलता है और भविष्य में किसी प्रकार की छलना न करने के लिए संकल्पित होता है।

६६. प्राकृतिक समस्या और संयम

जैन धर्म संयम और सादगी प्रधान धर्म है। संयम और सादगी जीवन के शाश्वत मूल्य हैं। इनकी अपेक्षा हर युग में रहती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में इनकी महत्ता और अधिक बढ जाती है। इस वर्ष देश को दोहरे आतंक का सामना करना पड़ रहा है। एक आतंक है मनुष्यकृत और दूसरा आतंक है प्राकृतिक। आम आदमी इन दोनों से संत्रस्त है। प्रथम आतंक का सम्बनध मनुष्य के मानसिक असंतुलन से है। जाति, धर्म आदि का दुराग्रह इस असंतुलन का जनक है। इसे मिटाने के लिए कुछ ऐसे कारगर उपायों को काम में लेना जरूरी है, जो मनुष्य का ब्रेन वाशिंग कर सके।

दूसरा बड़ा आतंक है अकाल का। इसका सीधा सम्बन्ध प्रकृति से है। पर थोड़ी-सी गहराई में जाकर देखा जाए तो प्राकृतिक असंतुलन में भी मनुष्य का हाथ साफ नजर आता है। प्रकृति के अतिरिक्त दोहन को प्राकृतिक असन्तुलन का बड़ा निमित्त माना जाता है। स्काटलैंड के वनस्पति विज्ञानी राबर्ट चेम्बर्स के अनुसार वन-विनाश की निष्पत्तियां हैं—बाढ़, सूखा, गर्मी, अकाल और बीमारी। इस दिशा में सावधानी बरतने के साथ-साथ धार्मिक, सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्थाओं में भी सामयिक परिवर्तन की अपेक्षा है। श्रावक समाज का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो, इस दृष्टि से कुछ मुद्दों की ओर संकेत किया जा रहा है।

धार्मिक पर्व

हमारे समाज का सबसे बड़ा धार्मिक पर्व है 'मर्यादा महोत्सव'। वर्ष भर की धार्मिक गतिविधियों का आकलन-संकलन और भावी दिशादर्शन इस पर्व की उत्कृष्टता का प्रमुख हेतु है। इस अवसर पर जनता में उत्साह का सागर लहराने लगता है। यह उत्साह उसे विरासत में मिला हुआ है, इसलिए संस्कारगत है। एक साथ हजारों-हजारों लोगों की उपस्थिति संघीय भावना को ऐसा मूर्त रूप देती है कि दर्शक विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। कभी-कभी तो चालीस-पचास हजार लोग एकत्रित होते हैं। वे विशेष उत्साह के साथ आते हैं और पूरे वर्ष भर के लिए

धार्मिक पाथेय लेकर जाते हैं। उनके उत्साह को कम करना और उन्हे किसी लाभ से वंचित रखना हमारा लक्ष्य नहीं है। पर हम यह जरूर चाहते हैं कि समय के अनुसार कभी-कभी मर्यादा-महोत्सव को भी मोड़ दिया जाए।

- इस वर्ष मर्यादा-मोत्सव पर साधु-साध्वियों के सिंघाड़ों को नहीं बुलाया गया है।
- श्रावक-श्राविकाएं चातुर्मास की प्रार्थना करने के लिए आते हैं, उन्हें रोकना संभव नहीं है। पर वे सामूहिक रूप में बड़े-बड़े संघ बनाकर न आएं चातुर्मासिक क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के उपस्थित होने से ही काम हो सकता है।
- दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्रों के लोग कार्यक्रमों में सम्मिलित हो सकेंगे।

मर्यादा-महोत्सव की भांति अक्षय तृतीया पर्व भी व्यापक रूप लेता जा रहा है। इस वर्ष वर्षी तप करने वाले तपस्वी भी विशेष संयम बरतें। वे पारणा के समय दर्शन कर सकते हैं। उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु वे अपने साथ परिवार के अधिक लोगों को न लाएं। तपस्या के साथ संयम और सादगी का उदाहरण प्रस्तुत करें।

इसी प्रकार कहीं दीक्षा का प्रसंग उपस्थित हो तो उसमें भी सादगी का विशेष लक्ष्य रखा जाए। बड़े भोज, आडम्बर, प्रदर्शन आदि आकर्षणों के बचा जाए। व्यक्ति-व्यक्ति को संयम की प्रेरणा मिले, ऐसा उपक्रम सोचा जाए।

यहां तीन धार्मिक पर्वों का नामोल्लेख किया जाए। अन्य आयोजनों तथा प्रवृत्तियों में भी संयम को विस्मृत न किया जाए। केन्द्र की तरह अन्य स्थानों में साधु-साध्वियों के सान्निध्य में आयोजित समारोहों में भी इन निर्देशो के प्रति पूरा ध्यान रखा जाए।

ऐसे उत्सवों पर देश भर सेआने वाले सभी लोग आर्थिक दृष्टि से पूरे स्वावलम्बी होते हैं। हमारे समाज के अग्रणी लोगों की दूरदर्शिता का ही यह परिणाम है कि उन्होंने समय से पहले ही व्यवस्था को ठीक कर लिया। आगन्तुक लोगों के लिए भोजन-व्यवस्था प्रायः निःशुल्क नहीं होती। आवास हेतु अतिरिक्त रूप में जितनी व्यवस्था होती है, वह भी निःशुल्क नहीं होती। इससे दोनों तरफ का सन्तुलन बना रहता है।

सामाजिक पर्व

शादी, विवाह, जन्मदिन, तीज-त्योहार आदि ऐसे सामाजिक पर्व हैं, जिनमें परिजनों, परिचितों, मित्रों और साथियो का सहज सम्मिलन होता है। ऐसे अवसरों पर सामूहिक आमोद-प्रमोद को रोकना संभव नहीं है। किन्तु वृहद भोज को रोका

जा सकता है, बहुत ऊंची क्वालिटी की मिठाइयों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है, अनेक प्रकार की वैराइटीज को नियंत्रित किया जा सकता है, बारातियों की संख्या को सीमित किया जा सकता है।

विवाह के प्रसंग में दहेज की मांग, ठहराव और प्रदर्शन की बात से ऊपर उठकर मानवीय आदर्श स्थापित किया जा सकता है। यद्यपि मेरा सपना तो इससे बहुत बड़ा है। मैं चाहता हूं कि हमारे समाज में सैकड़ों-हजारों दम्पत्ति खड़े हों, जो दहेज को किसी भी रूप में स्वीकार न करे। इस वर्ष कई दम्पतियों ने ऐसा संकल्प स्वीकार किया है।

आजकल यत्र-तत्र सामूहिक विवाह की चर्चा सुनने में आती है। यह भी कहा जाता है कि बहुत ही कम समय में अत्यन्त सादगी के साथ ये विवाह संपन्न हो जाते हैं। संयम और सादगी को प्रायोगिक रूप देने की दृष्टि से किए गए उपाय कभी-कभी बड़ी समस्या का समाधान बन जाते हैं।

नामकरण, टीका, मायरा, होली, दीवाली आदि विशेष अवसरों पर सादगी रखने तथा मृत्युभोज जैसी सामाजिक रूढ़ियो को तोड़ने के लिए भी यह एक उपयुक्त अवसर है।

इस वर्ष दुष्काल में सबसे बड़ी समस्या है पानी की। एक ओर पीने के बूंद-बूंद पानी की प्रतीक्षा, दूसरी ओर नहाने-धोने में पानी का मुक्त अपव्यय। यह क्रम जैनत्व की दृष्टि से सर्वथा विपरीत है। देश के प्रत्येक नागरिक का दायित्व है कि वह पानी के उपयोग में संयम बरते। इससे दो लाभ होगे। धार्मिकता की वृद्धि और पानी के अपव्यय पर रोक।

पारिवारिक जागरूकता

परिवार समूह-चेतना का प्रतीक है। उसमें दो-चार व्यक्तियों की विवेक चेतना का जागरण पूरे समूह में नयी जागृति भर सकता है। पारिवारिक आमोद-प्रमोद एवं मिलन-प्रसंगों को भार न बनाया जाए। परिवार के एक-एक व्यक्ति में संयम एवं सादगी के संस्कार भरे जाएं और यह आस्था दृढ़ की जाए कि वर्तमान समस्या का मुकाबला असंयम से कभी संभव नहीं है।

देश के मौजूदा संकट से जूझने के लिए बहुत लोग जूझ रहे हैं। तेरापंथी समाज भी अपने दायित्व के प्रति जागरूक है। अकाल-पीड़ितों के लिए राहत कार्य तथा गायों की सुरक्षा के लिए लगाए जा रहे कैम्पों में तेरापंथी भी अपना योगदान दे रहे हैं। ऐसे संकट के समय में कोई भी व्यक्ति, वर्ग और समुदाय चुप बैठ भी नहीं सकता। इन सामाजिक कार्यों में भी पूरी प्रामाणिकता बरती जाए और व्यक्तिगत जीवन में संयम के विशेष प्रयोग किए जाएं, यह अपेक्षित है।

६७. अहिंसा शास्त्र ही नहीं, शस्त्र भी

मनुष्य शान्ति का इच्छुक है। वह शान्ति से जीना चाहता है। उसकी शान्ति में किसी प्रकार की बाधा पहुंचती है तो वह अस्थिर हो जाता है। शान्ति के लिए इतनी गहरी तड़प होने पर भी वह अशान्ति से घिर जाता है। क्योंकि शान्ति का अमोघ साधन है अहिंसा। जब तक अहिंसा की चेतना नहीं जागती है, अल्प मात्रा में जागती है, तब तक व्यक्ति हिंसा के सहारे चलता है। हिंसा एक प्रकार का उद्वेग है। उद्वेग के साथ शान्ति का दूर का रिश्ता भी नहीं है। उद्वेग की उपस्थिति में शान्ति सांस ही नहीं ले सकती। इसलिए उद्वेगमूलक प्रवृत्ति से बचाव करना जरूरी है।

हिंसा जीवन का एक खतरनाक मोड़ है। यह ऐसा मोड़ है, जहां घुमाव है, फिसलन है और अंधेरा है। घुमावदार मोड़ों पर प्रकाश की समुचित व्यवस्था हो और ट्रैफिक पुलिस सावधान हो तो दुर्घटनाएं कम होती हैं। इसी प्रकार अंधेरे रास्ते सीधे हों तो उन्हे सुविधा से पार किया जा सकता है, पर आगे कुछ भी दिखाई न दे सके, ऐसे मोड़ों पर हर पल मौत का साया मंडराता रहता है।

अहिंसा का रास्ता कुछ लम्बा अवश्य है, पर वहां न तो कुछ खतरनाक मोड़ है, न फिसलन है और न अन्धकार है। ऐसे रास्ते पर व्यक्ति निश्चिन्तता के साथ आगे बढ़ता है और समय से पहले मंजिल तक पहुंच जाता है। अहिंसा के दो अंग हैं—सापेक्षता और सह-अस्तित्व। इनका स्रष्टा है अनेकान्त। आज संसार एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है, जहां से आगे बढ़ने के लिए अनेकान्त की जरूरत है। किसी भी व्यक्ति, वस्तु या घटना को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना और विरोधी युगलों में समन्वय स्थापित करना—यह अनेकान्त है। यही सापेक्षता और सह-अस्तित्व का आधार है। अनेकान्त की बैसाखी के सहारे मनुष्य शान्ति की दिशा में प्रस्थान कर सकता है और शान्ति से जीवन-यापन कर सकता है। अनेकान्त को नहीं समझा गया तो किसी भी समय विश्व-युद्ध भड़क सकता है।

हत्या न करना, न सताना, दुःख न देना अहिंसा का एक रूप है। यह अहिंसा

की पूर्णता नहीं । उसका आचारात्मक पक्ष है । विचारात्मक अहिंसा इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है । विचारों में उतर कर ही अहिंसा या हिंसा को सक्रिय होने का अवसर मिलता है । वैचारिक हिंसा अधिक भयावह है । उसके परिणाम अधिक घातक हैं । विचारों की शक्ति का थाह पाना बहुत मुश्किल है । जिन लोगों ने इसमें थोड़ा भी अवगाहन किया है, वे विचार चिकित्सा नाम से नयी चिकित्सा विधि का प्रयोग कर रहे हैं । इस विधि में हिंसा, भय, निराशा जैसे नकारात्मक विचारों की कोई मूल्यवत्ता नहीं है । अहिंसा एक मात्र पोजिटिव थिंकिंग पर खड़ी है । पोजिटिव थिंकिंग एक अनेकान्त की उर्वरा में ही पैदा हो सकती है । अनेकान्त के बिना विश्व-शान्ति की कल्पना ही नहीं हो सकती ।

शान्ति का दूसरा बड़ा कारण है—त्याग की चेतना के विकास का प्रशिक्षण । भोगवादी वृत्ति से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है । यदि व्यक्ति को शान्ति से जीना है तो उसे त्याग की महिमा को स्वीकार करना होगा, त्याग की चेतना का विकास करना होगा । हमारे पूज्य गुरुदेव आचार्य भिक्षु ने सब प्रकार के उपचारों से ऊपर उठकर साफ शब्दों में कहा— 'त्याग धर्म है : भोग धर्म नहीं है ।' 'संयम धर्म है : असंयम धर्म नहीं है ।' भगवान की आज्ञा धर्म है : आज्ञा से बाहर कुछ भी धर्म नहीं है' यह वैचारिक आस्था व्यक्ति में अहिंसा की लौ प्रज्वलित कर सकती है ।

बात विश्व शान्ति की हो और विचारों में घोर अशान्ति व्याप्त हो तो शान्ति किस दरवाजे से भीतर प्रवेश करेगी ? एक ओर शांति पर चर्चा, दूसरी ओर घोर प्रलयंकारी अणु अस्त्रों का निर्माण ! क्या यह विसंगति नहीं है ? ऐसी विसंगतियां तभी टूट सकेंगी, जब अणु अस्त्रों के प्रयोग पर नियंत्रण हो जाएगा ।

जिस प्रकार पानी मथने से घी नहीं मिलता, वैसे ही हिंसा से शान्ति नहीं मिलती। शान्ति के सारे रहस्य अहिंसा के पास है । अहिंसा से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है, शस्त्र भी नहीं है । आवश्यकता है इस सन्दर्भ में कुछ नया खोजने की । जब तक हम नयी खोज यात्रा के निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाएंगे, अहिंसा की क्रियान्विति कोरी कल्पना बनकर रह जाएगी । कल्पना के चोगे को उतारे बिना विश्व-शान्ति का सपना कभी साकार नहीं हो सकेगा ।

६८. शाश्वत और सामयिक

सत्य के दो रूप– निश्चय और व्यवहार । निश्चय सत्य त्रैकालिक होता है। वह अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा । व्यवहार सत्य सामयिक होता है । वह आज सम्मत होता है, कल असम्मत भी हो सकता है । कल जो असम्मत था, वह आज सम्मत हो सकता है । सत्पुरुषों द्वारा व्यवहार्य या आचरित प्रवृत्ति सत्य के चौखटे में फिट बैठती है । 'सति साधुः सत्य' जो अपने अस्तित्व के प्रति सही है, वह सत्य है । इस परिभाषा का सम्बन्ध वर्तमान के साथ है, जो कि सामयिक सत्य के साथ जुड़ी हुई है ।

एक व्यक्ति आज सदाचारी है । दो वर्ष बाद उसका आचरण विकृत हो सकता है । पर उसके आधार पर उसके सदाचार को गलत नहीं बताया जा सकता । एक व्यक्ति आज बुरा है । उसका आचरण ऊंचा नहीं है । दो वर्षों बाद उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाए तो भी उसे बुरा मानना व्यवहार-सम्मत सत्य नहीं है । सामयिक सत्य बदलता रहता है, इसी तथ्य के आधार पर परम्पराओं में परिवर्तन की संभावना बनी रहती है ।

एक समय था जब साध्वियां साधुओं को हाथ जोड़कर वन्दना करती थीं । पर साधुओं की ओर से अभिवादन करने का क्रम प्रचलित नहीं था । हमारे युग में साधु-साध्वियों के पारस्परिक वन्दन-व्यवहार को लेकर प्रश्न उठे । उन प्रश्नों में औचित्य की प्रतीति हुई है । फलतः एक नयी परम्परा का सूत्रपात हुआ और साध्वियां भी वन्दनीय हो गईं ।

ब्रह्मचर्य शाश्वत सत्य है । इसकी अपेक्षा से विवाह वर्जनीय है । पर जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन न कर व्यभिचार के पथ पर अग्रसर होता है, उसके लिए विवाह भी उपादेय बन जाता है ।

जो लोग सामयिक सत्य को भी त्रैकालिक मान लेते हैं, वे गति नहीं कर सकते । उनके जीवन में ठहराव आ जाता है । समाज में अनेक ऐसी रूढ़ियां हैं, जो आज अर्थहीन हो गई हैं । उन्हें छोड़ने में किसी को झिझक नहीं होनी चाहिए।

किन्तु अनेक व्यक्ति ऐसे भी मिल जाते हैं, जो काल के प्रवाह से जर्जरित रूढ़ियों का भार ढोकर ही स्वयं को गौरवशाली समझते हैं। त्रैकालिक और सामयिक सत्य को समझने के लिए विवेक का जागरण आवश्यक है। विवेक के अभाव में वैचारिक आग्रह प्रबल होता है और व्यवहार में रूढ़ता आती है।

प्राचीन काल में साधुओं के विहार क्षेत्र के बारे में एक सीमा निश्चित थी। उसका वर्णन वृहत् कल्पसूत्र (१/४७) में मिलता है। उसके अनुसार साधु-साध्वियां पूर्व दिशा में अंग-मगध तक, दक्षिण दिशा में कौशाम्बी तक, पश्चिम दिशा में थूणा देश तक और उत्तर दिशा में कुणाला देश तक जा सकते थे। क्योंकि आर्यक्षेत्र की सीमाएं वहीं तक सीमित थीं। यह परम्परा बहुत लम्बे समय तक यथावत् चलती रही। कालूगणी के समय में विहार क्षेत्र के विस्तार की बात सामने आई तो आर्य क्षेत्र की सीमाएं आड़े आ गईं।

इस सन्दर्भ में गहरा चिन्तन किया गया तो वृहत् कल्पसूत्र का सही पाठ उक्त सीमा को असीमता देने वाला प्रमाणित हो गया। उस पाठ का अन्तिम अंश है– 'तेणपरं जत्थ नाणदंसण चरित्ताइं उस्सप्पंति' आर्य क्षेत्र की निर्धारित सीमा के बाहर जहां कहीं ज्ञान, दर्शन और चरित्र की वृद्धि हो, वहां साधु-साध्वियां जा सकते हैं। आगम के इस शाश्वत सत्य को आधार मानकर पज्य कलूगणी ने साहस किया और चालू परम्परा को बदलकर साधुओं को सुदूर प्रदेश की यात्रा के लिए भेज दिया।

आचार्य भिक्षु के युग में कपाट नहीं खोले जाते थे। वह भी एक सत्य था। इस सम्बन्ध में कई बार शास्त्रार्थ भी हो चुके थे। कपाट खोलने में हिंसा की संभावना से ही उन्हें खोलने का निषेध किया गया था। आज स्थितियां बहुत बदल चुकी हैं। अब कपाटों मे 'चूलिया' नहीं होते। ऐसे कपाट अप्रतिलेख्य नहीं रहते। इन्हें विवेकपूर्वक खोलने में किसी प्रकार के दोष की संभावना प्रतीत नहीं हुई। इसीलिए आज बिना चूलिया के कपाट खोले जा सकते हैं।

उज्जैन के राजा विक्रमादित्य ने वर्णावर्णी की एक व्यवस्था दी। व्यवस्था के अनुसार शादी-विवाह अपने-अपने वर्ण में होने लगे। पूरी दृढ़ता के साथ इस वर्ण-व्यवस्था का पालन होता था। वर्तमान परिस्थितियों में वह व्यवस्था टूट गई। अब अन्तर्वर्णीय विवाह पर कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं है।

इस प्रकार की अनेक परम्पराएं हैं, जो समय-समय पर बनती और बदलती रहती हैं। इन सबका समावेश सामयिक सत्य में होता है। त्रैकालिक सत्य न कभी बदला है और न कभी बदल सकेगा।

६९. कभी गाड़ी नाव में

भारतीय संस्कृति धार्मिक आस्थाओं और आध्यात्मिक परमपराओं का संगम है। इस संस्कृति में जनमे और पनपे लोगों की यह अवधारणा है कि जीवन के अंधेरे गलियारों को रोशन करने का काम धर्म या अध्यात्म ही कर सकता है। यहां की लोकचेतना ने धार्मिकता एवं मानवीय मूल्यों को आदर्श मानकर अपने ढंग की नयी जीवन-शैली विकसित की है। यहां का प्रशासन-तंत्र भी आध्यात्मिक सोच वाले व्यक्तियों के मार्ग-दर्शन में काम करता रहा है। इधर काफी समय से इस क्रम में बदलाव आ गया। इससे देश का वातावरण भी बहुत कुछ बदल गया। इस विषय में गहरे अनुसंधान की जरूरत है कि देश में आए परिवर्तन का कारण अध्यात्म एवं धर्म की अपेक्षा ही है अथवा कोई अन्य कारण काम कर रहा है? क्योंकि ऐसा बदलाव केवल भारत में ही नहीं आया है, पूरा विश्व मूल्यों की संक्रमणशीलता से प्रभावित हो रहा है। इस संदर्भ में राजस्थानी भाषा की कहावत–'कभी गाडो नाव में और कभी नाव गाडे में, अक्षरशः प्रमाणित हो रही है।

समय और परिस्थिति के अनुसार किसी भी देश के मूल्य-मानकों में परिवर्तन कोई नयी समस्या नहीं है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि आज देश के वातावरण में निराशा एवं कुंठा परिव्याप्त हो गई है। मनुष्य की जिन्दगी हर निराशा, कुंठा एवं घुटन से अधिक कीमती है, इस तथ्य को समझने पर भी लोकजीवन निराशा की गिरफ्त से मुक्त नहीं हो रहा है। जनता और नेता–सभी पर निराशा की पकड़ काफी मजबूत है। यह निराशा! यह मायूसी! कुछ तो कारण होगा? इस सम्बन्ध में एक गंभीर चिन्तन की जरूरत है। क्योंकि निराशा जीवन की सबसे बड़ी पराजय है।

राजा महल में गमगीन बैठा था। रानी ने उदासी का कारण पूछा। राजा बोला–एक बुरी खबर मिली है।

रानी ने पूछा– ऐसी कौन-सी खबर है?

राजा ने उत्तर दिया–मेरी सेना युद्ध हार गइ ।

रानी कुछ सोचकर बोली– मैंने इससे भी अधिक बुरी खबर सुनी है ।

राजा ने उत्सुक होकर पूछा– वह क्या ?

रानी बोली–'मेरे देश के सम्राट हिम्मत हार गए । वे अपना पौरुष, शौर्य, आत्मविश्वास और क्षत्रियता हार गए । आज वे निराश होकर अपने महलों में बैठे हैं ।' रानी के इन शब्दों से राजा को चोट लगी । उसकी सोई हुई चेतना जागी। उसने आशा का दीपक जलाया और पुनः मैदान में जाकर मोर्चे पर खड़ा हो गया। इस बार वह घर लौटा तो उसके चेहरे पर विजय की मुस्कान थी ।

जीवन के किसी भी मोर्चे पर उभरी हुई निराशा को निरस्त कर आगे बढ़ने की जरूरत है । समस्या कहां नहीं होती ? सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, व्यावसायिक, शैक्षणिक, पारिवारिक और सांस्कृतिक–सभी क्षेत्र समस्या-संकुल हैं । केवल भारत में ही नहीं, समूचे विश्व में संस्कृति के कदम डगमगा रहे हैं । संस्कृति के डगमगाते कदमों को ठोस जमीन देने के लिए व्यापक स्तर पर काम करने की जरूरत है । धर्म, नीति और अध्यात्म संस्कृति के विशिष्ट अंग हैं । ये अंग जीवंत रहें तो जीवन के शेष क्षेत्रों की समस्याएं भी सहज भाव से सुलझ सकती हैं ।

आज हमारे सामने सबसे अधिक मुखर प्रश्न यह है कि देश, धर्म, भाषा, जाति, राजनैतिक विचारधारा–इन सबके रहते हुए क्या विश्वचेतना का जागरण संभव है ? जब तक व्यक्ति की चेतना में समाई हुई व्यक्तिवादी मनोवृत्ति या स्वार्थ मूलक भावना प्रबल रहेगी, समाज, देश या विश्व के बारे में सकारात्मक चिन्तन उभर सकेगा ? धर्म, जो कि सब भेदभावों से ऊपर है, सबको जोड़ने वाला है, भेदभावों में क्यों उलझ रहा है । धर्म के नाम पर हिंसा औरआतंक का वातावरण क्यों बन रहा है ? क्या हिंसा की प्रेरणा देने वाला तत्त्व धर्म हो सकता है ? धर्म के आगे सन्देह का कुहासा गहरा क्यों हो रहा है ? धर्म की संस्कृति के पास जैसा उदारतावादी मंच होना चाहिए, क्या उसका अस्तित्व प्रकाश में है ? इन प्रश्नों के घेरे में खड़ी हमारी सांस्कृतिक विरासत क्या कभी लोकजीवन को त्राण दे सकेगी ?

केवल परलोक और मोक्ष की बातें करने वाला धर्म खंडित सच्चाइयों का हिस्सा हो सकता है, पर उसे पूरी तरह संस्कृति को उजालने की गरिमा नहीं मिल सकती। समाज और देश की समस्याओं से जुड़ने और उनका समाधान खोजने वाला धर्म ही अपना वर्चस्व स्थापित कर सकता है । उपयोगिता को प्रमाणित कर सकता है।

अणुव्रत संपूर्ण सत्य नहीं है । वह सत्य का छोटा-सा रास्ता है । वह एक ऐसा तरीका है, जो धर्म को जीना सिखाता है, जीवन में उतारना सिखाता है ।

किसी भी आस्था और विश्वास में जीने वाला अणुव्रत के आदर्शों पर चल सकता है। अणुव्रती बनने के लिए किसी उपासना पद्धति को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। केवल ईमानदारी की जरूरत है। ईमानदारी से जीने वाले व्यक्ति पांच-पांच व्यक्तियों को ईमानदारी के रास्ते पर ला सकें तो अणुव्रत का बहुत बड़ा काम हो सकता है। आवश्यकता है ऐसे व्यक्तियों की, जो नये उत्साह और नये संकल्प के साथ इस योजना को क्रियान्वित कर सकें।

७०. भारतीय कहां रहते हैं ?

अध्यापक छात्रों को भारत का नक्शा दिखा रहा था अखण्ड भारत का परिचय देते हुए उसने कहा– 'देखो बच्चो ! हमारे देश का सांस्कृतिक प्रदेश गुजरात है, यहां मुख्यतः गुजराती लोग रहते हैं । यह हरा-भरा पंजाब है । इसमें पंजाबी रहते हैं । यह रवीन्द्रनाथ टैगोर के पूर्वजों का प्रान्त बंगाल है, यहां बंगाली लोग रहते हैं । यह तमिलनाडु प्रदेश है, यहां तमिल रहते हैं । यह रेगिस्तानी इलाके वाला प्रदेश राजस्थान है, इसमें राजस्थानी रहते हैं ।'

अध्यापक समझा रहा था । बच्चे ध्यान से सुन रहे थे । एक विद्यार्थी के चेहरे पर एक साथ कई प्रकार के भाव उतर आए । वह उत्सुक था कुछ कहने के लिए और उसकी जिज्ञासा भी प्रबल हो रही थी । अध्यापक ने अपनी बात पूरी की तब वह बोला–'सर ! यह भारत है । हम भारतीय इसमें कहां रहते हैं ? अध्यापक मौन था । उसे अपनी भूल का अहसास हो गया । एक ओर अखण्ड भारत का बोध पाठ देने वाले अध्यापक भी जब अपने देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बांटने लगे तो विद्यार्थियों में अखण्ड राष्ट्रीयता की भावना का विकास कैसे होगा ?

जैन धर्म पर रिसर्च करने वाले कुछ विदेशी युवक भारत आए । वे दिल्ली या अहमदाबाद जैसी जैनों की सघन नगरी में पहुंचे । वहां उन्होंने कुछ जैन परिवारों से साक्षात्कार कर अपनी जानकारी को विशद बनाना चाहा । वे लोग एक बस्ती में गए । उन्होंने चौराहे पर खड़े हुए कुछ लोगों से पूछा–'आप लोग किस धर्म को मानने वाले हैं । हम दिगम्बर जैन हैं ।' एक भाई ने उत्तर दिया । कुछ आगे बढ़कर उन्होंने इसी प्रश्न को दोहराया । वहां खड़े भाइयों में से एक ने कहा– 'भाई साहब ! हम श्वेताम्बर जैन हैं ।' तीसरी बार उनका जिन लोगों से मिलना हुआ, उन्होंने बताया कि वे मूर्तिपूजक जैन हैं । इसी क्रम से स्थानकवासी जैन और तेरापंथी जैन भी मिले । जितने लोग मिले, सबने जैन के साथ एक विशेषण जोड़ दिया । विदेशी युवक असमंजस में पड़ गए । बहुत कोशिश करने पर भी उनको कोई जैन नहीं मिला ।

जैन धर्म की सत्ता त्रैकालिक है। तीर्थंकरों ने उस धर्म को उजागर किया। इस धर्म के सिद्धान्त सार्वभौम और सार्वजनीन हैं। काका कालेलकर के अभिमत से जैन धर्म में विश्वधर्म बनने की क्षमता है। पर जैन धर्म के अनुयायियों ने उसको टुकड़ों-टुकड़ों में बांट दिया। विभाजन की इस प्रक्रिया के बाद जैन धर्म पर रिसर्च करने वालों को दिगम्बर मिल सकते हैं, श्वेताम्बर मिल सकते हैं। स्थानकवासी मिल सकते हैं, तेरापंथी मिल सकते हैं, पर निखालिस जैन नहीं मिलते। अपेक्षा इस बात की है कि जैन लोग दिगम्बर और श्वेताम्बर बनें या नहीं, पर जैन बनें अपनी जीवन शैली को जैन धर्म के अनुसार निर्धारित करें और जैनत्व को जीना सीखें।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण व्यक्ति की विभाजनवादी मनोवृत्ति के प्रतीक हैं। ऐसी मनोवृत्ति वाले लोग भेद की ओर उन्मुख रहते हैं। यह व्यवहार नय की प्रधानता वाला दृष्टिकोण है। व्यवहार नय अभेद में भी भेद को ग्रहण करता है। पर यह एक ही दृष्टि नहीं है, जिसके आधार पर चिन्तन और आचरण का निर्धारण हो। संग्रह भी एक नय है। यह अभेद का संग्राहक है। इसके द्वारा सत्ता के आधार पर समूचे विश्व को एक रूप में प्रस्तुति दी गई है। यह दृष्टि भी एकान्ततः सही नहीं है। ये दोनों दृष्टियां अपने-अपने स्थान पर सही हैं। अनेकान्त के आधार पर समीक्षा की जाए तो दोनों दृष्टियों का सापेक्ष मूल्य है। भेद में अभेद और अभेद में भेद खोजने वालों की विचारधारा में किसी प्रकार का आग्रह न रहे, यह आवश्यक है।

अभेद की इस परिकल्पना के द्वारा दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि का अस्तित्व समाप्त करना संग्रहनय को अभीष्ट नहीं है। अपेक्षा इतनी है कि जैनत्व को ऊपर रखा जाए और अवान्तर भेदों को दूसरा स्थान दिया जाए। समस्या तब खड़ी होती है, जब दिगम्बरत्व या श्वेताम्बरत्व प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं और जैनत्व की पहचान गौण हो जाती है। जैन धर्म के प्रति आस्थाशील सब लोगों का दायित्व है कि वे जैनत्व को प्रमुखता दें और जैन कहलाने में गौरव का अनुभव करें।

७१. नकारात्मक चिन्तन

मनुष्य विचार शील प्राणी है, विवेकशील प्राणी है। उसके पास बुद्धि है, शक्ति है। वह अपनी बुद्धि का उपयोग करता है, चिन्तन के हर कोण पर रुकता है, विवेक को जगाता है, शक्ति का नियोजन करता है और संसार के अन्य प्राणियों से वेहतर जीवन जीता है। जीने के लिए वह अनेक प्रकार की सुविधाओं को जुटाता है। सत्ता और संपदा ये तो ऐसे तत्त्व हैं, जिनका आकर्षण अधिकांश लोगों को वना रहता है। सत्ता के मूल में सेवा की भावना है और सम्पदा के मूल में जीवनयापन की। न सत्ता के बल पर कोई व्यक्ति बड़ा बनता है और न सम्पदा ही किसी को शिखर पर विठा सकती है। जो लोग सेवा की पवित्र भावना से सत्ता के गलियारे में पांव रखते हैं और जीवनयापन के साधन रूपमें अर्थ का उपयोग करते हैं, वे सत्ता और सम्पदा प्राप्त करके भी कुंछ अतिरिक्त अनुभव नहीं करते। सहज सादगीमय जीवन जीते हुए वे सत्ता और सम्पदा के द्वारा-हितकारी प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाते हैं।

कुछ लोगों की अवधारणा है कि व्यक्ति का अस्तित्व और व्यक्तित्व सत्ता एवं सम्पदा पर ही निर्भर है। इसलिए वे जैसे-तैसे इन्हें हथियाने का प्रयास करते हैं और ये हस्तगत हो जाएं तो इनका उचित-अनुचित लाभ भी उठा लेते हैं। ऐसे लोगों में न तो सेवा की भावना होती है और न ही वे उपयोगितावादी दृष्टि से अर्थ का अंकन करते हैं। इनके द्वारा अहंकार बढ़ता है और वे स्वयं को आम आदमी से बहुत बड़ा मानने लगते हैं। यहीं से एक भेद-रेखा वनने लगती है, जो सत्ताधीश एवं सम्पत्तिशाली को दूसरे नजरिये से देखने का धरातल तैयार करती है।

जिस व्यक्ति के पास सत्ता हो और सम्पदा हो, फिर भी उन्माद न हो, वहुत कठिन वात है। इन दोनों में से एक पर अधिकार पाने वाला व्यक्ति भी मूढ हो सकता है। जहां दोनों का योग हो जाए, वहां मूढता न आए, यह तो संभव ही नहीं है। इस वात को सब लोग जानते हैं, फिर भी सत्ता और सम्पदा पाने की

आकांक्षा का संवरण नहीं होता। जिनकी आकांक्षा पूरी हो जाती है, वे सौभाग्य से ही मूढ़ता से बच पाते हैं। किन्तु जिनकी आकांक्षा पूरी नहीं होती, वे एक-दूसरे प्रकार के उन्माद के शिकार हो जाते हैं। उनके मन में प्रारंभ में निराशा का उदय होता है, जो एक अवधि के बाद आक्रोश में बदल जाता है। इसके बाद उनके मन में सत्ताधीशों और धनाढ्य व्यक्तियों के प्रति ईर्ष्या, जलन, आक्रोश आदि नकारात्मक भाव गहरे होते जाते हैं।

ईर्ष्या और आक्रोश के भाव किसी कारण से उत्पन्न हों तो उस कारण के समाप्त होते ही वे भाव भी समाप्त हो सकते हैं। किन्तु जो अकारण ही अपने मन को द्वेष से भर लेते हैं, उनको सन्तोष देने का उपाय तो किसी के पास नहीं होता। ऐसा आक्रोश जिन व्यक्तियों में स्थायी हो जाता है, वे धर्म-गुरुओं को भी कोसते रहते हैं। उनकी धारणा बन जाती है कि साधु-सन्त भी पैसे वालों और नेताओं को महत्त्व देते हैं। ऐसे कितने ही लोगों की परोक्ष शिकायतें मेरे पास हैं। उनकी भावनाएं विभिन्न रूपों में पहुंचती हैं, जैसे–

- आचार्यश्री पैसे वालों से घिरे रहते हैं। हमारी ओर देखने की उन्हें फुर्सत ही नहीं होती।
- हमको मंगल पाठ सुनाने का भी समय नहीं है और नेताओं से घंटों बातें चलती रहती हैं।
- हमारी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया जाता। पैसे वालों की सुनवाई तत्काल होती है।
- हमारे साथ भी कोई सत्तावाले होते तो हमारी भी पूछ हो जाती।
- हम दर्शन करते हैं तो हमारी वन्दना भी स्वीकृत नहीं होती। किन्तु पैसे वाले आधी रात को भी आ जाएं तो पूरा समय मिल जाता है।
- आजकल तो साधु-सन्त भी नेताओं के दरवाजे खटखटाते रहते हैं।
- आचार्यश्री के मंच पर नेताओं का क्या काम ? पर इनके बिना तो कोई बड़ा कार्यक्रम होता ही नहीं है।

इस प्रकार की न जाने कितनी बातें इधर-उधर फैलाई जाती हैं, जो जन-साधारण को गुमराह बना देती हैं। जनता में भी इतना हौसला नहीं होता कि वह सुनी हुई बात की पूरी पड़ताल करके ही उस पर भरोसा करे। कुछ लोगों का यह तकिया-कलाम हो जाता है कि वे बेबुनियाद बातों को उछालते रहते हैं। ऐसी स्थिति में हर व्यक्ति का दायित्व है कि वह भ्रान्ति फैलाने वाली हरकतों से सावधान रहे और प्रत्येक घटना को गहराई से समझने का प्रयत्न करे।

उक्त सन्दर्भ में मुझे अपनी ओर से दो बातें कहनी हैं।

पहली बात– सम्पत्तिशाली और सत्ताधारी व्यक्ति अछूत नहीं हैं। समाज में इनका भी स्थान है और उपयोग है। भगवान महावीर के समवसरण में पूनिया श्रावक का उपयोग था तो सम्राट् श्रेणिक और कौणिक का भी अपने-अपने क्षेत्र में पूरा उपयोग था। हमारे पास भी यदि कोई वैभवशाली और सत्ताधीश व्यक्ति आता है तो हम उसे भी दिशा-दर्शन देते हैं और उसकी क्षमताओं का उपयोग करने में किसी प्रकार दोष नहीं समझते।

दूसरी बात–हमारे वर्ष भर के कार्यक्रमों में कुछ ही कार्यक्रम ऐसे होते होंगे, जिनमें लोगों की नजर पर चढ़ने वाले नेता आते हैं। क्या लोगों का ध्यान उन दो-चार कार्यक्रमों पर ही केन्द्रित रहता है? वे हमारी वार्षिक गतिविधियों का आकलन क्यों नहीं करते? उनकी दृष्टि ही वैसी है तो कोई क्या कर सकता है? अन्यथा हमारे यहां तो साधु-चर्या के विशेष उपक्रमों को छोड़कर सुबह से लेकर रात के लगभग नौ-दस बजे तक जन-सम्पर्क के लिए खुली छूट रहती है। कोई आए, समय ले और बात करे तभी उसे वास्तविकता का बोध हो सकता है।

७२. अपभाषण सुनना भी पाप है

मनुष्य में कई प्रकार की वृत्तियां होती हैं। आलोचना की वृत्ति उनमें से एक है। यह वृत्ति दो प्रकार की होती है–प्रशस्त और अप्रशस्त। स्वस्थ, निष्पक्ष और हितेच्छा से प्रेरित आलोचना प्रशस्त कहलाती है। इसकी भी अपनी सीमाएं हैं और सिद्धान्त हैं। जिस आलोचना में सीमा और सिद्धान्त का अतिक्रमण हो, जो आक्षेपात्मक हो, सम्बन्धित व्यक्ति को अच्छे लोगों की निगाहों से गिराना ही जिसका लक्ष्य हो तथा जिससे व्यक्गित और सामूहिक हितों पर सीधा प्रहार होता हो, उस आलोचना को अप्रशस्त माना जाता है।

हमारे धर्मसंघ में ऐसी अप्रशस्त आलोचना का क़ोई स्थान नहीं है। श्रद्धेय भिक्षु स्वामी ने इस प्रकार की आलोचना को नकारते हुए कहा– 'कोई व्यक्ति गण की उतरती बात करे और दूसरा उसे रस लेकर सुने, वे दोनों दोषी हैं।' किसी व्यक्ति में दोष दिखाई दे तो क्या करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में अपनी नीति स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा– गलती को न छिपाया जाए न फैलाया जाए। गण के किसी भी व्यक्ति में दोष जान पड़े तो उसका अन्यत्र प्रचार किए बिना स्वयं दोषी व्यक्ति को अथवा आचार्य को सूचित करे। गलती को उपेक्षित करना जितना दोषपूर्ण है, उसे प्रचारित करना भी उतना ही दोषपूर्ण है। गलती के परिष्कार का लक्ष्य सामने रखकर उसे उचित स्थान पर पहुंचाना एक स्वथ्य नीति है।

जो लोग अकारण इस नीति का अतिक्रमण करते हैं अथवा द्वेष भावना से प्रेरित होकर यत्र-तत्र अनर्गल आलोचना करते रहते हैं, आक्षेप लगाते रहते हैं और कुछ लोग उनकी हां में हां मिलाते रहते हैं या निर्वाक होकर सुनते रहते हैं, वे भी आलोचना करने वालों से कम अपराधी नहीं हैं। एक संस्कृत कवि ने लिखा है–

न केवलं यो महतोऽपभाषते,
श‍ृणोति तस्मादपि यः स पापभाग्।

कि महान् व्यक्ति के बारे में अपभाषण करना जितना पाप है, उसे सुनना भी उससे कम पाप नहीं है। गलत आलोचना सुनने वालों का यह नैतिक दायित्व है कि वे उसका समुचित उत्तर दें अथवा उस प्रसंग में सम्मिलित न रहें। वे स्वयं उस अवांछित स्थिति का अस्वीकार करें और अपने स्वजनों-परिजनों को भी प्रतिबोध दें। यह अस्वीकार की शक्ति बहुत विलक्षण होती है। इसके द्वारा उन व्यक्तियों, नीतियों, पद्धतियों और विचारों को सरलता से हतोत्साह किया जा सकता है, जो संघीय आस्था और चारित्रिक दृढ़ता को दुर्बल बनाने वाले हैं।

७३. धर्म की कसौटियां

तेरापंथ धर्मसंघ अपनी जिन्दगी के दो सौ सत्ताईस वर्ष सम्पन्न कर ११ जुलाई १९८७ को दो सौ अट्ठाइसवें वर्ष में प्रवेश कर चुका है। अतीत का आलोक, वर्तमान की जागरूकता और भविष्य के सपने तेरापंथ के व्यक्तित्व को जीवंत रखने वाले हैं। धर्मसंघ का व्यक्तित्व चतुर्विध संघ का व्यक्तित्व है। इसको निखारने एवं संवारने का दायित्व संघ के प्रत्येक सदस्य पर है। आचार्य भिक्षु तेरापंथ के संस्थापक थे। उन्होंने संघ की विधिवत् स्थापना नहीं की थी। वि० सं० १८०८ में उन्होंने साधना की धरती पर पहला कदम रखा। उस समय उनके मन में नयी कल्पनाएं और नयी उम्मीदें थीं। आठ वर्ष तक निरन्तर चलने पर भी वे कल्पनाएं साकार नहीं हुईं, उम्मीदें पूरी नहीं हुईं, तब उन्होंने धर्मक्रान्ति का सिंहनाद किया। श्रद्धा और आचार के सम्बन्ध में जिस मर्यादा और गरिमा का उन्हें अहसास था, वह खंडित हो गया, तब उन्होंने श्रद्धा एवं आचार की पुनः स्थापना का संकल्प स्वीकार किया। कुछ साधु उनके साथ थे। वि० सं० १८१७ आषाढ शुक्ला पूर्णिमा को उन्होंने भावदीक्षा की चद्दर ओढ़ी। उस समय उनके कुछ अन्य साथी दूसरे क्षेत्रों में थे। उनको भी यह निर्देश दिया जा चुका था। अंतिम निर्णय यह था कि चातुर्मास पूरा कर सब साधु एक साथ मिलेंगे। श्रद्धा और आचार में एकरूपता रहेगी तो वे सब साथ रहेंगे अन्यथा अपनी-अपनी अवधारणा के अनुसार रास्ता खोजेंगे।

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा का वह दिन ऐतिहासिक करवट लेने वाला दिन था। उस दिन किसी भी कल्पना एवं योजना के बिना तेरापंथ धर्मसंघ की नींव रखी गई। इसी कारण वह दिन तेरापंथ स्थापना-दिवस के रूप में मनाया जाता है। कितना मोहक और प्रेरक रहा होगा वह क्षण, जब तेरापंथ के नवोदय रूप में धर्मसंघों की परम्परा में दो बातें घटित हुईं– चारित्र की प्राथमिकता और अनुशासन की दृढ़ता। साधु-जीवन का मूलभूत आधार है चरित्र और संगठन का आधार है अनुशासन। आचार्य भिक्षु की अनुभव प्रवण मेधा ने इन तथ्यों को पकड़ा और पूरी दृढ़ता के

साथ प्रतिष्ठित कर दिया। तेरापंथ की स्थापना ने एक जीवंत आन्दोलन को जन्म दिया, एक नयी दृष्टि का उद्घाटन किया और एक विचारधारा का सूत्रपात किया, जिसका फलित इस रूप में देखा जा सकता है–

१. धर्म की कुछ कसौटियों का स्थिरीकरण, जैसे–

त्याग धर्म है : भोग धर्म नहीं है।

व्रत धर्म है : अव्रत धर्म नहीं है।

संयम धर्म है : असंयम धर्म नहीं है।

अहिंसा धर्म है : हिंसा धर्म नहीं है।

हृदय-परिवर्तन धर्म है : बलप्रयोग धर्म नहीं है।

२. धर्म के सम्बन्ध में प्रचलित रूढ़ एवं अर्थहीन अन्धपरंपराओं का निरसन।

३. धन के द्वारा धर्म को खरीदने और किसी व्यक्ति को धार्मिक बनाने के मनोभाव में परिवर्तन। धर्म के लिए धन की कोई अनिवार्यता नहीं है। देश, काल, परिस्थिति आदि की तरह वह भी दूर निमित्त मात्र बन सकता है।

४. धर्म या पुण्य के प्रलोभन से दुनियावी व्यवहार के संचालन का अनौचित्य। समाज की अपनी अपेक्षाएं हैं। उनके साथ अध्यात्म या धर्म का अनुबन्ध नहीं रह सकता।

५. समाजापयोगी एवं राष्ट्रोपयोगी कार्यों को सामाजिक एवं राष्ट्रीय सन्दर्भों से ही जोड़ा जाए। धर्म या पुण्य के नाम पर उनको गतिशील न बनाया जाए।

६. सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों से भी धर्म का स्थान ऊंचा है। कर्तव्य की दृष्टि से सामाजिक व्यक्ति को हिंसा, संग्रह आदि में प्रवृत्त होना पड़ता है, शस्त्रों को खरीदना-रखना पड़ता है, युद्ध भी करना पड़ता है, पर वह इसे कभी धर्म का चोगा नहीं पहनाएगा। धार्मिक क्षेत्र में भी युद्ध का प्रावधान है। वह है–आत्मना युद्धस्व–अपने आप से युद्ध करो। अपनी रागद्वेषमूलक प्रवृत्तियों से युद्ध करो। यह धर्म की आज्ञा है।

७. राग-द्वेष-मुक्त जीवन जीना, रागद्वेष को घटाना, ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि करना– ये सब काम धर्म हैं। इनके सिवाय शेष प्रवृत्तियां लौकिक कर्म हैं। कोई उन्हें धर्म ही कहना चाहे तो लौकिक धर्म कह सकता है। आध्यात्मिक धर्म और लौकिक धर्म का रास्ता पूरी तरह से अलग-अलग है।

८. साधु-संतों मे एक शृंखलाबद्ध अनुशासित धर्मसंघ का उदय, एक आचार्य के नेतृत्व में विश्वास करने वाले साधु-साध्वियों के ऐसे संगठन का उदय, जिसमे बिखराव की संभावनाओं को पुष्ट होने का अवसर ही नहीं मिल पाता।

९. हजारों वर्षों से प्रचलित परम्परित शिष्यप्रथा का अवसान।

उक्त प्रकार की कुछ ऐसी फलश्रीतियों का संवादी है तेरापंथ धर्मसंघ, जिसने एक रचनात्मक दृष्टिकोण को विस्तार दिया है। धर्मसंघ में साधना, शिक्षा एवं कला के क्षेत्र में जो आभिजात्य निखार आ रहा है, उसका सर्वाधिक श्रेय इसकी एकसूत्रता को है। सेवा के जो संस्कार यहां पल्लवित हुए हैं, उन्होंने वृद्ध, बीमार और अपाहिज सदस्य को स्थिरता एवं निश्चिन्तता का आश्वासन दिया है। ऐसा सुघड़ सलोना धर्मसंघ कब तक चलता रहेगा ? आचार्य भिक्षु के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होंने कहा– संघ के साधु-साध्वियां जब तक आचार-कुशल रहेंगे, नीतिनिष्ठ रहेंगे, तब तक संघ को गर्म हवा का झोंका भी नहीं लग सकेगा।

आचार्य भिक्षु की यह भविष्यवाणी हमारे लिए प्रेरणा है, प्रकाशस्तम्भ है और पाथेय है। हम इसके सहारे आगे बढ़ते रहे। अपने आचार की पवित्रता आंकते रहें। नीतिनिष्ठा की पौध को सींचते रहें और मर्यादा के कवच को पहने रहें। तेरापंथ धर्मसंघ में संघ के प्रत्येक सदस्य को फलने-फूलने का अधिकार है। अपनी सीमा और मर्यादा को ध्यान में रखकर कोई भी व्यक्ति आगे बढ़ सकता है। किन्तु कोई व्यक्ति संघीय महत्त्व को कम करके अपना महत्त्व बढ़ाना चाहे, पदप्रतिष्ठा पाना चाहे, वह यहां पनप नहीं सकता। आचार्य भिक्षु के आलौकिक व्यक्तित्व ने कष्ट और संघर्ष झेलकर भी अपने संघ को मजबूत जमीन दी है, उसमें अपने पांव रोपकर हम आगे बढ़ते रहें, विकास के शिखर छूने तक बढ़ते रहें, यह अभीष्ट है। तेरापंथ स्थापना-दिवस के उपलक्ष्य में हम इसी संकल्प के साथ अगले वर्ष की यात्रा शुरू कर रहे हैं।

७४. सीमा में असीमता

महान् वह होता है जो भौतिकवादी युगधारा को अध्यात्म की दिशा में मोड़ देता है। महान् वह होता है जो नये दर्शन के साथ नये युग में प्रवेश करता है और अपने सांस्कृतिक मूल्यों को लोकजीवन में प्रतिष्ठित कर देता है। महान् वह होता है जो धर्म के क्षेत्र में क्रान्ति की लहर ले आता है और जनता में श्रम-निष्ठा और समता के बीज बो देता है। इस अर्थ में तेरापंथ एक महान धर्मसंघ है। यह महान् है, इसलिए मैंने कभी इसको सीमा में देखने का प्रयत्न ही नहीं किया।

आचार्य भिक्षु तेरापंथ धर्मसंघ के प्रथम आचार्य थे। किसी संघ का प्रवर्तन करना उनका उद्देश्य नहीं था। वे महान् सत्य सन्धित्सु थे। सत्य को खोजने के लिए उन्होंने घर छोड़ा, परिवार छोड़ा और साधना का पथ स्वीकार किया। सत्य को उपलब्ध करने की गहरी तड़प से उन्होंने शास्त्रों का अवगाहन किया। उन्हें सत्य के दर्शन हुए और वे उसी दिशा में चल पड़े। सामने रास्ता वीरान था, भयावह था। पर उन्होंने किसी भय और बाधा की परवाह नहीं की। वे चलते रहे और एक मंजिल तक पहुंच गए। उनकी मंजिल को जनता ने 'तेरापंथ' नाम की पहचान दी। उन्होंने उस पहचान को स्वीकार किया किन्तु उसकी व्याख्या अपने ढंग से करते हुए कहा–'हे प्रभो ! यह तेरापंथ है।' उस दिन से तेरापंथ भगवान महावीर के पंथ का प्रतीक बन गया।

दिल्ली के कंस्टीच्यूशन क्लब में मुझे आमंत्रित किया गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष श्री सतकौड़ि मुखर्जी उपस्थित थे, अनन्तशयनम आयंगर भी उपस्थित थे। वे तेरापंथ के व्यक्तित्व से परिचित थे। उन्हौंने तेरापंथ शब्द पर टिप्पणी करते हुए कहा–'इट इज नॉट दाई पाथ बट इज माई पाथ'– यह तेरापंथ नहीं मेरा पंथ है।

श्री आयंगर की यह सटीक टिप्पणी मुझे भी बहुत अच्छी लगी। इस सन्दर्भ में मैं स्वयं को बहुत सौभाग्यशाली मानता हूं कि मुझे मेरा पंथ मिल गया। भगवान

महावीर का पंथ उन सबका पंथ है, जो जैनत्व के प्रति आस्थावान हैं, अहिंसा में आस्थावान हैं और अनेकान्त में आस्थावान हैं। श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, अमूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी–ये किसी धर्म के भेद नहीं हैं, ये सब तो सम्प्रदाय हैं। साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठकर हम भगवान महावीर के पंथ का अनुसरण करेंगे तो हर व्यक्ति के लिए तेरापंथ मेरापंथ हो सकता है।

तेरापंथ के द्वारा हमें अहंकार-विसर्जन और ममकार-विर्सजन का सूत्र मिला है। तेरापंथ ने हमको अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करना सिखाया है। तेरापंथ ने हमको सबके साथ निकटता स्थापित करने का अवसर दिया है। तेरापंथ से प्राप्त इस महान अवदान के द्वारा हम इस छोटे से धर्मसंघ की ही नहीं, मानवता की सेवा करना चाहते हैं। हमारी आस्था और हमारा समर्पण केन्द्रित रहकर भी ससीम न रहे। हम असीम बन जाएं और असीम क्षेत्रों में काम करें।

७५. शास्त्रों में गुंथा चरित्र जीवन में

'जार्ज बर्नार्ड शॉ' ने कहा था कि महानता की कसौटी दो शताब्दियों बाद होती है। यह बात आचार्य भिक्षु के सन्दर्भ में अक्षरशः सही प्रतीत होती है। आचार्य भिक्षु का जीवन और दर्शन आज जिस रूप में उजागर हो रहा है, दो सौ वर्षों पहले उसका इस रूप में मूल्यांकन नहीं हो पाया था। आचार्य भिक्षु जिन परिस्थितियों में खड़े हुए, चले और अपनी मंजिल तक पहुंचे, वह एक रोमांचक कहानी है। उसकी स्मृति मात्र से हमें उनके कर्तृत्व की ऊंचाई का आभास होता है। वे एक ऐसे महामानव थे, जिन्होंने एक महत्त्वाकांक्षी योजना की क्रियान्विति के लिए व्यक्तिगत महत्त्वकांक्षा के झरोखे बन्द कर दिए। वे जानते थे कि सत्ता और प्रतिष्ठा का जनून जिस व्यक्ति पर सवार हो जाता है, वह कभी सत्य के राजपथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। उन्होंने अनुभव किया कि कुछ मानवीय दुर्बलताएं ऐसी हैं, जो बिना किसी आहट के मनुष्य के मन पर अधिकार जमा लेती हैं। उनका प्रवेश आक्रमण की मुद्रा में होता है तो मनुष्य सजग होकर मुकाबले में खड़ा हो जाता है। पर वे मां की मीठी लोरी के रूप में आती हैं और मनुष्य को सहलाकर-फुसलाकर नींद में सुला देती हैं। जिस व्यक्ति की विवेक-चेतना सो जाती है, वह कभी सही ढंग से सोच नहीं सकता और अपनी क्षमता को सुनियोजित रूप में उपयोग नहीं कर सकता।

आचार्य भिक्षु ने संगठन की शक्ति का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, वह अपने आप में बेजोड़ है। जिस समय इस संगठन की बुनियाद रखी गई थी, संख्या की दृष्टि से यह बहुत छोटा था। किन्तु आज इसकी संख्या सैकड़ों और हजारों को पार कर लाखों को अपनी परिधि में समेट चुकी है। सवा दो सौ वर्षों का अन्तराल, संख्या का विस्तार, देश और कालगत परिस्थितियों में बदलाव, फिर भी इसके विधान की प्रासंगिकता में कोई अन्तर नहीं आया। कैसी दूरदर्शितापूर्ण सूझबूझ थी उस महामनीषी की!

आचार्य भिक्षु प्रचेता पुरुष थे। साधु-जीवन स्वीकार करने के बाद उनकी जागरूकता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इसी जागरूकता के आधार पर उनको राजनगर में नया बोध मिला। बगड़ी में ठाकुर जेतसिंहजी की छतरी में उन्होंने अभय का पाठ पढ़ा। केलवा की अंधेरी ओरी में उनको विशिष्ट आभास हुआ और उसी स्थान से उनके भीतर एक नये सूरज ने जन्म लिया। आज उस सूरज का प्रकाश चारों दिशाओं में फैल रहा है। उस प्रकाश में उन सब लोगों ने अपना रास्ता खोजा है, जो धर्म या अध्यात्म के सहारे एक निश्चित मंजिल तक पहुंचने के लिए उत्सुक रहे हैं।

आचार्य भिक्षु के सामने आगम ज्ञान का अथाह समुद्र लहरा रहा था। उसके तल में सत्य के मोती बिखरे पड़े थे। उन मोतियों को बटोरने के लिए साहस, पुरुषार्थ और धैर्य की अपेक्षा थी। उन्होंने साहस के सहारे यात्रा शुरू की, पुरुषार्थ का दीप जलाया और अनगिन ज्वार-भाटों में भी अपने धैर्य को चुकने नहीं दिया। आगम-मंथन से उनको जो मोती मिले, रत्न उपलब्ध हुए, वे तेरापंथ धर्मसंघ की धरोहर बन गए।

क्रान्ति की बात करने वाले बहुत लोग हैं, पर क्रान्ति लाने की प्रक्रिया से गुजरना सरल नहीं है। विचारों की ताजा हवा को आमन्त्रित करने वाले व्यक्ति भी अपने दिमाग की खिड़कियों को बन्द कर लेते हैं, जब हवा का कोई झोंका उन्हे भीतर से आन्दोलित करने लगता है। आचार्य भिक्षु ने क्रान्तिकारी कहलाने के लिए कोई झंडा नहीं उठाया। उनके मन में एक बेचैनी जगी और वह प्रकट हो गई। उस बेचैनी ने ही आगे जाकर तेरापंथ की शक्ल प्राप्त की। वह तेरापंथ जो आज देश के प्रबुद्ध लोगों की दृष्टि में जैन धर्म की पहचान के रूप में उभरकर सामने आ गया है।

तेरापंथ एक धर्मसंघ है। संघ शक्ति का स्रोत होता है। इससे उन सबको शक्ति मिलती है, जो अपनी आस्था के पात्र को खुला रखते हैं। तेरापंथ एक धार्मिक संगठन है, संगठन शक्ति का प्रतीक है। इसकी शक्ति दण्ड या कानून से नहीं, शुद्ध आचार और शुद्ध विचार की है। संगठन का आधार भी आचार-विचार की शुद्धि है। इस आधार को और अधिक ठोस बनाने वाला तत्त्व है अनुशासन। अनुशासन शक्तिशाली नेतृत्व की कसौटी है। आचार्य भिक्षु ने संघ की सुव्यवस्था के लिए अनुशासन को जो प्रतिष्ठा दी वह संघ की एकसूत्रता और विकास में बहुत बड़ा निमित्त बना है।

कोई भी संघ या संगठन तब तक वांछित काम नहीं कर सकता, जब तक

उसमें अनुशासन का मूल्य मान्य नहीं होता है। एक अनुशासन की डोर में बंधा हुआ तेरापंथ धर्मसंघ आज पूरी मानव जाति को आध्यात्मिक पथदर्शन देने में सक्षम है। इस सक्षमता के बीज बोने वाले थे हमारे परम श्रद्धेय आचार्य भिक्षु। उन्होंने दर्शन की गहरी घाटियों से बाहर निकलकर व्यवहार के ठोस धरातल पर सत्य की समीक्षा की। जीवन के पथ पर उतरे हुए अंधेरों से संघर्ष करने के लिए वे स्वयं सूरज बनकर चले। शास्त्रों में गुंथे हुए चारित्र को जीवन में लाने के लिए वे निरन्तर जागरूक रहे। इसी कारण वे धर्म की मौलिकता को सुरक्षित रखकर उसे प्रासंगिक बनाने में सफल हुए।

७६. संकल्प का बल : साधना का तेज

युग की जिन्दगी आगे बढ़ती है। बढ़ते-बढ़ते वह किसी मोड़ पर जाकर रुक जाती है। वातावरण में गहरी जड़ता या शिथिलता व्याप्त हो जाती है। उस वातावरण में नयी आशाओं, उमंगों और आकांक्षाओं का संचार करना आवश्यक होता है। अन्यथा युग ठहर जाता है। युग में आए ठहराव का प्रभाव संस्कृति पर होता है, समाज-व्यवस्था पर होता है, राजतंत्र पर होता है और सबसे अधिक प्रभाव होता है, मनुष्य की जीवन-शैली पर। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने युग को गतिशील देखना चाहता है। कदाचित् उसमें ठहराव आ जाता है तो उस युग के शक्ति-संपन्न व्यक्ति उसे तोड़कर वातावरण में नयी स्फुरणा भर देते हैं।

आकाश में प्रतिदिन सूरज आता है। वह अपनी रोशनी से पूरे संसार को नहला देता है। सूरज की रोशनी के साथ हवा भी अपनी गति से बहती रहती है। मनुष्य को रोशनी की अपेक्षा है और हवा की भी अपेक्षा है। क्या कभी रोशनी और हवा किसी के दरवाजे पर जाकर दस्तक देती हैं?

व्यक्ति एक क्या, पचास जन्मों तक प्रतीक्षा करता रहे, उसके दरवाजे पर रोशनी और हवा की दस्तक सुनाई नहीं देगी। किन्तु कोई व्यक्ति बिना किसी प्रतीक्षा से द्वार खोलकर खड़ा हो जाए तो रोशनी और हवा स्वयं आकर उसके घर में प्रवेश कर लेंगी।

ढाई सौ वर्ष पहले का इतिहास बताता है कि इस देश की धरती पर एक व्यक्ति ने जन्म लिया। जन्म से पहले उसकी माता को कोई विलक्षण आभास हुआ। समय आने पर वह विलक्षणता अभिव्यक्त हुई। उस व्यक्ति ने एक सोची-समझी नयी दिशा में चलना शुरू कर दिया। चलते-चलते गति में अवरोध आ गया। उस अवरोध को तोड़ने के लिए उसने क्रान्ति की। उस क्रान्ति का फलित है तेरापंथ धर्मसंघ। इस धर्मसंघ की नींव रखने वाला वह क्रान्तिकारी व्यक्ति आज आचार्य भिक्षु के नाम से पहचाना जाता है। आचार्य भिक्षु ने परम्परागत आस्थाओं का भंजन

कर एक नयी आधारशिला रखी। जिसके बल पर तेरापंथ धर्मसंघ उत्तरोत्तर ऊंचा उठ रहा है।

आचार, मर्यादा, अनशन और संगठन—इन चार पाषाणों की आधारशिला पर धर्मसंघ खड़ा है। दो सौ अट्ठाईस वर्ष की लम्बी यात्रा पूरी कर तेरापंथ धर्मसंघ २९ जुलाई १९८८ को नये वर्ष में प्रवेश कर रहा है। आषाढ शुक्ला पूर्णिमा का यह दिन धर्मसंघ के इतिहास में महत्त्वपूर्ण दिन है। इस दिन को तेरापंथ स्थापना-दिवस के रूप में मनाया जाता है। किसी भी व्यक्ति या संस्थान के दिन को मनाने के पीछे कोई निश्चित उद्देश्य हो, तब तो उसे मनाने की सार्थकता है। अन्यथा केवल औपचारिकताओं में समय और शक्ति का नियोजन एक प्रश्न उपस्थित करता है।

किसी व्यक्ति या दिन को मनाने के कई घटक हैं। उनमें इतिहास की सुरक्षा, स्मरण और नयी प्रेरणा के साथ उल्लेखनीय बात है सम्बन्धित सिद्धान्तों का जीवन में अवतरण। जीवन-सिद्धान्त शून्य हो और दिन मनाते जाए, इसका किसी परम्परा या रूढ़ि से अधिक क्या मूल्य हो सकता है ? तेरापंथ स्थापना दिवस कोई रूढ़ि नहीं है। यह एक जीवंत परम्परा है। आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन के मूल्य पर इस परम्परा का प्रारम्भ किया। वे जानते थे कि उनका रास्ता कांटों से भरा हुआ है। वे रास्ते को बुहार कर साफ करेंगे तो भी उसमें पुनः कांटे बिखेर दिए जाएंगे।

उनको यह अनुभव हो गया कि ऐसे कंटकाकीर्ण रास्ते में उनका साथ देने वाले अधिक व्यक्ति नहीं हो सकेंगे। वे यह भी जानते थे कि उनको जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति में भी कठिनाई का मुकाबला करना होगा। पर वे इन सब आशंकाओं से घबराए नहीं। उन्होंने गहरी सूझ-बूझ से जो पग उठाए, उन्हें कभी पीछे नहीं मोड़ा। उन्होंने एक सपना देखा और उसे सत्य में बदलने के लिए जीवन-भर जूझते रहे। उनके जीवन का हर पड़ाव रोमांचक था। आज हम जिस संघ मन्दिर की छाया में बैठे है उसकी नींव में आचार्य भिक्षु की संकल्प-शक्ति का बल, साधना का तेज, मन की धृति और अपार कष्टसहिष्णुता सन्निहित है। इसके स्थापना दिवस को मनाने का अर्थ है, इन सब गुणों को आत्मसात् करना या इन्हें आत्मसात् करने की दिशा में प्रस्थान करना।

आचार्य भिक्षु ने अपने धर्मसंघ को जो नये उन्मेष दिए, उनकी मौलिकता को किसी भी मूल्य पर सुरक्षित रखना हमारा काम है। युगीन परिस्थितियां हमें उस मौलिकता को छोड़ने के लिए बाधित कर सकती हैं। ऐसा समय कसौटी का समय होता है। ऐसे समय में हमें विचलित नहीं होना है, अपनी आस्था का दृढ़ीकरण करना है।

कुहासे में उगता सूरज

हम परिवर्तन के सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं करते । पर उसी परिवर्तन के साथ हमारी सहमति होनी चाहिए, जिससे मौलिकता को खतरा न हो । मौलिक सिद्धान्तों और आस्थाओं के साथ नये मूल्यों का सामंजस्य स्थापित कर हम उनका 'योगक्षेम' करें, यह हमें अभीष्ट है । हमारे दरवाजे पर भी कोई रोशनी, हवा या उपलब्धि दस्तक देने नहीं आएगी । जीवन के पथ में बिखरे स्वर्णिम अवसरों का लाभ उठाने के लिए जागरूक रहने का संकल्प ही 'तेरापंथ स्थापना दिवस' मनाने की सार्थकता है ।

७७. परिवर्तन और विवेक

परिवर्तन पदार्थ का धर्म है। संसार का हर पदार्थ परिवर्तनशील है। कोई चाहे न चाहे, करे न करे, परिवर्तन को टाला नहीं जा सकता। गणधर गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न किया–'भंते ! तत्त्व क्या है ?' भगवान ने उत्तर दिया–'जो उत्पन्न होता है, वह तत्त्व है।' गौतम की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। उसने फिर प्रश्न किया। भगवान ने कहा– 'जो विनष्ट होता है, वह तत्त्व है।' उत्पाद और विनाश के बाद संसार में रहेगा क्या ? इस सन्देह ने गौतम को फिर मुखर किया। भगवान उसकी समस्या को समझ गए। उन्होंने कहा– 'गौतम ! उत्पाद और विनाश की इस प्रवहमान धारा में जो स्थिर रहता है, वह तत्त्व है।' तत्त्व निरूपण की यह शैली परिवर्तन के शाश्वत सिद्धान्त की सूचना है।

परिवर्तन दो तरह का होता है– सहज और प्रयत्नजन्य। प्रयत्नजन्य परिवर्तन वस्तु में हो सकता है, मनुष्य में हो सकता है और परम्परा में भी हो सकता है। ऐसे परिवर्तन में देश, काल और परिस्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक है। इससे भी आगे दीर्घकालिक चिन्तन और विवेक का योग जरूरी है। विवेकपूर्वक किया गया परिवर्तन प्रगति का सूचक है। विवेक को खूंटी पर टांगकर प्रवाहपातिता या जल्दबाजी में किया गया परिवर्तन दुर्गति का कारण भी बन सकता है।

हमारी आस्था अनेकान्त में है। परिवर्तन होना ही चाहिए अथवा परिवर्तन नहीं ही होना चाहिए– ऐसे एकांगी आग्रह में किसी प्रकार के लाभ की संभावना नहीं है। जिस परिवर्तन से व्यक्ति, समाज और देश का भला हो, वह करणीय है। जिससे किसी का हित न हो,उसे करना मूढ़ता है। परम्परावादी व्यक्ति परिवर्तन को रोकना चाहेंगे और प्रगतिवादी लोग परिवर्तन करना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में विवेकशील व्यक्ति देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल चिन्तन कर दृढ़ता के साथ कोई परिवर्तन करेगा तो समय के साथ-साथ उसका लाभ समझ में आ जाएगा।

बहुत वर्ष पहले की बात है। एक श्रावक का परिवार मेरे सामने था। महिलाएं

पर्दा करके बैठी थीं। मैंने कहा– 'पर्दा कायरता का प्रतीक है, आंख का उपयोग करने में बाधक है। आप अपनी बहुओं को पर्दे में क्यों रखते हैं ?' यह बात श्रावकजी को अच्छी नहीं लगी, पर वे श्रद्धा और संकोचवश कुछ बोले नहीं। इच्छा न होने पर भी उन्होंने बहुओं को पर्दा हटाने का निर्देश दे दिया।

कुछ समय बाद उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। इससे वे अकेले पड़ गए और घर के भीतर जाने से झिझकने लगे। उनकी पुत्रवधुएं काफी समझदार थीं। उन्होंने उनको पितृ तुल्य माना। उनके विनय-व्यवहार और आत्मीयता ने उनके लिए घर के दरवाजे खुले रखे। वे भोजन करते तो खुद परोसतीं और अपेक्षा होने पर उनके पास बैठकर बातचीत भी कर लेतीं। इस क्रम से उनका पत्नी वियोग से होने वाला दुःख काफी हल्का हो गया।

उसके बाद वे एक दिन मेरे पास आकर बोले–'गुरुदेव ! उस दिन आपकी बात मुझे रुचिकर नहीं लगी, पर आपका निर्देश टालना भी संभव नहीं था। यदि मैं आपके निर्देश का पालन नहीं करता और बहुओं को पर्दा हटाने की इजाजत नहीं देता तो आज इस घर का दरवाजा मेरे लिए बन्द हो जाता। पत्नी की मृत्यु मेरी अपनी मौत का पैगाम बन जाती। पर्दा हटाने के बाद सब बहुएं मुझे बेटियों जैसी लगती हैं। आपका यह उपकार मैं जीवन भर नहीं भूल सकूंगा।

यह घटना परिवर्तन के औचित्य को सिद्ध करती है। किन्तु बिना गहरे सोच-विचार के आधुनिकता के नाम पर जो परिवर्तन होता है, वह सांस्कृतिक मूल्यों के लिए खतरा पैदा कर देता है। उदाहरण के रूप में भारतीय जनता द्वारा स्वीकृत पश्चिम की वेशभूषा को प्रस्तुत किया जा सकता है। पश्चिम शीत-प्रधान देश है। वहां कुर्सी पर बैठने की संस्कृति है। इस दृष्टि से सूट पहनकर टाई बांधी जाती है। भारत में न तो उतनी ठंड है और न कुर्सी पर बैठने की परम्परा है। फिर भी उस पहनावे का यहां प्रचलन हो गया। परिणामस्वरूप बैठने मे भी कठिनाई का अनुभव होता है। प्रगतिशील कहलाने की ऐसी मीठी खुजली चली कि बिना सोचे-समझे प्रवाहपाती बन गए। इन सब तथ्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि परिवर्तन करते समय गहरी सूझ-बूझ, विवेक और दूरगामी चिन्तन की जरूरत है।

७८. क्रान्ति के लिए बदलाव

जो व्यक्ति लीक से हटकर चलता है, वह मुश्किलों को निमंत्रण देता है। जो व्यक्ति परम्परा को छोड़कर नये रास्ते पर कदम रखता है, मुसीबतें उसका स्वागत करती हैं। जो व्यक्ति विरासत में प्राप्त विचारधारा में न उलझकर नयी शैली से सोचता है, वह बागी कहलाता है। जो व्यक्ति समसामयिक जड़ता को तोड़कर नयी आस्था का निर्माण करता है, उसे सनकी होने का खिताब मिलता है। अठारहवीं शताब्दी के महान् क्रांतिकारी आचार्य भिक्षु के साथ भी ऐसा ही घटित हुआ। उनकी रचनात्मक प्रतिभा को झटपट समाज की सहमति नहीं मिली। उनके भीतर पल रही आगम-निष्ठा और आचार-निष्ठा मुखर होने के लिए व्याकुल हो रही थी। किन्तु उन्हें मौन भाव से उसी पथ पर चलने का परामर्श मिला, जिस पर सुविधा से चला जा सकता था। उन्होंने अपने परिपार्श्व को सही दिशा में बदलना चाहा, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। आखिर उन्होंने अपना रास्ता बदला। श्रमण संस्कृति को सही पहचान देने का उनका संकल्प फला और वे कुछ करने में सफल हो गए।

आचार्य भिक्षु की संपूर्ण आस्था भगवान महावीर पर केन्द्रित थी। महावीर वाणी उनकी साधना का सबसे बड़ा आधार थी। उसके आधार पर उन्होंने साधु के आचार का खाका तैयार किया। उनके सामने सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि पंचम आरे में शुद्ध आचार का पालन नहीं हो सकता। उन्होंने उस चुनौती को झेला। इससे पहले वे आगमों का गहरा मंथन कर चुके थे। आगम-मंथन और निजी अनुभव के योग से उन्हें जो दृष्टि मिली, वह महत्त्वपूर्ण थी। उस दृष्टि द्वारा उन्होंने तीन काम किए—

- चिन्तन को सकारात्मक मोड देना।
- प्रतिस्रोत में आगे बढ़ने का साहसिक निर्णय लेना।
- सिद्धान्तों के साथ समझौता किए बिना मंजिल की ओर बढ़ना।

इन कार्यों की निष्पत्ति के साथ ही उनका क्रान्तिकारी स्वरूप जनता के सामने

आ गया । शुरू-शुरू में उनकी बात सुनने की मानसिकता अधिक लोगों में नहीं थी । पर जब तक कुछ व्यक्ति भी तैयार नहीं हुए थे, वे आत्मकेन्द्रित होकर तपस्या के लिए समर्पित हो गए । उस समर्पण से उन्हें पूरी राहत मिली । किन्तु दो मुनियों की सूझ-बूझ ने उनको पुनः कर्म के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी । वह प्रेरणा हार्दिक थी । उसने आचार्य भिक्षु का हृदय छू लिया । वे जनाभिमुख हो गए। उस समय उन्होंने जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया, उससे उन्हें खड़ा रहने के लिए ठोस जमीन मिल गई । उन्होंने कहा–

- संयममय जीवन सही और सार्थक जीवन है । संयम स्वयं का अच्छा है, दूसरे का भी अच्छा है । असंयम किसी का अच्छा नहीं है । जहां संयम है वहीं धर्म है ।
- व्यक्ति को धार्मिक बनने के लिए किसी सम्प्रदाय से बंधना जरूरी नहीं है । धार्मिकता की कसौटी सम्प्रदाय नहीं, जीवन की पवित्रता है । कोई मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी धार्मिक क्रिया करता है, वह एक सीमा तक भगवान की आज्ञा का आराधक है ।
- पुण्य का बंध स्वतंत्र नहीं होता । व्यक्ति धार्मिक क्रिया करता है, उसके साथ ही पुण्य का बंध होता है । जैसे भूसे की स्वतंत्र खेती नहीं होती, वैसे ही पुण्य का स्वतंत्र बंध नहीं होता ।
- अनुकम्पा सावद्य-निरवद्य दोनों प्रकार की होती है । मोह मिश्रित अनुकम्पा सावद्य है । सावद्य अनुकम्पा समाज के लिए उपयोगी होने पर भी आध्यात्मिक नहीं हो सकती ।
- हिंसा हर स्थिति में हिंसा ही रहती है । वह कभी धर्म नहीं हो सकती। आवश्यकता अथवा उपयोगिता के आधार पर हिंसा को धर्म कहने वाले तत्त्व से आंख मूंद रहे हैं । जिस प्रकार पूर्व और पश्चिम का मार्ग एक नहीं हो सकता, वैसे ही हिंसा और धर्म का रास्ता एक नहीं हो सकता।
- धर्म और अधर्म का मिश्रण नहीं हो सकता । जिस क्रिया में धर्म होता है, उसमें पाप नहीं होता । आधा धर्म और आधा पाप–यह बंटवारा किसी भी दृष्टि से संगत नहीं है । जिस प्रकार धूप और छाया आपस में मिलते नहीं हैं, वैसे ही धर्म और पाप का मिश्रण नहीं होता ।
- तांबे का सिक्का उतना ही सही है जितना चांदी का सिक्का । किन्तु तांबे पर चांदी का मुलम्मा चढ़ा दिया जाए तो वह सिक्का खोटा हो जाता है । इसी प्रकार धर्म और पाप का मिश्रण कभी सत्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार धर्म और पाप का मिश्रण कभी सत्य नहीं हो सकता ।

आचार्य भिक्षु ने इन लोकोत्तर विचारों को लौकिक कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया । लोगों की संकीर्ण और स्वार्थी मनोवृत्ति ने इनका खुलकर विरोध किया । विरोध के बावजूद उनके विचारों का विस्तार हुआ । उन्होंने सिद्धान्त पक्ष को जितना मजबूती से प्रस्तुत किया, संगठन के लिए अनुशासन पर भी उतना ही बल दिया। उनके सिद्धान्तों की गहराई तक कोई पहुंच सके या नहीं, अनुशासन शैली को सबने एकमत से सराहा है । एक अनुशासन तत्व का अनुसरण करने से ही वैयक्तिक, पारिवारिक और राष्ट्रीय समस्याएं समाहित हो सकती है । सिद्धान्तों की गहराई तक पहुंचने के लिए आचार्य भिक्षु के साहित्य का गंभीर अध्ययन हो, यह आवश्यक है ।

७९. संस्थाएं : अस्तित्व और उपयोगिता

पिछले कुछ अरसे से एक बिलकुल नया स्वर सुनाई दे रहा है– समाज में संस्थाएं बहुत हो गई हैं। इनके लिए आपस में टकराते हैं। इनसे दलबन्दी की भावना पनपती है। आपस में लड़ाई-झगड़े होते हैं। एक संस्था के द्वारा प्रारम्भ किया हुआ काम दूसरी संस्था हाथ में ले लेती है, इससे कई प्रकार की समस्याएं सामने आती हैं। पहले हमारे समाज में एक ही संस्था थी 'तेरापंथी सभा'। अब तो युवक परिषद, महिला मण्डल, अणुव्रत समिति, जैन विश्व भारती, अणुव्रत विश्व भारती आदि न जाने कितनी संस्थाएं खड़ी हो गई हैं। हम किन्हीं एक-दो संस्थाओं का संचालन भी ठीक से न कर पाएं तो इतनी संस्थाओं का क्या औचित्य है? जिस क्षेत्र, वर्ग या व्यक्ति ने यह प्रश्न उठाया है, बेबुनियाद नहीं उठाया है। कुछ संस्थाओं का जैसा क्रम चल रहा है, चिन्तनीय है। उनकी आपसी खींचतानी और झमेले व्यक्ति को यह सोचने के लिए विवश कर देते है कि संस्था का होना ही समस्या को न्योतना है। यह एक दृष्टि है।

दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो संस्था का होना समस्या नहीं है। समस्या के कारण कुछ दूसरे हैं। लोकतंत्र के इस युग में समूह हो और संस्थान नहीं, ऐसा संभव नहीं लगता। संस्थान समाज के विकास में निमित्त बनते हैं। अवस्था, विचार, कार्य और कार्यपद्धति के भेद आदि अनेक कारण हैं जो अलग-अलग संस्थाओं की प्रेरणा हैं। इससे बिखरी हुई शक्तियां एक सूत्र में बंधती हैं और प्रगति के नये आयाम खोलती हैं। इस स्थिति में सब संस्थाओं का एक संस्था में समाहार कर देना अथवा नयी संस्था के अस्तित्व पर सर्वथा रोक लगा देना संभव नहीं है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कोई भी व्यक्ति मनचाहे ढंग से संस्था खड़ी कर दे। अनपेक्षित रूप से किसी भी नयी संस्था के उदय में आने पर प्रतिबन्ध होना जरूरी है। किन्तु विशेष उपयोगिता की स्थिति में चिन्तन का द्वार खुला रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में गंभीरतापूर्वक विचार कर एक दीर्घकालीन नीति का निर्धारण करना

अपेक्षित है। यह काम 'योगक्षेम' वर्ष में सुविधा से किया जा सकता है।

जहां संस्थाएं हैं, उनके साथ अनेक व्यक्ति जुड़े हुए हैं। हर व्यक्ति के अपने-अपने विचार होते हैं। विचार-भेद की स्थिति में खींचातानी भी असंभव नहीं है। जहां मेघ हैं, वहां गाज-बीज की संभावना से कैसे इनकार किया जा सकता है? यह सोचना भी कोई अर्थ नहीं रखता कि एक संस्था में एक ही विचारधारा के व्यक्ति रहें। समाज की संस्था पर समाज के हर व्यक्ति का अधिकार है, बशर्ते कि वह अपने समाज की मान-मर्यादाओं और आस्थाओं को स्वीकार करके चलता है। इस धरातल पर हर व्यक्ति समाज के विकास में भागीदार है। न जाने किसके दिमाग से कोई नयी बात निकले और उसे पूरे समाज का समर्थन मिल जाए। इन सब बातों को ध्यान में रखकर समस्या का हल खोजना जरूरी है।

मेरे अभिमत से संस्थाओं से सम्बन्धित उलझनों का एक बड़ा कारण है प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं का अभाव। इस अभाव को भरने के लिए प्रयोगिक दृष्टि से एक क्रम बने। संस्थाओं के पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य उन प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं में से निकलें तो आपसी संघर्ष को बहुत अंशों तक टाला जा सकता है।

प्रशिक्षण का मूल्य हर प्रवृत्ति के लिए है। व्यापार करना हो, घर चलाना हो या संस्था का संचालन करना हो, प्रशिक्षण के बिना किसी भी काम में पूर्णता नहीं आती। प्रवृत्ति प्रशिक्षण के बिना भी हो सकती है, पर उसमें सुघड़ता और सफलता के साधक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में नहीं होते। बौद्धिक शिविरों में इस प्रसंग पर विशद चर्चा हुई और यह चिन्तन किया गया कि 'योगक्षेम वर्ष मे पांच-पांच, सात-सात दिन में कई शिविर और सेमिनार आयोजित किए जाएं, जिनमें कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देने की समुचित व्यवस्था हो। शिविर समायोजना के दायित्व को बौद्धिक मंच संभाले और वह पूरी रूपरेखा तैयार करके प्रस्तुत करे।

संस्था छोटी हो या बड़ी, उसके संचालन में तीन प्रकार के व्यक्ति अपेक्षित रहते हैं– अर्थदाता, संचालक और सेवाभावी कार्यकर्ता। अर्थदाता प्रशिक्षण न भी लें तो काम चल सकता है। क्योंकि प्रवृत्तियों के संचालन से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता। शेष दो प्रकार के व्यक्तियों का प्रशिक्षित होना अपेक्षित है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अर्थ दे सकते हैं, पर समय नहीं दे सकते। ऐसे व्यक्ति प्रशिक्षण लें तो अच्छी बात है, न भी लें तो संस्था के काम में अवरोध नहीं आता। कुछ व्यक्ति शिक्षित नहीं होते पर सेवाभावी होते हैं। वे संस्था संचालन की क्षमता अर्जित कर समाज में उपयोगी हो सकते हैं। कुछ कार्यकर्ता ऐसे हैं जो निःशुल्क सेवा

नहीं दे सकते, पर प्रशिक्षित और अनुभवी हैं, उनका भी मूल्य है। मोटर के सब पार्ट्स उपयोगी हैं। इसी प्रकार समाज के लिए छोटे-बड़े हर व्यक्ति का उपयोग है।

प्रशिक्षण के क्रम में दो बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना अपेक्षित है। बाह्य स्तर पर व्यवस्था का संचालन और आन्तरिक स्तर पर सहनशीलता, श्रमशीलता, प्रामाणिकता आदि जीवन-मूल्य। इनमें किसी भी पक्ष को गौण नहीं किया जा सकता। समाज के प्रशिक्षित लोग महत्त्वाकांक्षी योजनाएं बनाएं, किन्तु पद-लिप्सा से दूर रहें। वे समाज से आर्थिक सहयोग लेंगे तो उन्हें एक-एक नये पैसे के हिसाब का तलपट भी प्रस्तुत करना होगा। इस प्रकार वे अपने कार्यक्रमों तथा पारस्परिक सामंजस्य से संस्थाओं की उपयोगिता पर लगने वाले प्रश्नचिह्नों को विराम दे सकें तो संस्थाओं के इतिहास में नये युग का प्रारंभ हो सकता है।

८०. योग्यता की कसौटी

तीन प्रकार के मूल्य होते हैं– आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनैतिक। तीनों की स्वतंत्र सत्ता और स्वतंत्र व्यवहार। आध्यात्मिक मूल्य समाज और राजनीति को नहीं चला सकते। इसी प्रकार सामाजिक एवं राजनैतिक नजरिए से आध्यात्मिक गतिविधियों का संचालन नहीं हो सकता। इन मूल्यों में कोई संबंध ही नहीं है, यह बात नहीं है। समाजनीति और राजनीति के विशुद्धीकरण में अध्यात्म का योग रहता है। अध्यात्म की साधना में समाज और राज्य का सहयोग रहता है। इस दृष्टि से इन्हें एक-दूसरे का पूरक माना जा सकता है। किन्तु एक के कार्यक्षेत्र में किसी दूसरे का हस्तक्षेप उचित नही हो सकता।

दीक्षा एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। यह अनुष्ठान कब हो, कैसे हो, क्यों हो ? इन प्रश्नों के बारे मे अधिकृत रूप में सोचने का दायित्व उन्हीं लोगों पर है, जो स्वयं आध्यात्मिक जीवन जीते हैं और आध्यात्मिक शास्त्रों के जानकार हैं। राजनैतिक सोच वाले व्यक्ति इन प्रश्नों पर विचार करेंगे तो निष्कर्ष कुछ दूसरा निकलेगा और आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने वालों का निष्कर्ष कुछ दूसरा होगा।

दीक्षा एक ऐसा अनुष्ठान है, जो उपदेश, वातावरण और पूर्व संचित संस्कारों की प्रेरणा से व्यक्ति में नयी अभिरुचि जागृत करता है। दीक्षित होने की मानसिकता बनने के बाद घर में रहना बहुत कठिन होता है। शायद इसी दृष्टि से वेदों में लिखा गया है– यह हरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्– जिस दिन मन की धरती पर विरक्ति के अंकुर फूटें, उस दिन दीक्षित हो जाना चाहिए। भगवान महावीर ने भी इस अभियान में किसी प्रकार के विलम्ब को स्थान नहीं दिया। उनके पास कोई भी व्यक्ति साधना का इच्छुक बनकर आया, उससे उन्होंने कहा– 'जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह'– देवानुप्रिय ! तुम साधना के पथ पर बढ़ना चाहते हो तो इसमें देरी मत करो।'

भगवान महावीर के सामने यह प्रश्न आया कि दीक्षा की उम्र कितनी होनी

चाहिए ? उन्होंने इसके लिए निश्चित अवस्था नहीं बताई। फिर भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश देते हुए कहा– 'साइरेग अट्ठावासाई' आठ वर्ष से कुछ बड़ा बालक साधु जीवन स्वीकार कर सकता है। भगवान महावीर ने अपने केवलज्ञान से भूत, भविष्य और वर्तमान–तीनों कालों को ध्यान में रखकर दीक्षा के लिए एक न्यूनतम अवस्था का निर्धारण किया। किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि इसी अवस्था में दीक्षा होनी चाहिए। दीक्षित होने वाले की वैराग्य-भावना, इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति, समय और परिस्थिति के अनुसार आठ वर्ष के बाद किसी भी उम्र में दीक्षा संस्कार हो सकता है। वयस्क या बुजुर्ग ही दीक्षा के अधिकारी हैं, बालक की दीक्षा होनी ही नहीं चाहिए, इस प्रकार का ऐकान्तिक आग्रह किसी भी दृष्टि से उचित नहीं हो सकता।

अब से कोई तीस वर्ष पहले एक पत्रकार ने मुझसे पूछा–'क्या आप बालदीक्षा के पक्षधर हैं ?' मैंने कहा– 'नहीं, मैं योग्य दीक्षा का पक्षधर हूं।' पत्रकार का दूसरा प्रश्न था– 'क्या बालक भी योग्य हो सकता है ?' मैंने उत्तर दिया–'योग्यता की कसौटी अवस्था नहीं है।' बालक, युवक या वृद्धि कोई भी योग्य हो सकता है। तीस वर्ष के बाद भी मैं अपने विचारों पर दृढ़ हूं। मेरे अभिमत में दीक्षा के साथ अवस्था का कोई अनुबन्ध हो ही नहीं सकता।

यह बात में पहले ही बता चुका हूं कि दीक्षा का संबंध है आन्तरिक विरक्ति से बच्चों को फुसलाकर, बहलाकर अथवा भयभीत बनाकर दीक्षित करना अन्याय है, पाप है, धोखा-धड़ी है। ऐसी दीक्षा कहीं भी होती हो, उसका प्रतिकार होना चाहिए। अयोग्य दीक्षा साधु-संस्थाओं के भविष्य को अन्धकारमय बनाने वाली है। अयोग्य व्यक्ति साधु बनकर भी न अपना भला कर सकता है, न समाज और देश का हित साध सकता है। आचार्य भिक्षु ने इस सम्बन्ध में पूरी सतर्कता बरतने की हिदायत देते हुए कहा कि जो कोई आ जाए, उसे दीक्षित कर साधुओं के भेष को नहीं बढ़ाना है। दीक्षा के लिए उम्मीदवार व्यक्ति की पूरी परीक्षा करने के बाद ही उसे दीक्षित करना है।

दीक्षा आत्मकल्याणकारी और लोककल्याणकारी अनुष्ठान है। बशर्ते कि वह शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाए। दीक्षित होने वालों को उचित मार्ग-दर्शक मिले। उनके प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था हो और उन्हें प्रायोगिक जीवन जीना सिखाया जाए। यह क्रम एक प्रकार से हीरों का व्यापार है। मार्ग और मार्ग-दर्शक को परखने की सही सूझ प्राप्त हो तो जीवन को नयी दिशा मिल सकती है। अन्यथा भटकाव-ही-भटकाव है। इस दृष्टि से विवेक की जरूरत है।

बालकों को दीक्षित करने का हमारा कोई आग्रह नहीं है। पर इतना जरूर है कि दीक्षा की अवस्था का निर्धारण समाज या राज्य के मंच से नहीं होना चाहिए। दीक्षा आत्मा का तत्त्व है, इस सम्बन्ध में कानून का हस्तक्षेप भी नहीं होना चाहिए। वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में कोई नयी बात पैदा हो तो आध्यात्मिक दृष्टि वाले व्यक्ति मिल-बैठकर कोई रास्ता निकालें। वे किसी भी मुद्दे को नजरअंदाज किए बिना स्थिति का तटस्थ विश्लेषण करें और औचित्य को स्वीकार करें।

इस सिलसिले में बहुत वर्षों पहले जयप्रकाश बाबू के साथ हमारी बात हुई थी। उन्होंने कहा–'मैं नहीं चाहता कि दीक्षा के सन्दर्भ में राज्य या कानून की तरफ से कोई प्रतिबंध लगे। यह काम धर्मगुरुओं का है। वे सोच समझकर निर्णय करें।' मुझे उनका चिन्तन ठीक लगा। धर्मगुरु का ही क्यों, इस सम्बन्ध में किसी भी व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण चिन्तन मान्य हो सकता है, यदि वह सही रास्ते से सामने आए। कानून की अपनी भाषा होती है और अपने तरीके होते हैं। उनमें उलझा भी जा सकता है और उनसे निकला भी जा सकता है। इसलिए दीक्षा जैसे लोकोत्तर और पवित्र अनुष्ठान की जो गरिमा है, मूल्य है, वह सदा सुरक्षित रहे। इस बात का ध्यान उन सब लोगों को रखना है, जो आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आस्थाशील हैं और अध्यात्म के द्वारा राष्ट्र के जीवनस्तर को ऊंचा उठाना चाहते हैं।

८१. अणुबम नहीं : अणुव्रत चाहिए

'विज्ञान और तकनीकी विकास के कारण मनुष्य को संहार की भयानक शक्ति मिल गई है। पर प्रश्न यह है कि क्या उसमें मानव जाति को बचाने की भी समझदारी आई है ? आज हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती मानवता के प्रति निष्ठा और लगाव पैदा करने की है।' एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में भारत के प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी के उक्त विचार इस बात के साक्षी हैं कि आज देश के चिन्तनशील और दायित्वशील लोगों को सबसे बड़ी चिन्ता मानवता को बचाने की है। यह एक प्रासंगिक और अपेक्षित चिन्ता है। आज मानवता को बचाने से अधिक कोई करणीय काम प्रतीत नहीं होता। मनुष्य औद्योगिक और यांत्रिक विकास कर पाए या नहीं, इनसे मानवता की कोई क्षति नहीं होने वाली है, किन्तु उसमें मानवीय गुणों का पर्याप्त विकास नहीं होता है तो कुछ भी नहीं होता है। एक मानवता बचेगी तो सब कुछ बचेगा। जब इसकी सुरक्षा नहीं हो पायी तो क्या बचेगा ? और उस बचने का अर्थ भी क्या होगा ?

मनुष्य एक सर्वाधिक शक्तिशाली प्राणी है, इस तथ्य को सभी धर्मों ने स्वीकार किया है। पर मानव जाति का दुर्भाग्य यह रहा कि उसकी शक्ति मानवता के विकास में खपने के स्थान पर उसके ह्रास में खप रही है। मानवता की सुरक्षा के लिए जिस ऊर्जा को संग्रहीत किया गया था, वह हथियार का रूप लेकर उसका संहार कर रही है। मनुष्य के मन की धरती पर उगी हुई करुणा की फसल क्रूरता से भावित होकर धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। यह एक ऐसा भोगा हुआ यथार्थ है, जिसे कोई भी संवेदनशील व्यक्ति नकार नहीं सकता।

पानी को जीवनदाता माना जाता है, सर्वोत्तम तत्त्व माना जाता है फिर भी उसके स्वभाव की विचित्रता यह है कि वह ढलान का स्थान प्राप्त होते ही नीचे की ओर बहने लगता है। दूसरों को जीवन देने वाला जल भी जब नीचे की ओर जाने लगे तो उसे कौन रोक सकता है ? यही स्थिति आज के मनुष्य की है।

सर्वाधिक शक्तिशाली होकर भी यदि वह स्वयं का दुश्मन हो जाए, करुणा को भूलकर क्रूर बन जाए तो उसे कौन समझा सकता है ?

भगवान महावीर ने कहा–'पुरिसा ! तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि'– पुरुष जिसे हंतव्य मानता है, वह तू ही है, केवल तू ही । इस शाश्वत सत्य का सन्देश या तो उन लोगों तक पहुंचा नहीं है या इसे सुनकर भी अनसुना कर दिया है, जो अपनी बुद्धि और शक्ति को मनुष्य जाति के व्यापक हनन में लगा रहे हैं।

इस बात को सब मानते हैं कि विज्ञान ने बहुत तरक्की की है । यह बहुत अच्छी बात है । विज्ञान की प्रगति से अनेक अज्ञात रहस्यों पर गिरा हुआ पर्दा हटा है, किन्तु इस बात को भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि विज्ञान में तारक और मारक दोनों शक्तियां होती हैं । कोई आदमी उसकी तारक शक्ति को भूलकर मारक शक्ति को ही काम में लेने लगे, इससे विज्ञान का क्या दोष ?

पौराणिक मान्यता के अनुसार भगवान ने आदमी को दो पुड़िया दी और कहा– एक पुड़िया में पैसा है और दूसरी पुड़िया में ईमान । तुम पैसा बिखेरते जाओ और ईमान बटोरते जाओ । आदमी ने दोनों पुड़िया हाथ में ली । एक पुड़िया को उसने बिखेर दिया और दूसरी को सहेजकर रख लिया । रख तो लिया, पर कुछ उल्टा हो गया । उसने पैसे के स्थान पर ईमान को बिखेर दिया और ईमान के बदले पैसे को बटोर कर रख लिया ।

यही बात विज्ञान के सन्दर्भ में है । उसके पास मानवता या मानव जाति को बचाने की जो विलक्षण शक्ति है, उसे भुला दिया गया और संहार की भयानक शक्ति को उजागर किया गया । इस विपर्यास को दूर करने के लिए सम्यक् दृष्टिकोण के निर्माण की आवश्यकता है । विज्ञान की देन अणुबम की विभीषिका को समाप्त करने में अणुव्रत की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । मानवता को बचाने की चिन्ता करने वाले किसी भी व्यक्ति का घोष होगा–'अणुबम नहीं अणुव्रत चाहिए ।'

८२. ऊर्ध्वगमन की दिशा

अथर्ववेद का एक सूक्त है–'उद्यानं ते पुरुष ! तुम्हारा उद्यान हो, ऊर्ध्वगमन हो, अवयान अर्थात् अधोगमन न हो । तेरापंथ धर्मसंघ को पुरुष का प्रतीक मानकर विचार करे तो हमें धर्मसंघ के ऊर्ध्वगमन का मार्ग तय करना है । ऊर्ध्वगमन की बात बहुत रुचिकर और आकर्षक है । सवाल एक ही है कि उसका रास्ता क्या हो ?

पिछले पांच दशकों का समय हमारे सामने है । इस अवधि में हमारा धर्मसंघ कहां से कहां पहुंचा ? कितना ऊपर उठा ? कहां, क्या अवरोध आया ? और कौन-सा पथ प्रशस्त हुआ ? इन बिन्दुओं पर तटस्थ मीमांसा की जाए तो एक तथ्य उभर कर सामने आता है कि हमारी यात्रा योजनाबद्ध और चिन्तनपूर्वक नहीं हुई। चलना हमारी नियति था । हम चले और रास्ता बनता गया । न तो हमारे सामने कोई बना-बनाया रास्ता था और न हमारी कल्पना ही थी कि हमारे द्वारा ऐसा पथ बन जाएगा, जिस पर बहुत लोग चलेंगे या चलना चाहेंगे । नियति की प्रेरणा, हमारा पुरुषार्थ और किसी अदृश्य शक्ति का योग । होने का काम होता गया । कुछ समय पहले जहां सघन कुहासा दिखाई देता, वहां नयी संभावनाओं का सूरज उग जाता है और चिन्तन की धारा मन्द होती-होती तीव्रगामी हो जाती ।

अणुव्रत की बात बहुत छोटे पैमाने पर सोची गई थी । श्रावक-समाज की आस्था का प्रतिदान मानकर अणुव्रत की बात शुरू की । थोड़े ही समय में वह राष्ट्रीय स्तर पर नैतिक आन्दोलन के रूप में प्रख्यात हो गया ।

सुदूर प्रदेशों की यात्रा का चिन्तन अनायास ही नहीं जनमा था । पर कोई बहुत बड़ी योजना भी नहीं थी । यात्रा शुरू हुई । उसका परिणाम सामने आया और यात्रा की उपयोगिता बढ़ गई ।

तीस वर्ष पहले तक प्रेक्षाध्यान की कोई कल्पना ही नहीं थी । भीतर से प्रेरणा जागी । ध्यान की दिशा में प्रस्थान करने का निर्णय लिया और अपने आप मार्ग बन गया । आज अनुभव होता है कि प्रेक्षाध्यान युग की अपेक्षा है । यदि यह नहीं होता तो युग के साथ चलने में कठिनाई हो जाती ।

साहित्य की यात्रा, वह भी युगीन परिवेश में। जिस दिन यह सपना देखा था, नहीं सोचा था कि स्वप्न इतनी जल्दी आकार ले लेगा। आज अनुभव होता है कि साहित्य-सृजन नहीं होता तो तेरापंथ को चूहे-बिल्ली की चर्चा से मुक्त करना संभव नहीं था।

आगम संपादन का काम हाथ में नहीं लेते तो हम आगमों के ज्ञान में पिछड़ जाते। आगम कार्य करते समय हमें जितनी नयी दृष्टियां मिलीं, अध्यात्म और ज्ञान-दोनों क्षेत्रों में हमारे अनुभव बढ़े।

इस प्रकार के कुछ और भी काम हुए। वे नहीं होते तो आज तेरापंथ धर्मसंघ जहां है, वहां नहीं होता। जिस समय जिस काम को होना था, उसने आह्वान किया। वह ऐसा आह्वान था, जिसे अनसुना नहीं किया जा सकता था। उसे सर्वोपरि काम माना या नहीं, पर महत्त्वपूर्ण अवश्य माना। काम शुरू करने से पहले जो रास्ता बहुत लम्बा लगता था, संकल्प के सहारे छोटा हो गया। विरोधों और अवधरों के बावजूद सफलता मिली, सपनों में निखार आया तथा आकांक्षाओं के आकाश में यथार्थ का चांद चढ़ता रहा।

आज इक्कीसवीं सदी की चर्चा बुलन्दी पर है। हमारे धर्मसंघ के लिए 'योगक्षेम वर्ष' ही इक्कीसवीं शताब्दी है। इस शताब्दी में हमें नयी संभावनाओं के साथ प्रवेश करना है। यह तभी संभव है, जब हम नियति के भरोसे बैठे नहीं रहेंगे, पुरुषार्थ करेंगे।

प्रश्न हो सकता है कि इस योगक्षेम वर्ष से क्या होगा? इस सन्दर्भ में महाभारत का एक प्रसंग बहुत उपयोगी है। वहां लिखा है- 'जिसका ज्ञान, कुल और कर्म अच्छा है, उसके पास बैठना शास्त्राभ्यास से बढ़कर है।' यही बात मैं कहता हूं कि क्या होगा? कैसा होगा? इस द्वन्द्व से मुक्त होकर कुछ होने का प्रयत्न करना ही होना है। यह प्रयत्न कब होगा? योगक्षेम वर्ष में? नहीं, आज और अभी से प्रयत्न करना शुरू करना है। अभी नहीं होगा तो तब भी नहीं होगा। उस वर्ष की, प्रतीक्षा मत करो। इसी क्षण से अपने आपको ढालने का प्रयास प्रारम्भ कर दो।

साधु-साध्वियों को क्या बनना है, इसके लिए निर्देश की प्रतीक्षा न करें। अपनी-अपनी रुचि और क्षमता को समझें और काम शुरू कर दें। ऐसा करके आप मेरे काम में सहयोगी बनेंगे, संघ विकास की जिम्मेवारी में अपनी भागीदारी निभाएंगे। समय हमारी मुट्ठी में बन्द नहीं रहेगा। वह हाथ से फिसले उससे पहले ही हम सोचने की बात सोच लें और करने की बात शुरू कर लें। इस तत्परता से ही हम अपनी भावी पीढ़ी के लिए नये उत्साह, नये साहस और नये संकल्प के साथ नये रास्ते से ऊर्ध्वगमन करने की विरासत छोड़ पाएंगे।

८३. संबंधों की मिठास

जिसके आचरण का प्रतिबिम्ब औरों पर पड़ता है, वह शलाका-पुरुष कहलाता है। तीर्थंकरों की गणना शलाका-पुरुषों में की गई है। क्योंकि वे प्रामाणिक पुरुष होते हैं। उनका जानना, देखना, बोलना और करना—यह चतुर्दिग् यात्रा एक मात्र सत्य की परिक्रमा है। उनका कथन कभी सत्य से हटकर नहीं होता। इसी प्रकार उनका आचरण भी सत्य-संवलित होता है। तीर्थंकर लोकोत्तर क्षेत्र में शलाका-पुरुष होते हैं। वे अनुत्तरज्ञान और दर्शन के धारक होते हैं। उनकी ज्ञानचेतना का सूर्य कभी आवृत्त नहीं होता। इसलिए उनका प्रामाण्य कभी संदिग्ध नहीं होता।

लौकिक क्षेत्र मे चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव को शलाकापुरुष माना गया है। इनका आचार-व्यवहार अपने-अपने युग में आदर्श बन जाता है। जनता इनका अनुसरण करती है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए गीता में कहा गया है—

यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणीकरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

—श्रेष्ठ व्यक्ति जो व्यवहार करता है, अन्य लोग भी वही व्यवहार करते हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति जिस आचरण को प्रमाण मानते हैं, सामान्य जन उसी का अनुवर्तन करते हैं।

आज हमारे सामने न तो तीर्थंकर हैं और न चक्रवर्ती सम्राट् आदि हैं। गणधरों और राजा-महाराजाओं का युग भी नहीं रहा। सम्प्रति लोकोत्तर पक्ष में, तीर्थंकरों के प्रतिनिधि आचार्य हैं और लौकिकक्षेत्र में राजनेता, समाजनेता आदि। यदि इनको शलाकापुरुष के रूप में प्रतिष्ठित किया जाए तो उन्हे अपने आदर्श के अनुरूप आचरण की उज्ज्वलता को सुरक्षित रखना चाहिए। किसी भी कार्य मे प्रवृत्त होते समय उनको चिन्तन करना चाहिए कि उनकी प्रवृत्ति उन तक सीमित नहीं है। उनके द्वारा कहे गए छोटे-छोटे शब्द और उनके द्वारा किए गए साधारण से साधारण काम को भी जनता की प्रतिक्रियाओं के कटघरे में उपस्थित होना पड़ेगा। बात प्रतिक्रिया तक

पहुंचकर ही समाप्त नहीं हो जाती है, जनता वैसा करने के लिए भी तत्पर हो जाएगी। इसलिए उनके जीवन में संयम एवं आत्मानुशासन की विशेष आवश्यकता है ।

राष्ट्रपति राष्ट्र के प्रथम नागरिक होते हैं और प्रधानमंत्री के हाथ में पूरे राष्ट्र का भविष्य रहता है । राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री के बीच यदि कोई विवाद छिड़ता है तो उसका असर पूरे देश पर पड़ता है । किसी भी प्रान्त के राज्यपाल एवं मुख्यमंत्री के संबंध ठीक न रहे तो उससे प्रान्त की चेतना कुंठित होती है । किसी धर्मसंघ के आचार्य और उपाध्याय के मध्य तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो उस धर्मसंघ का वर्चस्व मंद हो जाता है और संघीय व्यवस्था-तंत्र शिथिल हो जाता है । इसी प्रकार किसी विश्वविद्यालय के कुलपति, उपकुलपति, प्राचार्य आदि के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा होती है तो उससे शिक्षा जगत प्रभावित होता है और विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता के संस्कार संक्रान्त होने लगते हैं ।

मनुष्य कितना ही शक्ति-संपन्न क्यों न हो, आखिर वह मनुष्य है । मानवीय दुर्बलताओं के कारण वह कहीं न कहीं औचित्य का अतिक्रमण कर सकता है, यह एक बात है । किन्तु उच्चतम पदों पर आसीन व्यक्ति एक-दूसरे की छीछालेदर करने लगें तो किसी अन्य व्यक्ति को उनके बारे में कुछ कहने से कौन रोक सकेगा ? हो सकता है, उनका चिन्तन भिन्न हो । काम करने की शैली भिन्न हो । काम करने वाले से कुछ उचित-अनुचित भी हो गया हो, उस सम्बन्ध में शालीनता से कोई सुझाव दिया जाए अथवा उच्चस्तर की आलोचना की जाए तो वह प्रभावक होती है । किन्तु सड़कों और गलियारों के स्तर की आलोचना उनकी गरिमा को कम ही करती है । ऐसे प्रसंगों पर प्रायः बिचौलिया लोग इधर की उधर और उधर की इधर करते हुए सम्बन्धों को अधिक संदिग्ध एवं कटु बना देते हैं । अपने आपको महत्त्वपूर्ण बनाने की चेष्टा में वे कुछ ऐसी हरकतें कर बैठते हैं, जो दूरी को बढ़ाती है और समझौते के द्वार बन्द हो जाते हैं । ऐसे नाजुक समय में बिचौलियों के हाथ का खिलौना न बनकर मैत्री का हाथ बढ़ाने वाला ही अपनी गरिमा को सुरक्षित रख सकता है ।

बड़े लोगों के बीच कोई साधारण-सा संघर्ष भी छिड़ जाए तो साधारण लोगों पर मुसीबत आ खड़ी होती है । राजस्थानी भाषा में एक कहावत है–'गोधां री राड़ रूंखां रो खंगाल' किसी खेत में घुसकर दो सांड यदि लड़ने पर आमादा हो जाएं तो समझ लेना चाहिए कि पौधों का क्षयकाल निकट आ गया । पौधे बेचारे सर्वथा निर्दोष हैं, पर बड़ों की लड़ाई में वे निर्ममता से कुचल दिए जाते हैं ।

एक दूसरी कहावत है–धान रै सागै घुण पीसीजे–कभी-कभी अनाज को घुन लग जाते हैं । जब कभी उस अनाज को पीसा जाता है, घुनों पर विपत्ति का पहाड़

टूट पड़ता है। उन्हें पीसकर चूर्ण में बदल दिया जाता है।

यही स्थिति बड़ों की लड़ाई में छोटों की होती है। क्योंकि आलोचना का स्तर गिरने के बाद वह इतना भयावह रूप लेती है कि विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वैसे हर परिवेश में कुछ विघटनकारी या विघ्नसंतोषी तत्त्व सक्रिय रहते हैं। विघटन की थोड़ी-सी भनक मिलते ही वे पूरी तैयारी के साथ तोड़फोड़ में जुट जाते हैं, इससे देश का अहित होता है, पार्टी का अहित होता है, संस्था का अहित होता है और व्यक्ति का अपना भी अहित होता है। कभी-कभी अच्छे-अच्छे लोग इस चक्रव्यूह में फंस जाते हैं और फिर उससे निकलने की इच्छा होने पर भी निकल नहीं पाते। कोई सही रास्ता दिखाकर उस चक्रव्यूह से बाहर निकालने वाला भी मिल जाए तो प्रेस्टिज का लोहावरण सामने आ जाता है, जिससे टकराकर पीछे हटने की नौबत आ जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि अपने दायित्व एवं व्यक्तित्व की गरिमा को सुरक्षित रखने के लिए बड़े कहलाने वाले लोग उदारतापूर्वक एक-दूसरे को सहन करें। ऐसा करके ही वे शलाका-पुरुष के गौरव को अर्जित कर सकते हैं।

८४. निन्दक नियरे राखिये

एक भाई कोई 'न्यूज पेपर' लेकर आया और बोला—'इसमें बुद्धिजीवी सम्मेलन की आलोचना छपी है। आपको कुछ कहना चाहिए।' मैंने पेपर को देखे बिना ही कहा—'भाई! आलोचना हमारी नियति है। तेरापंथ के आचार्य कोई भी काम करें, अच्छे से अच्छा काम करें, उसकी आलोचना होनी ही है।' आलोचना दो प्रकार की होती है—उच्च स्तरीय और आक्षेपात्मक। स्तर की आलोचना में कार्य की प्रशंसा भले ही न हो, तथ्यों की तटस्थ समीक्षा होती है। यह एक अच्छी परम्परा है। आक्षेपात्मक आलोचना कार्य में बाधा डालने अथवा व्यक्ति को गिराने के उद्देश्य से की जाती है। इसमें कोई सार नहीं होता। हमारी नीति है कि हम ऐसी आलोचना का उत्तर नहीं देते। 'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'—आग में ईधन न डाला जाए तो वह अपने आप शान्त हो जाती है। इसी प्रकार छिछले स्तर की आलोचना का प्रतिवाद न किया जाए तो वह स्वयं शान्त हो जाती है। गलत बात का उत्तर देकर उसे बढ़ावा देना है। क्योंकि जिन लोगों का काम निन्दा करना ही है और उन्हें यह महसूस होने लगे कि उनके द्वारा की गयी निन्दा सामने वाले को डिस्टर्ब कर रही है तो उन्हें बड़ा परितोष मिलता है। बुराई देखना ही जिनकी हॉबी हो, वे भला अपनी आदत कैसे बदल सकेंगे? कवि ने लिखा है—

अतिरमणीये काव्ये पिशुनो दूषणमन्वेषयति।
अतिरमणीये वपुषि व्रणमिव मक्षिकानिकरः॥

—शरीर कितना ही सुन्दर हो, मक्खियां उसमें रिसते हुए व्रण को खोजती हैं। इसी प्रकार काव्य कितना ही सुन्दर हो, छिद्रान्वेषी व्यक्ति उसमें दोष ही खोजता है।

दिल्ली में १६-१७ अगस्त को जो बुद्धिजीवी सम्मेलन हुआ, वह अपने ढंग का प्रथम सम्मेलन था। लगभग चार सौ बुद्धिजीवी यहां एकत्रित हुए आतंकवाद की दहशत के बावजूद वे लोग आए। एक दिन में छह-छह घण्टे बैठकर उन्होंने वर्तमान की समीक्षा की और भविष्य का चिन्तन किया। प्रत्यक्षदर्शियों का स्वर था

कि यह सम्मेलन अभूतपूर्व है। ऐसे उपक्रम होने चाहिए पर जिन लोगों को दोष ही देखना है, उनकी आंख अच्छाई पर क्यों टिकेगी ? इस सन्दर्भ में राजर्षि भर्तृहरि का एक श्लोक याद आ रहा है–

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं,
शूरे निर्घृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे,
तत् को नाम गुणो भवेत् स गुणिनां यो दुर्जनैर्नांकितः ॥

–गुणवान व्यक्ति का वह कौन-सा गुण है, जिसे दुर्जनों ने लांछित नहीं किया। यदि वह लज्जालु है तो उसमें जड़ता दिखाई देगी। वह संयम से रहता है तो उसे पाखण्डी का खिताब मिलता है। उसकी पवित्रता को छलना कहा जाता है। उसके शौर्य को क्रूरता बताया जाता है। उसकी सरलता को भोलापन माना जाता है। यदि वह मधुरभाषी है तो उसे दीन-हीन कहा जाता है। उसकी तेजस्विता में अहंकार का दर्शन होता है। वह प्रखर वक्ता है तो वाचाल कहलाता है। अगर उसमें स्थिरता है तो उसे शक्तिहीन या बेचारा बताया जाता है। ऐसी स्थिति में सद्गुणी व्यक्ति क्या करे ? क्या वह अपने अस्तित्व को समाप्त कर दे ? इस विषय में मेरा यह स्पष्ट अभिमत है कि ऐसे आलोचकों की प्रतिक्रिया से घबराना नहीं चाहिए। बल्कि ऐसा सोचना चाहिए–

जाये जेती बुध हुवै, तेसी कहत वणाय।
ताका बुरा न मानिये, लेन कहां पे जाय ?

कबीर ने तो यहां तक कह दिया कि अपने कार्यों के गुण-दोषों की समीक्षा के लिए निन्दक व्यक्ति को निकट रखना चाहिए। उसके लिए अपने आंगन में कुटिया छवाकर भी उसे अपने पास रखना चाहिए।

निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय

जो लोग निन्दक या आलोचक होते हैं, उनको निन्दा, आलोचना करने में बड़ा सुख मिलता है। यदि इतने मात्र से उन्हें सुख और सन्तोष मिलता है तो उन्हें सुखी बनाने का इससे सस्ता उपाय और क्या होगा ?

छिछले स्तर की आलोचना करने वाले लोग इस माध्यम से अपना व्यवसाय भी चलाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो ऐसी आलोचना करने वालों को पैसा देते हैं। ऐसी स्थिति में किसी के लाभ में अवरोध उपस्थित करने से क्या लाभ? आलोचना करने और कराने से किसी का व्यवसाय चलता है, उसे रोकने का प्रयास क्यों किया जाए ?

मैंने उस भाई को समझाते हुए कहा–'हम अपना काम करते हैं। कुछ लोग

आलोचना करते हैं। इससे हमें सजग रहने की प्रेरणा मिलती है। आलोचना मे कोई सार होता है तो ग्रहण कर लेते हैं। अन्यथा उसकी उपेक्षा कर देते हैं।' हमने अपने जीवन में अनेक बार यह अनुभव किया है कि प्रशंसा और निन्दा दोनों से निरपेक्ष रहकर काम करने वाले ही आगे बढ़ सकते हैं। यहां एक बात और ज्ञातव्य है कि आलोचना जीवंतता की होती है। सत्वहीन व्यक्ति कुछ भी करे, उनके विरोध में आलोचना का कोई स्वर मुखर नहीं होता। हमारे कामों की बहुत उच्चस्तर की प्रशस्ति हुई, उसमें हम उलझे नहीं। हमारी हल्के स्तर की निन्दा हुई, उससे हम रुके नहीं। दोनों स्थितियों के मध्य संतुलन स्थापित कर काम करते रहते हैं। इस क्रम से एक समय ऐसा आता है जब निन्दा आलोचना का आयुष्य क्षीण हो जाता है और इसमें रस लेने वालों का अनुताप होता है।

पूरे वर्ष तक निन्दा का पेपर निकालने वाला एक व्यक्ति मेरे पास आकर बोला–'आचार्यश्री ! आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।'

मैंने उससे कहा– 'तुमने जी भरकर हमारे विरोध में लिखा। हमने तुमको अभिशाप कब दिया ? क्या यह आशीर्वाद नहीं है ?'

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि आलोचना के बिना काम आगे नहीं बढ़ता। इसलिए आलोचना होनी चाहिए। छिछले स्तर की आलोचना का जवाब देना कीचड़ में पत्थर उछालना है। ऐसी आलोचना को अनदेखा-अनसुना कर अपने काम में संलग्न रहना चाहिए। मेरे इस अनुभव से दूसरे लोग भी लाभ उठाएं, इसकी मुझे प्रसन्नता होगी।

८५. पर्युषण पर्व : प्रयोग का पर्व

मनुष्य को जीवित रखने वाला, जीने की शैली में परिवर्तन लाने वाला और कुछ करने के प्रति उत्साह बनाए रखने वाला एक तत्त्व है–जीवन के प्रति आस्था। आस्था जितनी प्रगाढ़ या क्षीण होती है, जीवन का क्रम उतना ही संतुलित या असंतुलित होता है । आस्था के सहारे वह जोखिम भरी राह में भी निर्भय होकर बढ़ जाता है । आस्था के अभाव में सीधा-सपाट राजपथ भी भयावह प्रतीत होने लगता है ।

आस्था के तेवर बदलते रहते हैं । यही कारण है, मनुष्य का मिजाज भी बदलता रहता है । कभी वह धार्मिक आस्थाओं का जीवंत प्रतीक बन जाता है । कभी उसके जीवन में आस्था का दर्शन ही नहीं होता । यह स्थिति उन लोगों की होती है, जो समय और सुविधा के साथ आस्था का चोगा बदलते रहते हैं । जो आस्था उसकी सुविधा के चौखटे में फिट नहीं बैठती है, उसी की ब्योंत-कतर शुरू हो जाती है । इससे जीवन का यथार्थ हाथ से छूट जाता है और व्यक्ति के सामने अपनी पहचान का संकट खड़ा हो जाता है ।

मनुष्य की आस्था के कई केन्द्र होते हैं–परिवार, समाज, राष्ट्र, नैतिकता, सेवा, कला, शिक्षा और धर्म । आस्था का उद्‌भव सहज भी हो सकता है और किसी निमित्त से भी । कुछ लोगों की आस्था पारम्परिक होती है और कुछ लोगों की आस्था के साथ उनकी सूझबूझ भी जुड़ी रहती है । मेरे अभिमत से ये दोनों प्रकार की आस्थाएं अपूर्ण है । पारम्परिक आस्था के साथ सूझबूझ जुड़ जाए, जागरुकता जुड़ जाए और रूढ़ि नाम का तत्त्व वहां से निकल जाए तो वह आस्था प्रशस्त हो जाती है । इसी प्रकार सूझबूझ से स्वीकृत या उपजी हुई आस्था शुष्क तर्कवाद की पकड़ से मुक्त रहे तो उसमें कभी दरार पड़ने की संभावना नहीं रहती ।

जैनधर्म में आस्था रखने वाले लोगों का सबसे बड़ा धार्मिक पर्व है 'पर्युषण पर्व ।' कोई भी धार्मिक पर्व जब तक केवल परंपरा या ढर्रे के रूप में चलता है, उससे वांछित लाभ नहीं मिल सकता । मेरे इस अभिमत का तात्पर्य यह नहीं है

कि सब परम्पराएं गलत ही होती हैं। मैं परंपरा को बहुत मूल्य देता हूं। पर उसकी मूल्यवत्ता तभी तक है, जब तक वह सार्थक और प्रासंगिक हो। प्रासंगिकता समाप्त होने के बाद भी किसी व्यामोह के कारण परम्परा का पिछलग्गू बनकर रहना सूझबूझ के सामने प्रश्नचिह्न खड़ा करता है।

पर्युषण पर्व बहुत अच्छी परंपरा है। इस पर्व में आठ दिनों तक विशेष धर्माराधना करने का प्रावधान है। इस पर्व में मुख्य दिन एक होता है। संवत्सर अर्थात् वर्ष में एक बार मनाया जाने के कारण इसका नाम हो गया संवत्सरी महापर्व। इस दिन या पर्व के प्रति जैनसमाज में आस्था है, आकर्षण है। आस्था के कारण ही लाखों लोग इस दिन उपवास करते हैं, जप करते हैं, ध्यान करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, प्रवचन सुनते हैं और गहरा आत्ममंथन करते हैं। उपासना का यह उपक्रम पर्युषण पर्व के प्रारंभ से ही शुरू हो जाता है। इसलिए आठ दिनों तक निरन्तर धर्माराधना के नये प्रयोग चलते हैं। कुछ क्षेत्रों में आठ दिनों तक पूरा बाजार बन्द रहता। जहां ऐसा नहीं होता, उन क्षेत्रों के कई लोग व्यक्तिगत रूप में अपना व्यापार बन्द कर देते हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो आठ दिनों तक आहार पानी का परित्याग कर पूरी तरह अन्तर्मुखी बनने का प्रयास करते हैं। बड़े लोगों की तो बात ही क्या, छोटे-छोटे बच्चे भी विशेष उत्साह के साथ संवत्सरी का उपवास करते हैं, सामायिक करते हैं, पौषध करते हैं और प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

पर्युषण पर्व अथवा संवत्सरी पर्व के प्रति बनी हुई जन-भावना को स्थायित्व देने के लिए इस पर्व की प्रासंगिकता को सदा जीवित रखना है।

कपड़ा कुछ दिन पहनने के बाद पुराना पड़ जाता है, आभूषणों को काम में लेते-लेते उनकी चमक मन्द हो जाती है, मकानों में समय बीतने के साथ टूट-फूट हो जाती है। इसी प्रकार सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों में भी धीरे-धीरे रूढ़ता आ जाती है। रूढ़ होने के बाद उत्सव मनाने की रश्म तो पूरी होती है, पर वह व्यक्ति को उल्लसित नहीं कर सकता।

पर्युषण पर्व सबसे बड़ा धार्मिक उत्सव है। हमारा यह उत्सव रूढ़ि का रूप न ले, इसके लिए निरंतर जागरूकता की अपेक्षा है। जागरूकता से मेरा अभिप्राय इतना ही नहीं है कि उसे ठाटबाट से मनाया जाए, धार्मिक जागरूकता का संबंध प्रयोगधर्मिकता से है। नये-नये प्रयोगों के द्वारा इसका रूप सुरुचिवर्धक एवं आनन्दवर्धक बना रहे, यह जरूरी है।

पर्युषण पर्व पर विशेष धर्माराधना की दृष्टि से पिछले कई वर्षों से अष्टाह्निक उपासकदीक्षा का क्रम चल रहा है। इस क्रम को अधिक व्यवस्थित करने के साथ कुछ नये प्रयोग भी आवश्यक हैं। श्रावक समाज की तरह साधु-साध्वियां भी पर्युषण

पर्व के अवसर पर विशेष पुरुषार्थ करें तो बड़ी उपलब्धि हो सकती है साधु-जीवन स्वीकार कर लेने मात्र से साधना में निखार नहीं हो सकता। नये निखार के लिए प्रयोग के पथ पर अग्रसर होना ही पड़ेगा। तेरापंथ धर्मसंघ प्रयोगधर्मी संघ है। अतीत के प्रयोगों से हम जहां पहुंचे हैं, उसे आधार बनाकर वर्तमान को उसी दिशा आगे बढ़ाना है। ऐसा करके ही हम अपनी भावी पीढ़ी को धर्म और अध्यात्म का मूल्य समझा पाएंगे।

८६. हे प्रभो ! यह तेरापंथ

२१ जुलाई १९८६, आगामी आषाढ़ी पूर्णिमा को तेरापंथ स्थापना-दिवस मनाया जा रहा है। यहां प्रश्न होता है कि स्थापना-दिवस कैसे हुआ। क्या किसी ने तेरापंथ की स्थापना की थी ? क्या कभी इसकी विधिवत घोषणा हुई ? तेरापंथ को स्थापित करने की प्रक्रिया क्या रही ? इन सब प्रश्नों पर विचार करने से एक नकारात्मक उत्तर सामने आता है। इस उत्तर में से फिर वही प्रश्न पैदा होता है कि तेरापंथ दिवस कैसे हुआ ?

सब काम करने नहीं होते। कुछ काम प्रयत्न करने पर भी नहीं होते और कुछ अपने आप हो जाते हैं। वर्षा बरसती है। कुछ बीज बिना बोए अपने आप उग जाते हैं, धीरे-धीरे बढ़ते हुए वे वृक्ष बन जाते हैं और अपनी जड़ें बहुत गहरे तक ले जाते हैं। तेरापंथ की स्थापना भी किसी ने की नहीं, अपने आप हो गयी।

आचार्य भिक्षु अपने युग के विलक्षण महापुरुष थे। तत्कालीन साधु समुदायों में पनपने वाली आचार-विचार की विसंगति ने उनको उद्वेलित कर दिया। उनकी चेतना के द्वार पर दस्तक हुई, जिसे वे अनसुना नहीं कर सके। उनकी प्रज्ञा ने उस दस्तक पर विश्लेषण किया। वे अन्तर्द्वन्द्व से घिर गए। उन्होंने समन्वय के मार्ग पर कदम बढ़ाए, पर उन्हें पीछे हटना पड़ा। सिद्धान्त के साथ समझौता करना उनकी नीति नहीं थी अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति के आधार पर उन्होंने धर्मक्रान्ति का आह्वान किया। सुविधा और प्रतिष्ठा का पथ छोड़कर मुसीबतों भरे रास्ते पर चलना स्वीकार किया। उनका चिन्तन यह था कि कोई व्यक्ति या समूह तत्त्व को नहीं समझता है तो उस पर आरोपित नहीं करना चाहिए। आरोपण करने की अपेक्षा अपने आपको वहां से हटा लेना ही अधिक उचित है।

आचार्य भिक्षु का लक्ष्य किसी नये पन्थ (सम्प्रदाय) का प्रवर्तन नहीं था। किन्तु वे चले और पंथ बन गया। इसी दृष्टि से कहा गया है–

पंथ चलाणो लक्ष्य नहीं हो,
चल्या चरण बस पंथ बण्यो।

जब पंथ बन गया तो धीरे-धीरे उसमें दूसरे लोग भी सम्मिलित होने लगे। प्रथम पारी में उस पंथ पर चलने वाले साधुओं की संख्या तेरह थी। संयोग से जोधपुर के तेरह श्रावक आचार्य भिक्षु द्वारा निरूपित पद्धति से धर्मोपासना में संलग्न हुए। तेरह-तेरह का योग मिला और तेरापंथ नामकरण हो गया।

आचार्य भिक्षु ने अपनी दूरगामी सूझबूझ का उपयोग किया और तेरापंथ नाम की अपने ढंग से व्याख्या की। उनकी पैनी दृष्टि की फलश्रुति है–हे प्रभो ! यह तेरापंथ ! प्रभु के पंथ पर चलने का संकल्प लेकर उन्होंने अरावली की घाटियों पर आरोहण किया। चलते-चलते वे केलवा पहुंचे और शास्त्रानुमोदित नयी दीक्षा स्वीकार कर आत्मतुष्टि का अनुभव करने लगे। उसी दिन तेरापंथ की आधारशिला प्रतिष्ठित हो गई और वही दिन स्थापना-दिवस के रूप में मान्य हो गया। आचार्य भिक्षु से लेकर हमारे समय तक स्थापना दिवस मनाने का कोई क्रम नहीं था। तेरापंथ द्विशताब्दी का अवसर आया और उस दिन को विशेष प्रतिष्ठा दे गया। तब से प्रायः विधिवत् इस दिन को पर्व के रूप में मनाया जाता है।

स्थापना दिवस मनाने का उद्देश्य आमोद-प्रमोद की वृद्धि या किसी परंपरा का निर्वाह मात्र नहीं है। इसका एकमात्र उद्देश्य है—उस महापुरुष के विचारों, सिद्धान्तों और आचरणों को उजागर करना। इस माध्यम से उनकी वैचारिक दृढ़ता सैद्धान्तिक समझ और आचारगत सजगता का अपने जीवन में अवतरण करना ही सही अर्थ में उनका स्मरण है।

आचार्य भिक्षु का तेरापंथ धर्मसंघ अपनी मौलिकताओं को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखता हुआ युगीन परिवेश को स्वीकार कर आगे बढ़ रहा है। इस युग की भाषा में उसकी यह पहचान हो सकती है–

- अर्हत् वाणी पर आत्मार्पण करे का नाम है तेरापंथ।
- आचार और विचार की समन्विति का नाम है तेरापंथ।
- नवीनता और प्राचीनता के सहावस्थान का नाम है तेरापंथ।
- अनुशासन और आचार को सर्वोपरि मानने का नाम है तेरापंथ।
- आचार्य और संघ के पारस्परिक अनुबन्ध का नाम है तेरापंथ।
- साधना, सेवा और श्रम की त्रिवेणी का नाम है तेरापंथ।
- अहंकार और ममकार विसर्जन का नाम है तेरापंथ।
- व्यक्तित्व-विकास का प्रशिक्षण केन्द्र है तेरापंथ।
- विज्ञान और धर्म के सामंजस्य का नाम है तेरापंथ।

८७. व्यक्त्वि-निर्माण का वर्ष

कुछ समय पहले एक पत्र में पढ़ा था कि बैलगाड़ी को इक्कीसवीं सदी के अनुरूप विकसित किया जा रहा है। विकास की इस प्रक्रिया में सामान ढोने का ढांचा एल्यूमिनियम का बनाया जाएगा। लोहे की पट्टियों और लकड़ी के स्थान पर न्यूमेटिक टायर का उपयोग किया जाएगा। नये युग की बैलगाड़ी में स्टीयरिंग की सुविधा भी रहेगी। इसका उद्देश्य है मौलिकता की सुरक्षा के साथ आधुनिकता का स्वीकार। मौलिकता और प्रासंगिकता—दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। मौलिकता संस्कृति में होती है, परम्परा में होती है, व्यक्ति में होती है चिन्तन में होती है, साहित्य में होती है और काम करने के तरीके में भी होती है। मौलिकता का अपना मूल्य है पर उसकी मूल्यवत्ता बहुगुणित हो जाती है, जब वह प्रासंगिक बन जाए। प्रासंगिकता का अपना महत्त्व है पर उसकी महत्ता बहुत अधिक बढ़ जाती है, जब वह मौलिकता से प्रतिबद्ध रहती है। आज के युग में ऐसे तत्त्व, वस्तु और व्यक्ति की अपेक्षा है जो मौलिक होने के साथ प्रासंगिक भी हो।

बैलगाड़ी का नहीं; व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म की गाड़ी का रूपान्तरण भी आवश्यक है। जब तक इन सबमें रूपान्तरण घटित नहीं होगा, केवल बैलगाड़ी को बदलने से क्या होगा ? बदलाव का जहां तक प्रश्न है, उसका क्रम निरन्तर चलता है। जैन दर्शन इस क्रम को पर्याय-परिवर्तन के रूप में स्वीकार करता है। पर्याय का अर्थ है अवस्था। प्रत्येक वस्तु की अवस्था प्रतिक्षण बदलती है। यह जगत् की स्वाभाविक प्रक्रिया है। कुछ अवस्थाओं को प्रयत्नपूर्वक भी बदला जाता है। स्वभाव से हो या प्रयोग से, बदलाव की प्रक्रिया को बदलना संभव नहीं है।

वस्तु बदल सकती है तो व्यक्ति भी बदल सकता है। इस आस्थासूत्र का आलम्बन लेकर ही व्यक्ति व्यक्तित्व-निर्माण का लक्ष्य निर्धारित करता है। लक्ष्य निर्णीत होने के बाद वह उस दिशा में प्रस्थान करता है। आज का आदमी जेट युग की रफ्तार से चलता है। वह कुछ भी करता है, उसमें 'शार्टकट मेथड' को

काम में लेना चाहता है। उसकी आकांक्षा रहती है कि वह रातोंरात धनाढ्य बन जाए और व्यवसाय की दौड़ में सबसे आगे निकल जाए। इसके लिए वह आकाश में सढ़ियां लगाने की बात सोचता है और समुद्र में सुरंग बनाने की कल्पना करता है। वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से कोई कभी इस असंभव-से प्रतीत होने वाले काम को संभव भी बना दे पर व्यक्ति-निर्माण का काम 'शार्टकट मेथड' से पलक झपकते ही हो जाए, यह संभव नहीं है।

योगक्षेम वर्ष की मूलभूत थीम है व्यक्तित्व का निर्माण। किस प्रकार का व्यक्तित्व? इस प्रश्न का समाधान है आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व। व्यक्तित्व-निर्माण के इस अनुष्ठान में जिन वर्गों को सहभागी होना है, उनमें एक वर्ग है–स्नातक। एक विद्यार्थी स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर का अध्ययन करने में अपने जीवन के पन्द्रह से सत्रह-अठारह वर्ष लगा देता है। उस समय उसके साथ अभिभावकों के मन में यह विकल्प पैदा नहीं होता कि उसके ये वर्ष व्यर्थ तो नहीं बीत रहे हैं। क्योंकि उसे बी० काम०, एम० काम० आदि डिग्रियां हासिल करनी हैं। डिग्री के साथ जीविका का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। जीविका जीवन की अनिवार्यता है, इसलिए उसे अहमियत दिए बिना काम नहीं चल सकता। यह चिन्तन का एक कोण है।

चिन्तन का दूसरा कोण जीवका से भी अधिक मूल्य जीवन को देता है। इसके अनुसार जीविका जीवन का साध्य नहीं है, साधन है। जीवन का साध्य है–विकास की यात्रा में अग्रसर होना। विद्यार्थी स्कूल या कॉलेज में पढ़ता है। वहां उसे बौद्धिक विकास का प्रशिक्षण मिलता है। बुद्धि व्यक्तित्व का एक घटक है। उसी को केन्द्र में रखकर चलने से समस्या पैदा होती है। उसका दूसरा घटक है प्रज्ञा। प्रज्ञा के जागरण से बौद्धिक विकास के साथ भावनात्मक विकास का संतुलन रहता है। जब ये दोनों विकास समानान्तर होते हैं, तब आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण हो सकता है। स्नातक वर्ग में दिए जाने वाले प्रशिक्षण और कराए जाने वाले प्रयोग इसी पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हैं।

कॉलेज से निकलकर विद्यार्थी सीधा सर्विस में चला जाए अथवा व्यवसाय से जुड़ जाए तो उसे समग्रता से जीवन का बोध नहीं हो सकता। इस बात को स्वयं विद्यार्थी अनुभव करे या नहीं, अभिभावकों को ध्यान देने की अपेक्षा है। यदि उनको अपनी युवापीढ़ी के व्यक्तित्व-निर्माण से थोड़ा भी सरोकार है, वे इस पीढ़ी को जीवन के सम्पूर्ण यथार्थ से परिचित कराना चाहते हैं तो उनके सामने एक अपूर्व अवसर है–प्रज्ञापर्व। अभिभावकों या विद्यार्थियों के मन में पूरे एक वर्ष का समय हौवा-सा लग सकता है। किन्तु सच तो यह कि समय के प्रवाह को मुट्ठी में बांधकर नहीं रखा जा सकता। जब पूरा ड़ेढ़ दशक शिक्षा प्राप्त करने

में बीत जाता है तो एक वर्ष की इतनी क्या चिन्ता है ? मैं तो यह मानता हूं कि प्रतिमास हजारों रुपयों का व्ययभार वहन करके भी एक वर्ष में इस प्रकार का प्रशिक्षण नहीं दिया जा सकता। इस दुर्लभ अवसर का लाभ वे ही उठा पाएंगे, जो इसके महत्त्व को समझेंगे।

कई देशों में शिक्षा पूरी होने के बाद गांवों में जाकर एक वर्ष तक सेवा कार्य करने अथवा निश्चित अवधि तक सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने की परम्परा है। भारत में ऐसा कोई क्रम नहीं है। तेरापंथ समाज के युवक-युवतियां इस विषय में उदाहरण प्रस्तुत करें। वे शिक्षा के बाद एक वर्ष का समय विशेष प्रशिक्षण के लिए आरक्षित कर लें तो खण्ड-खण्ड में प्राप्त ज्ञान राशि को संयोजित किया जा सकता है और प्रज्ञापर्व के इस प्रयोग को भविष्य में चालू रखने का चिन्तन भी हो सकता है। ऐसा करने से ही व्यक्तित्व निर्माण का सपना पूरा हो सकता है। और ऐसे व्यक्तित्वों की शृंखला आगे-से-आगे बढ़ सकती है।

८८. बेहतर भविष्य की संभावना

प्राणवान व्यक्तित्व वह होता है, जो अपने वर्तमान को अतीत से बेहतर बना दे और भविष्य को वर्तमान से बेहतर बनाने की प्रक्रिया शुरू कर दे। केवल वर्तमान के आधार पर किसी भी व्यक्ति या संघ का वर्चस्व दीर्घजीवी नहीं रह पाता। हमारे अहमदाबाद चातुर्मास प्रवास के समय कस्तूर भाई मिले। उनके साथ हमारी बातचीत हुई। वार्तालाप के अन्त में उन्होंने कहा–'आचार्यजी ! आपके धर्मसंघ की पद्धति बहुत अच्छी है। इसकी मुझे प्रसन्नता है। पर मैं एक बात से चिन्तित हूं।'

मैंने पूछा–'ऐसी कौन-सी बात है ?'

इस पर वे बोले–'वर्तमान में आप अपने धर्मसंघ को जिस रूप में चला रहे हैं, क्या यह भविष्य में इसी प्रकार चल सकेगा ? यदि आप भविष्य के लिए ऐसी सक्षम व्यवस्था नहीं सोचेंगे तो वर्तमान के आधार पर काम कैसे होगा ?'

कस्तूर भाई को तेरापंथ धर्मसंघ से बहुत आशाएं, अपेक्षाएं थीं। उनकी पूर्ति के लिए वे चाहते थे कि वर्तमान की शृंखला टूटे नहीं। जहां भी शृंखला टूटती है, काम अधूरा रह जाता है। मैं प्रारम्भ से ही इस सूत्र को सामने रखकर चल रहा था। कस्तूर भाई की बात से मुझे बल मिला। मैं आज भी कहता हूं कि हम अपने युग में कितना ही काम कर लें, जब तक क ख ग घ तैयार नहीं होंगे, भविष्य की आश्वस्ति नहीं मिल सकेगी।

अग्रिम वर्ष हमारे सामने है। हमने उसे 'योगक्षेम वर्ष' प्रज्ञा पर्व समारोह के रूप में मनाना स्वीकृत किया है। वह वर्ष आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व-निर्माण का वर्ष हो, यह हमारी आकांक्षा है। इस आकांक्षा की पूर्ति में संघ के सभी साधु-साध्वियों का हार्दिक सहयोग अपेक्षित है। सहयोग की प्रथम कड़ी के रूप में मैं साधु-साध्वियों से पूछना चाहता हूं कि क्या वे व्यक्तित्व-निर्माण के लिए तैयार हैं ? यदि उनकी तैयारी नहीं होगी तो हमारी कल्पना मात्र कल्पना बनकर रह जाएगी।

मैं इस सत्य को जानता हूं कि सब लोग बन नहीं सकते। पर कुछ व्यक्तियों को बनाया जा सकता है। इसके लिए भी सुनियोजित ढंग से प्रयास करना होगा।

साधु-साध्वियां हमारी तड़प को समझें, बेचैनी को समझें, हमारा सहयोग करें और इस कल्पना को सार्थक करने का प्रयास करें। श्रावक समाज को भी इसके लिए सचेष्ट रहना होगा। पर श्रावकों की सचेष्टता से भी अधिक अपेक्षित है साधु साध्वियों की जागरुकता। उनमें यदि जागरुकता नहीं है, आशावादिता नहीं है, तो हमारा काम आगे कैसे बढ़ेगा ?

रोटी बनाई जाती है। किससे ? आटे से। अगर आटा ही न हो तो रोटी बनेगी कैसे ? हमारा आटा ये साधु-साध्वियां हैं। इनकी मानसिकता कुछ बनने की नहीं होगी तो हम बनाएंगे किसे ? कैसे होगा ? क्या यह संभव है। बड़ी-बड़ी योजनाओं से क्या होने वाला है। इत्यादि विकल्पों के जाल में फंसने से कुछ होने या बनने की संभावना क्षीण होने लगती है। हमें कुछ होना है; हम होकर रहेंगे, इस संकल्प के साथ आज ही अपनी तैयारी शुरू कर दें। वर्ष का प्रारम्भ होगा, तब कुछ करेंगे, इस चिन्तन को छोड़कर इसी क्षण को शुभ मुहूर्त समझ कर नयी यात्रा के लिए प्रस्थान हो। आपकी यह जागरुकता और तत्परता उस पूरे वर्ष की पृष्ठभूमि बने। आपकी तैयारी इतनी सघन हो कि उस समय जो कुछ मिले सीधा आपके भीतर उतर जाये। ऐसा होने से ही हम अपने निर्धारित लक्ष्य तक पहुंच पाएंगे।

साधु-साध्वियां अपनी तैयारी शुरू करें, इससे पहले उन्हें इस बात पर भी ध्यान देना है कि उस वर्ष में उन्हें क्या बनना है ? कहां तक पहुंचना है ? अनुशासन, संगठन, व्यवस्था, एकसूत्रता, आचार निष्ठा आदि बुनियादी तत्त्वों का जहां तक प्रश्न है, तेरापंथ धर्मसंघ इनमें पहले से प्रतिष्ठित है। इन तत्त्वों को सुरक्षित रखते हुए आचार, विचार और व्यवहार के क्षेत्र में युगीन अपेक्षाओं को पूरा करना है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की दिशा में गंभीरता से कदम रखना है। अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए सामयिक परिवर्तनों को स्वीकारना है। संक्षेप में कहा जाए तो हर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का आधुनिक एवं वैज्ञानिक ढंग से निर्माण करना है। ऐसा होने से ही योगक्षेम वर्ष की आयोजना एक बेहतर भविष्य की संभावना को उजागर कर सकेगी।

८९. सूरज की सुबह से बात

आज का मनुष्य कम्प्यूटर और रोबोट युग की सुखद कल्पना में जी रहा है। बड़े शहरों में कम्प्यूटरों का बिछता हुआ जाल गांवों में रहने वाली युवापीढ़ी के मन में भी उनकी ललक जगा रहा है । भारत से बाहर के देशों में हजारों रोबोट काम कर रहे हैं । यह भी सुनने में आया है कि भविष्य में ऐसे सुपर रोबोट बनेंगे, जो विचार भी करेंगे और कविता भी बनाएंगे । रोबोट के निर्माण में रही छोटी सी भूल के दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं । फिर भी मनुष्य सोचता है कि आने वाली सदी में उसका प्रवेश यंत्रमानव के साथ ही हो । मनुष्य की यह यंत्र निर्भरता उसकी अपनी क्षमताओं को कितना कुंठित या विकसित करेगी, यह एक विचारणीय पहलू है ।

धर्म का मार्गदर्शन विकास की यात्रा में अवरोध उपस्थित करना नहीं है । पर धर्म यह भी नहीं चाहता कि मनुष्य अपनी आध्यात्मिक शक्तियों की उपेक्षा कर केवल साइंस और टेक्नोलोजी के पांवों पर खड़ा रहे । अध्यात्म और विज्ञान का समन्वित विकास इस युग की सबसे बड़ी अपेक्षा है । इस अपेक्षा को पूरा करने की दिशा में उठा हुआ एक छोटा-सा पग है योगक्षेम वर्ष । मौलिकता की सुरक्षा के साथ हम अपने धर्मसंघ को आधुनिकता से जोड़ते रहें, यह हमारी आकांक्षा है। इस आकांक्षा के प्रति हम आज ही सचेत हुए हैं, यह बात नहीं है । तेरापंथ धर्मसंघ का समूचा अतीत विकास की यात्रा का प्रतीक है । पिछले पांच दशकों में हम कितने आगे बढ़े हैं, सबके सामने है । सतत गतिशीलता के बावजूद हमारी मंजिल अभी दूर है । योगक्षेम वर्ष में हम अपनी मंजिल तक पहुंच जाएंगे, यह चिन्तन अतिशयोक्तिपूर्ण होगा । हमारा उद्देश्य है-मंजिल की दूरी को कम करना । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमारा मन आश्वस्त है । क्योंकि हम उद्देश्य से प्रतिबद्ध होकर चल रहे हैं ।

सूरज सुबह के साथ बात करे, यह घटना अनहोनी नहीं लगती । क्योंकि सूरज के क्षितिज पर उतरते ही सुबह उसकी अगवानी में खड़ी रहती है । तेरापंथ

धर्मसंघ में सृजन साधना का प्रयोग आश्चर्य जैसा नहीं लगता। क्योंकि तेरापंथ की बुनियाद ही रचनात्मक दृष्टिकोण है। आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन के एक-एक क्षण को सृजन के लिए समर्पित किया। सृजनशीलता की परम्परा हमें विरासत में मिली है। हम इसका उपयोग करते आए हैं। योगक्षेम वर्ष में पूरे धर्मसंघ की सृजन चेतना को जगाने के लिए पुरुषार्थ करना है।

योगक्षेम वर्ष पर पूरे समाज की दृष्टि टिकी हुई है। दृष्टि ही नहीं, उसमें उत्सुकता और उत्साह भरी प्रतीक्षा व्याप्त हो गई है। अनेक लोग कल्पना करते हैं कि उस वर्ष कुछ अनोखा घटित होगा।

मेरा चिन्तन यह है कि अनोखा जैसा कुछ भी नहीं होगा। जो होने का है, वही होगा। अपेक्षा एक ही है कि समाज के एक-एक व्यक्ति में कुछ होने की बात पैदा हो। कुछ होना है तो कुछ करना भी होगा। कुछ किए बिना होने वाली उपलब्धि में मेरा विश्वास नहीं है। मैं चाहता हूं कि पूरा समाज पुरुषार्थ के वाहन पर सवार होकर यात्रा करे। अपने जीवन के सीधे-सपाट रास्ते को वह एक मोड़ दे। जीवन का जो प्रवाह मंद गति से चल रहा है, उसे लिफ्ट दे। आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है।

लगभग दो वर्ष पूर्व योगक्षेम वर्ष एक सपना था। स्वप्न देखना मनुष्य का स्वभाव है। कुछ स्वप्न आधी नींद में देखे जाते हैं और कुछ सपने जागृत अवस्था में देखे जाते हैं। आधी नींद में देखे जाने वाले सपने भी सही होते हैं, यदि उनके देखने में जागृत प्रज्ञा की हिस्सेदारी हो। संवृत अनगार का हर सपना सत्य होता है, इस आगमवाणी का रहस्य प्रज्ञा के जागरण में निहित है। पूर्वाभ्यास की सभी घटनाओं का सम्बन्ध इसी के साथ है। जागृत अवस्था में देखे गए सपनों की सत्यता का सम्बन्ध पुरुषार्थ से है। जिन स्वप्नदर्शी लोगों का पुरुषार्थ में विश्वास होता है, वे अपने स्वप्न को सत्य में बदल लेते हैं। तेरापंथ धर्मसंघ में पुरुषार्थ के संस्कार जीवित हैं। उन संस्कारों को विकसित करना भी योगक्षेम वर्ष का एक लक्ष्य है। हमें अपने पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान-ज्योति की नाव का निर्माण करना है। उस नाव के द्वारा युग के प्रवाह को तैरकर चतुर्विध धर्मसंघ का एक-एक सदस्य अपनी प्रज्ञा को जगाने का सार्थक प्रयास करे और प्रज्ञापर्व में प्राप्त उजालों से अपनी सोच को उजाले, संकल्पशक्ति को बढ़ाए, निर्णय-क्षमता को संजोए और करणीय के प्रति समर्पित हो जाए।

पण्णा समक्खिए–प्रज्ञा से देखो, योगक्षेम वर्ष के प्रतीक का यह हार्द है। केवल ज्ञान की आराधना करने से प्रज्ञा का जागरण संभव नहीं लगता। इस दृष्टि से ज्ञान के साथ मार्गदर्शन और चारित्र की आराधना को भी नया आयाम देना

होगा। दर्शन का सम्बन्ध व्यक्ति की आस्था के साथ है। तर्क के तीखे वाण आस्था की आत्मा को बींध न डालें, इस दृष्टि से प्रज्ञा को सुरक्षाकवच बनाना होगा। आस्था और ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम है आचरण। आचरण की निर्मलता धर्मसंघ की दीर्घजीविता का आधार है। हम अपने धर्मसंघ को दीर्घजीवी रखना चाहते हैं, तेजस्वी बनाना चाहते हैं और मौलिकता की सुरक्षा के साथ युग की आकांक्षा के अनुरूप ढालना चाहते हैं। इसके लिए हमें आशा का एक-एक कण बटोर कर चलना है और पूरे वर्ष के एक-एक क्षण का उपयोग करना है।

९०. निर्माण-यात्रा की पृष्ठभूमि

निर्माण के मनभावन नारों की अनुगूंज बहुत सुखद लगती है। पर केवल नारों से काम नहीं होता। काम करने के लिए लक्ष्यबद्ध चिन्तन, योजना और उसे पूर्णता तक पहुंचाने का उत्साह अपेक्षित है। पानी गर्म किया जाता है। उसकी ऊष्मा सौ डिग्री तक पहुंचती है, तब भाप बनती है। इस स्थिति तक पहुंचने से पहले ही आग बुझ जाए तो पानी भाप में नहीं बदल सकता। जो व्यक्ति लक्ष्य तक पहुंचने से पहले ही अपने उत्साह को मन्द कर दे, वह सफल नहीं हो सकता लक्ष्य का आह्वान हर व्यक्ति को सुनाई दे सकता है। पर उसे सुन कर भी अनसुना करने वाला लक्ष्य तक कैसे पहुंच सकता है ?

निर्माण की यात्रा में प्रस्थित घटकों को कई रूपों में विभक्त किया जा सकता है–व्यक्ति, परिवार, समाज, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व। समग्र विश्व की मानव जाति का निर्माण बड़ी कल्पना है। व्यक्तिगत निर्माण का क्षेत्र सीमित है। अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान के तत्त्व व्यक्ति से लेकर समग्र मानव जाति के निर्माण की क्षमता रखते हैं। पर व्यापक दृष्टिकोण से किसी भी कार्यक्षेत्र को सघन नहीं बनाया जा सकता। मानव समाज का लक्ष्य सामने होने पर भी एक बार मैं पीछे लौटना चाहता हूं। दृढ़ संकल्पी व्यक्ति पीछे लौटने का रास्ता पूरी तरह से बन्द करके चलता है। पर मेरा यह लौटना भी एक विशेष उद्देश्य के साथ है। इसलिए सुचिन्तित योजना के साथ निर्माण की नयी यात्रा प्रारम्भ करने का निर्णय लिया गया।

तेरापंथ धर्मसंघ एक व्यवस्थित धर्मसंघ है। विगत दो शताब्दियों में यह अपनी गति से आगे बढ़ता रहा है। तीसरी सदी में प्रविष्ट होने के बाद भी इसमें किसी प्रकार का गतिरोध नहीं आया। पर इसकी गतिविधियों में युग की कुछ ऐसी बातें जुड़ गईं, जिनका मूल्यांकन आवश्यक है। अपने संघ की जमीन को पहचाने बिना उसमें नये बीज उगाने की बात कठिनाई उपस्थित कर सकती है। संघ की नीति

परिस्थिति और उस नीति को आधार मानकर जीने वाले समाज को समझे बिना उसे नयी दिशा कैसे दी जा सकती है ?

योगक्षेम वर्ष निमित्त बनकर सामने आया अथवा इसे निमित्त बनाया गया। लक्ष्य एक ही है कि समाज की सुविधाभोगी मनः स्थिति और संस्कारगत जड़ता को तोड़कर एक जीवंत जीवन-शैली का विकास किया जाए। इस जीवन-शैली का विकास कैसे होगा ? केवल उपदेश के अश्व की सवारी करके इस लक्ष्य को नहीं पाया जा सकता। प्रशिक्षण और प्रयोग—ये दो घटक होंगे उस जीवन-शैली को विकसित करने के लिए। आशाओं और आकांक्षाओं का नया आकाश रचकर हम उसमें प्रशिक्षण और प्रयोग के चांद-सूरज उगा दें, आंखों के सामने छाया हुआ सारा अन्धकार छंट जाएगा।

प्रश्न हो सकता है– प्रशिक्षण किसको दिया जाएगा ? प्रयोग किस पर किया जाएगा ?

संक्षेप में कहा जाए तो चतुर्विध धर्मसंघ को इसके लिए पात्र बनना होगा। योगक्षेम वर्ष में मैं इसी को विशेष कार्य क्षेत्र बनाना चाहता हूं। विस्तार से बताया जाए तो प्रशिक्षण पाने वालों में प्रथम पंक्ति होगी साधु-साध्वियों की। साधु-साध्वियों का निर्माण किए बिना तेरापंथ समाज के निर्माण की कल्पना अधूरी रहेगी। क्योंकि साधु-साध्वियां ही तो अपने व्याख्यानों, गीतों और कथाओं में आध्यात्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को पिरोकर पीढ़ी दर पीढ़ी आगे सरकाएंगे, परम्परा को जीवित रखेंगे। वे स्वयं प्रशिक्षित नहीं होंगे तो समाज को क्या दे सकेंगे ?

प्रशिक्षणार्थियों की दूसरी पंक्ति में पढ़े-लिखे पर अपने आपको विद्यार्थी मानने वाले युवक-युवतियों को खड़ा होना होगा। कॉलेज का अध्ययन पूरा करने पर भी जिनको जीने की कला का प्रशिक्षण अभी तक नहीं मिला, धर्म और दर्शन को समझने का अवसर नहीं मिला, अध्यात्म और विज्ञान का समन्वित रूप जानने का मौका नहीं मिला, जो जिज्ञासु और ग्रहणशील हैं, उन सबके लिए एक स्वर्णिम अवसर है योगक्षेम वर्ष। पूरे वर्ष भर उन्हें विद्वान साधु-साध्वियों एवं अन्य विद्वानों द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार प्रशिक्षण मिलता रहेगा।

तीसरी पंक्ति में तत्त्वज्ञान में रुचि रखने वाले श्रावक-श्राविकाएं उपस्थित हो सकेंगी इसके अतिरिक्त साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक उपासना करने वालों के लिए भी प्रशिक्षण की व्यवस्था रहेगी।

एक पंक्ति उन व्यक्तियों के लिए है, जिनको वर्ष भर में दो बार पाक्षिक प्रशिक्षण प्राप्त हो सकेगा। इस पंक्ति में सभा-संस्थाओं में काम करने वाले कार्यकर्ताओं, ज्ञानशालाओं के प्रशिक्षकों, प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षकों आदि को विशेष ट्रेनिंग देने का

चिन्तन हुआ है ।

योगक्षेम वर्ष को समाज के समग्र निर्माण का वर्ष मानकर काम करना है। काम में किसी प्रकार का बिखराव न हो, इसी दृष्टि से लगभग पूरे वर्ष तक एक स्थान पर रहने का निर्णय लिया गया है। उस वर्ष चलने वाले भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम तैयार कर लिये गए हैं। जैन विश्व भारती में प्रवास के दो महीनों का समय विशेष रूप से पाठ्यक्रमों के निर्धारण, प्रशिक्षकों के चयन, कालांशों के स्थिरीकरण में लगा।

इसी अवधि में उस वर्ष होने वाले प्रातःकालीन प्रवचनों के विषय भी निर्णीत कर लिये गए। सन् १९८९ के फरवरी माह के तीसरे सप्ताहान्त तक योगक्षेम वर्ष के प्रारम्भ होने की पूरी-पूरी संभावना है। मुश्किल से छह महीने का समय शेष रहा है। इस अवधि में योगक्षेम वर्ष की पूरी पृष्ठभूमि अच्छी तरह से तैयार हो जानी चाहिए। छह महीनों तक भींत की घुटाई करने के बाद चित्रकार ने बिना ही चित्रांकन किए बाजी जीत ली। मैं भी यही चाहता हूं। योगक्षेम वर्ष का प्रारम्भ होने से पहले-पहले समाज की जमीन को इतना उर्वर बना दिया जाए, ताकि वहां वांछित फसल लहलहा उठे। इसके लिए मैं दो बिन्दुओं की ओर समाज का ध्यान खींचना चाहता हूं–

- समाज और परिवार में कहीं भी मनभेद वैमनस्य की स्थिति न रहे।
- समाज की धार्मिक संस्थाओं में लोकतांत्रिक चुनाव प्रक्रिया में भी मानव पद्धति का उपयोग किया जाए।

मतभेद वैचारिक स्वतंत्रता का प्रतीक है। पर मनभेद आपसी सम्बन्धों में गहरी दरार है। मनभेद की स्थिति दो व्यक्तियों में हो, पूरे परिवार में हो या समाज में, उससे निषेधात्मक चिन्तन प्रखर होता है और टूटन की विवशता भोगनी पड़ती है। इसलिए मनभेद को समाप्त कर सौहार्दपूर्ण वातावरण का निर्माण आवश्यक है।

राजनीति में चुनाव के समय होने वाली धांधली से कौन परिचित नहीं है? वरिष्ठ राजनेता स्वयं इस प्रक्रिया का विकल्प खोजने में लगे हैं। धार्मिक संस्थाओं में भी राजनीति की घुसपैठ बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में चुनावी दंगल किस समय कौन-सी करवट ले, कहना कठिन है। पानी आने से पहले ही पाल बांधने की सूझ-बूझ प्रशंसनीय होती है।

धार्मिक संस्थाओं की गरिमा को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय लिया गया है कि इस वर्ष तेरापंथी सभा, तेरापंथ युवक परिषद, तेरापंथ महिला मण्डल आदि सभी संस्थाओं के चुनाव सर्वसम्मति से हों, मानव पद्धति से हों। इससे संस्थाओं की गरिमा अक्षुण्ण रहेगी, कार्यकर्ताओं में तालमेल बढ़ेगा और समय, शक्ति एवं अर्थ का दुरुपयोग नहीं होगा।

उक्त आशय की जानकारी मिलते ही समाज में नया वातावरण बनने लगा है। पारस्परिक वैमनस्य को समाप्त करने की दिशा में पहल हो चुकी है। इसी प्रकार कई क्षेत्रों में सर्वसम्पति से हुए चुनावों के संवाद भी पहुंच रहे हैं। मैं आशा और अपेक्षा करता हूं कि शेष क्षेत्र भी इन दो बिन्दुओं पर पूरा ध्यान देंगे। इस बार मैं पूरे समाज को विशेष रूप से यही दिशा-दर्शन देना चाहता हूं।

९१. अमृत संसद

संसद का शीतकालीन सत्र २ नवंबर १९८८ से शुरू हुआ। लोकसभा और राज्यसभा-दोनों के सभी विपक्षी सदस्यों ने सदन से बहिर्गमन किया। लोकसभा और राज्यसभा के अधिवेशनों से देश का भविष्य जुड़ा रहता है। वहां शोर-शराबा, गाली-गलौज, कुर्सी चलना, चप्पलें चलना आदि ऐसी हरकतें हैं, जो देश की सांस्कृतिक गरिमा पर प्रश्नचिह्न लगा रही हैं। सत्तारूढ़ पार्टी विपक्ष को देश का दुश्मन बताए अथवा विपक्षी पार्टियां सत्तारूढ़ दल पर मनमानी करने या सत्ता से चिपके रहने का आरोप लगाएं, इससे देश का कौन-सा हित सधेगा ? आरोप-प्रत्यारोप की इस संस्कृति से निकला हुआ चिन्तन देश का क्या, किसी का भी हित कर सकेगा ? यह बात सोची ही नहीं जा सकती। काश ! देश के जिम्मेवार सांसदों के सामने संसद का कोई मॉडल होता और वे अपने आचरण को संयत कर पाते।

तेरापंथ समाज पूरे देश में फैला हुआ है। भाषा, पहनावा, रीतिरिवाज आदि के कारण उसमें विविधता है। विविधता में एकता भारतीय संस्कृति की विशेष पहचान है। तेरापंथ समाज में भी धार्मिक दृष्टि से पूरा एकत्व है। धर्म के क्षेत्र में एक नेतृत्व, एक अनुशासन और एक परंपरा अपने आप में उल्लेखनीय है। समाज में जीने वाले व्यक्ति के लिए धर्म आवश्यक है पर वही सब कुछ नहीं है। और भी अनेक बातें हैं, जिनमें एकरूपता का होना जरूरी है। एकरूपता का पहला लाभ है-सामाजिक संगठन की दृढ़ता। संगठन मजबूत होगा तो उसमें अवांछित तत्त्वों का प्रवेश नहीं हो सकेगा। समाज की जड़ों को कुतरने वाली अर्थहीन परम्पराओं, कुरूढ़ियों अपव्यय आदि को नियंत्रित करने के लिए भी संगठन में एकरूपता की अपेक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों को स्वस्थ रूप देने में भी संगठन का अपना उपयोग है। सामाजिक दृष्टि से पूरे जैन समाज का एक मंच हो तो और अधिक लाभ की बात है पर सम्प्रदाय-भेद के कारण इस काम में काफी कठिनाई है।

तेरापंथ धर्मसंघ में अपनी परंपराएं हैं, अपना संविधान है, अपना चिन्तन है और अपना दर्शन है। उस परम्परा और दर्शन के उत्स हैं आचार्य भिक्षु। वे कोई असाधारण उपकरण साथ लेकर नहीं जनमे थे। फिर भी उन्होंने असाधारण रास्ता खोजा और वे उस पर असाधारण रूप से चले। हम आज उसी रास्ते पर चल रहे हैं। हमारा दायित्व है कि उस असाधारणता को छोड़ें नहीं। धार्मिक दृष्टि से प्राप्त इस असाधारणता का उपयोग अन्य दृष्टियों से भी हो, इसके लिए पूरे समाज को एक मंच देने की आवश्यकता हुई। कानोड़ श्रावक सम्मेलन (सन् १९८६) निमित्त बना और समाज का एक मंच बन गया। तेरापंथ अमृत संसद के नाम से उस मंच को समाज की स्वीकृति मिल गई। नियोजन मण्डल द्वारा संचालित अमृत संसद के लाडनूं और दिल्ली के अधिवेशनों की भव्यता, शालीनता और सुव्यवस्था को लोग अब तक भी नहीं भूल पाए हैं।

तेरापंथ समाज में अनेक संस्थाएं हैं। सब संस्थाओं का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। उनके अलग-अलग कार्यक्षेत्र हैं और अलग कार्यकर्त्ता हैं। उन संस्थाओं में समाज के अलग-अलग वर्गों का प्रतिनिधित्व है। वे सब अपनी सीमाओं में अपने लक्ष्य के अनुसार काम करती हैं और आवश्यकता होने पर एक दूसरे का सहयोग भी लेती हैं। पर संस्थाओं के प्रतिनिधि एक साथ बैठकर विचार-मंथन करें, ऐसा कोई प्रावधान इन संस्थाओं का नहीं है। तेरापंथ अमृत संसद एक ऐसा मंच है, जहां समाज की प्रत्येक संस्था का पूरा प्रतिनिधित्व होता है। समाज के विशेष कार्यक्षम और चिन्तनक्षम लोगों को भी आमंत्रित किया जाता है। इसके सदस्य सांसद कहलाते हैं। वे अपने-अपने क्षेत्रों के मान्य प्रतिनिधि होते हैं। समाज में अपेक्षित, अनपेक्षित क्या हो रहा है, क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए, इन बिन्दुओं पर मुक्त चर्चा होती है। उस चर्चा से, विचार-मंथन से जो नवनीत निकलता है, उसका वितरण पूरे समाज में होता है।

कुछ वर्ष पूर्व मैंने लोकसभा के एक विशेष कक्ष में सांसदों को संबोधित करते हुए कहा था—अनेक क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्तियों के लिए न्यूनतम योग्यता का निर्धारण है और प्रशिक्षण की व्यवस्था है। किन्तु एम० एल० ए० और एम० पी० बनने के लिए किसी योग्यता और प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं है। देश और राज्यों की बागडोर संभालने वाले लोग इन्हीं लोगों में से होते हैं। क्या सत्ता के सिंहासन पर आरूढ़ होने वाले व्यक्तियों के लिए गुणात्मक क्षमता की अपरिहार्यता नहीं है ? देश में चल रही इस अस्वस्थ परम्परा का अनुकरण अमृत-संसद में न हो, इस बात का ध्यान पूरे समाज को रखना है। अमृत-संसद के सांसदों की योग्यता और क्षमता का निर्धारण संसद करे या समाज, उसमें यह जागरुकता अवश्य रखी

जाए कि सांसद शिक्षित हों, विश्वस्त हों, चरित्रनिष्ठ हों और संसद में प्रवाहित विचारों को आगे तक बढ़ाने की क्षमता रखने वाले हों। ऐसे व्यक्तियों का समूह मिल-बैठकर जो चिन्तन करेगा, निष्कर्ष निकालेगा, उससे समाज को निश्चित रूप से नयी दिशा मिल सकेगी।

१९-२० नवम्बर १९८८ को श्रीडूंगरगढ़ में तेरापंथ अमृत संसद का तीसरा अधिवेशन हो रहा है। दो दिनों के अधिवेशन में एक कल्पना स्पष्ट रूप से उभरे कि समाज का स्वरूप कैसा होना चाहिए? संभावित स्वरूप का एक मॉडल तैयार कर क्रियान्विति के लिए उस दिशा में प्रस्थान कर देना चाहिए। दृढ़ संकल्प, दीर्घकाल, निरंतरता और एकदिशागामी पुरुषार्थ के योग से असंभव को भी संभव बनाया जा सकता है, यह सूत्र आगे बढ़ने में आलम्बन बन सकता है।

अमृत संसद का विश्वास बात में नहीं, काम में होना चाहिए। समाज की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को समझना संसद का काम है तो समाज का दायित्व है कि वह संसद को सक्षम और वर्चस्वसंपन्न बनाए। संसद का चिन्तन इतना सार्थक हो कि उससे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को नयी दिशा मिल सके। संसद का कार्यक्रम इतना उपयोगी हो कि उससे समाज के हर व्यक्ति को लाभ मिले। संसद का वर्चस्व इतना उजागर हो कि कोई भी व्यक्ति उसके चिन्तन और निर्णय की अवहेलना नहीं कर पाए। समाज के लिए मार्गदर्शन, नीतिनिर्धारण और उस सन्दर्भ में सारणा-वारणा का दायित्व संसद को निभाना है।

१२.जीवन की दिशा में बदलाव

मनुष्य का जीवन आनन्द मंगल और प्रकाश से भरा-भरा रहे, यह उसके मनुष्यत्व की सार्थकता है । वह मनुष्य ही नहीं, देश भी धन्य हो जाता है, जहां आदमी सार्थक जीवन का बोध पाता है, उस जीवन के लिए नयी दिशा खोलता है और उस दिशा में अग्रसर होकर मंजिल के निकट पहुंच जाता है । ऐसा सार्थक जीवन जीने की चाह हर चिन्तनशील व्यक्ति में हो सकती है, होनी चाहिए । चाह जब प्रबल होती है तो उसे राह भी मिल जाती है । पर इसके लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—लक्ष्य की स्पष्टता, चिन्तन का अनाग्रह और समय पर जीवन की दिशा को मोड़ने का साहस । ऐसे अनेक व्यक्ति इस संसार में हैं, जिनका लक्ष्य स्पष्ट होता है, पर विचारों की पकड़ उन्हें एक घेरे में बन्दी बना लेती है । इस कारण वे आगे नहीं बढ़ सकते । ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है, जो अपने निश्चित लक्ष्य के प्रति जागरूक रहते हैं, वैचारिक आग्रह उनकी गति में बाधक नहीं बनता पर इस कोटि के व्यक्ति बहुत कम हैं, जो उचित समय पर जीवन की दिशा बदलकर अपने भीतर तक नयी क्रांति को जन्म दे सकें ।

अमृत महोत्सव वर्ष में समाज के नाम दिए गए सन्देश में मैंने एक सूत्र दिया, समर्पण का । समर्पण का अर्थ है स्वार्थ में केन्द्रित चेतना का परार्थ एवं परमार्थ में उपयोग । समर्पण का अर्थ है जीवन की दिशा का बदलाव । समर्पण का अर्थ है सार्थक जीवन जीने की शुरुआत । वैसे हर व्यक्ति के जीने का कुछ-न-कुछ अर्थ होता है । पर उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने के लिए गंभीर चिन्तन की अपेक्षा है । इससे जीवन शक्ति बनी रहती है, सक्रियता बढ़ती है और व्यक्ति को अपने अस्तित्व की उपयोगिता का अनुभव होने लगता है ।

राजकीय सेवाओं से जुड़े व्यक्ति एक अवधि के बाद निश्चित रूप से सेवा निवृत्त हो जाते हैं । यह क्रम काफी सोच-विचार के बाद निर्धारित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है । किन्तु व्यक्तिगत व्यवसाय से सम्बन्धित व्यक्ति अन्तिम सांस तक उससे संबद्ध रहते हैं । यह स्थिति कुछ चिन्तनीय है । इस चिन्तन के दो बिन्दु

आध्यात्मिक साधना और अगली पीढ़ी की आत्मनिर्भरता।

जो व्यक्ति केवल व्यवसाय को आधार मानकर चलते हैं, उनके सामने ध्यात्मिक जीवन का कोई उद्देश्य नहीं रहता। वे घण्टा-आधा घण्टा का समय अपने लिए नहीं निकाल पाते। ऐसी स्थिति में आध्यात्मिक जीवन के आनन्द उन्हें अनुभव ही नहीं हो सकता। जिन व्यक्तियों के सामने पारिवारिक दायित्व न करने का दूसरा विकल्प न हो, उनकी बात एक बार छोड़ भी दी जाए पर लोग पूरी तरह से निवृत्त हो सकते हैं, वे भी उलझे हुए रहें, यह बात समझ नहीं आती।

पिता का साया बच्चों के उज्ज्वल भविष्य का आधार होता है। पर अपने-ने क्षेत्र में निष्णात होने के बाद वे अपने स्वतंत्र चिन्तन से आगे बढ़ना चाहते ऐसी स्थिति में निरन्तर नियंत्रण में रहकर काम करने की बात उनमें हीन भावना निराशा पैदा कर सकती है। जब पुत्र अपने पिता को धार्मिक एवं सामाजिक में अपना समय लगाने का अवकाश देते हों तो पिता को ऐसा अवसर कभी ं खोना चाहिए।

उक्त बातों को ध्यान में रखकर यह चिन्तन किया गया है कि साठ वर्ष के व्यक्ति को अपने जीवन की दिशा निश्चित रूप में मोड़ देनी चाहिए। अपने -से परिवार को विस्तार देकर पूरे समाज को अपना परिवार समझना चाहिए। ीरिक और मानसिक दृष्टि से अक्षम होने के बाद किसी कार्य से विरत होना वन की सबसे बड़ी पराजय है। जीने का आनन्द है मोड़ में, बदलाव में। हर क्ति इस तथ्य पर गहराई से चिन्तन करे और अपनी कार्यजा शक्ति के व्यापक योग से होने वाले व्यक्तित्व के रूपान्तरण का अनुभव करे।

९३. स्वास्थ्य का पर्व

पर्युषण पर्व जैन धर्म का महान् पर्व है। महान् पर्व का आगमन अतिरिक्त उल्लास और प्रसन्नता का आगमन बन जाता है। पर्व आए और मन में उल्लास न समाए, यह ऐसी ही बात है कि सूरज तो उगा, पर रोशनी नहीं मिली। हो सकता है कि सूरज कभी अपनी रोशनी को गिरवी रख दे, पर आध्यात्मिक पर्व के साथ उल्लास का गहरा अनुबंध है। पर्युषण पर्व तो उल्लास के विना मनाया ही नहीं जा सकता। इस पर्व की आराधना करने से मन की ग्रन्थियों का विमोचन होता है। ग्रन्थिमोचन या शल्य का उद्धरण होने से जिस शान्ति और आनन्द का अनुभव होता है, वह व्यक्ति के आस-पास उल्लास ही उल्लास बिखेर देता है।

पर्युषण पर्व लोकोत्तर पर्व है। इस पर्व का सम्बन्ध आत्मा की निर्मलता के साथ है। यह मन की खिड़कियों, रोशनदानों और दरवाजों को खोलने का पर्व है। जो व्यक्ति इन्हें खोलने में सफल हो जाता है, उसे ऐसी रोशनी मिलती है, जो उसके जीवन को जगमगा देती है। यह रोशनी भीतर की रोशनी है। यह व्यक्ति को बाहर से भीतर बुलाती है, उसे अन्तर्मुखी बनाती है और अपनी सही पहचान कराती है।

पर्युषण कषायशमन का पर्व है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति को लेकर मन में उत्ताप उत्पन्न हो गया हो, उसको शान्त करने का पर्व है। उत्ताप की स्थिति में इस पर्व की आराधना नहीं हो सकती। उत्ताप बहिर्मुखता का प्रतीक है। अन्तर्मुखी व्यक्ति उत्ताप का प्रसंग उपस्थित होने पर भी उससे बचकर रहता है। दूध का उफान पानी के छींटों से शान्त हो जाता है। मनुष्य के मन का उफान आत्मालोचन से शान्त हो सकता है। आत्मालोचन वह कर सकता है, जो ऋजु होता है। ऋजुता के अभाव में आत्मालोचन की बात वाग्विडम्बना मात्र बनकर रह जाती है।

पर्युषण पर्व मैत्री का पर्व है। मित्रता के रथ में स्वार्थ के घोड़े जोतने वाला व्यक्ति इस पर्व की सही आराधना नहीं कर सकता। मैत्री का रिश्ता निश्छल मनों

का रिश्ता होता है। यह रिश्ता अन्य सब रिश्तों से ऊपर होता है। यह रिश्ता प्राणीमात्र के साथ होता है। समान वय, समान विचार, समान सामाजिक स्तर और समान व्यवहार का आकांक्षी इस रिश्ते को खण्डों में बांटता है। जबकि मैत्री का रिश्ता अखण्ड होता है। 'भित्ती में सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणइ–संसार के समस्त प्राणियों के साथ मैत्री साधने की निष्पत्ति है वैर भाव की समाप्ति। मित्रता के इस महान आदर्श तक पहुंचने के लिए मैत्री की अनुप्रेक्षा करनी आवश्यक है। एक वर्ष तक निरन्तर मैत्री भावना का अभ्यास और उसके बाद 'संवत्सरी के पवित्र दिन पर प्राणी मात्र के साथ मैत्री का संकल्प अपने आप में एक विशिष्ट अनुष्ठान है।

पर्युषण पर्व नहीं, महापर्व है। इसलिए यह आठ दिनों तक मनाया जाता है। इसे मनाने की प्रक्रिया है–अहंकार और ममकार को कम करना, ध्यान-स्वाध्याय का प्रयोग करना, जप एवं अनुप्रेक्षा का अभ्यास करना, खाद्य संयम और वाणी संयम को साधना। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का लक्ष्य रखना। शरीर से हटकर आत्मा की दिशा में प्रस्थान करना। पूर्ण पौषधोपवास से आत्मा को भावित करना, आत्मालोचन के दर्पण में अपने आपको अच्छी प्रकार देखना तथा आत्मा में जहां कहीं कुछ अवांछित हो, उसकी शल्य चिकित्सा कर संपूर्ण स्वास्थ्य का अनुभव करना। इस अर्थ में पर्युषण पर्व स्वास्थ्य का पर्व है। हम स्वयं स्वस्थ बनें, आत्मस्थ बनें और दूसरों को भी स्वस्थ, आत्मस्थ बनने की प्रेरणा दें, यह अपेक्षा है।

१४. आलोक का त्योहार

हर पर्व की अपनी परम्परा होती है। वह सामाजिक हो सकती है, धार्मिक हो सकती है और राष्ट्रीय भी हो सकती है। कुछ पर्वों का इतिहास मिलता है। कुछ पर्व या त्योहार मिथक के रूप में प्रचलित रहते हैं। किसी भी पर्व का प्रारंभ विशेष उद्देश्य से होता होगा, पर आगे चलकर उसमें रूढ़ता का प्रवेश हो जाता है। जो लोग केवल लीक पर चलने के अभ्यासी होते हैं, वे कभी सोच भी नहीं सकते कि उनके द्वारा मान्य पर्व की परम्परा कहां से शुरू हुई और कहां तक पहुंच गई। आज के वैज्ञानिक युग में भी कई ऐसे पर्व त्योहार आदि मनाए जाते हैं, जिनकी अर्थवत्ता पर कोई बहस भी संभव नहीं है।

दीपावली प्रकाश का पर्व है। प्रकाश भीतर का भी होता है और बाहर का भी। इस दिन भीतरी प्रकाश की खोज कोई करे या नहीं बाहरी प्रकाश कई रंग-रूपों में उजागर होता है। प्रकाश उल्लास का प्रतीक है। इस दृष्टि से दीपावली को हंसी-खुशी का त्योहार माना जाता है। इस त्योहार के दूसरे दिन पारस्परिक मेल-जोल का क्रम भी पूरे उत्साह के साथ चलता है। मित्रों और स्वजनों से मिलन के समय सनातनी लोग 'रामासामा' बोलते हैं और जैन लोग जयजिनेन्द्र कहते हैं। वे ऐसा क्यों कहते हैं। इन शब्दों का अर्थ क्या है? शायद बहुत लोग नहीं जानते।

दीपावली को परिमार्जन का पर्व भी माना जाता है। इस अवसर पर घर, दुकान, ऑफिस आदि से वर्ष भर का कूड़ा-करकट बाहर निकाला जाता है, बर्तनों को चमकाया जाता है, घरों को अनेक प्रकार की अल्पनाओं से सजाया जाता है। और भी बहुत कुछ किया जाता है। किन्तु इसके साथ जीवन परिमार्जन की प्रक्रिया पर ध्यान देने की कोई व्यापक परम्परा नहीं है। व्यक्तिगत रूप से कुछ व्यक्ति उपवास, जप, ध्यान आदि उपक्रम चलाते हैं। किन्तु जैसे दीया जलाने की, सफाई करने की परम्परा है, वैसे कोई निश्चित अनुष्ठान नहीं चलता है। प्रतीत यह होता है कि प्रकाश का स्थान आतिशबाजी ने लिया है, परिमार्जन का स्थान झाड़-पोंछ ने ले लिया है और मेल-जोल में उपचार बढ़ गए हैं।

दीपावली की रात को लक्ष्मी की पूजा की जाती है। पूजा का उद्देश्य होता है, धन-वैभव की प्राप्ति। इस प्रकार पूजा करने से कोई व्यक्ति वैभवशाली बना है यह तो पता नहीं है। पर उस दिन अनेक लोग अपने घर का दरवाजा इसी आशा से खुला रखते हैं कि लक्ष्मी आएं तो द्वार बन्द देखकर लौट न जाएं। जो लोग दीपावली के दिन नये खाते शुरू करते हैं, वे उसके प्रथम पृष्ठ पर लिखते हैं–हमें गौतम स्वामी जैसी लब्धि और धन्ना शालिभद्र जैसी रिद्धि मिले। इस प्रकार की अवधारणाओं के साथ लक्ष्मी, गणेश या किसी अन्य देव की पूजा रूढ़ परम्परा के निर्वाह से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखती।

दीपावली के सम्बन्धों में प्रचलित अनेक अवधारणाओं पर विचार किया जाए तो ऐसा लगता है कि कई अवधारणाओं के साथ विशिष्ट महापुरुष भी जुड़े हुए हैं। जैन-परम्परा के अनुसार चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के साथ इसका सम्बन्ध है। कार्तिकी अमावस्या भगवान महावीर का परिनिर्वाण दिन है। अमावस्या की रात का अंधेरा वैसे ही सघन होता है, उस पर तीर्थंकर का परिनिर्वाण। भीतर और बाहर सब ओर अंधकार ही अंधकार छा गया। ऐसे समय में स्वाभाविक रूप से ऐसा प्रकाश होता है, जिससे पूरा संसार आलोकित हो जाता है। ऐसे प्रकाश की बात केवल कल्पना या परम्परा नहीं है। इसके पीछे आगम का आधार है। स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में बताया गया है कि चार ऐसे अवसर आते हैं, जिस समय संसार उद्योतित हो उठता है–

- अर्हतों के जन्म के समय।
- अर्हतों के प्रव्रजित होने के समय।
- अर्हतों के ज्ञानोत्पाद के समय।
- अर्हतों के परिनिर्वाण के समय।

कार्तिकी अमावस्या को महावीर का परिनिर्वाण हुआ। उस समय देवों ने भी आकाश में रत्न जड़ दिए। अंधकार समाप्त हो गया। दिव्य प्रकाश और दिव्य आभा से आकाश जगमगा उठा। मनुष्यों ने देवों का अनुकरण किया। उन्होंने रत्नों के स्थान पर दीये जलाए। जगमगाते दीपों की लम्बी पंक्तियां ढाई हजार वर्ष के बाद भी दीपावली शब्द को सार्थकता दे रही हैं। यद्यपि आज शहरों में माटी के मोहक दीयों का स्थान विद्युत-बल्बों ने ले लिया है। दीपक से दीपक जलाने की मीठी कल्पना, घर के मुंडेरों पर उन्हें सजाने की होड़ और घर के साथ-साथ मन को प्रकाशित करने का उत्साह काफी मन्द हो गया है। फिर भी दीपावली के साथ ऐसा अनुबन्ध जुड़ गया है कि जैसे-तैसे इस पर्व को मनाना ही होता है।

दीपावली का पर्व सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। सात्विक आनंद-प्रमोद

का साधन है । इस सीमा तक पर्व को मनाने की सार्थकता समझ में आती है । परन्तु इसके उपलक्ष्य में जो अपव्यय किया जाता है, उसका क्या अर्थ है ? एक ओर देश में बढ़ती हुई गरीबी ! करोड़ों लोगों को भरपेट रोटी नसीब नहीं होती। दूसरी ओर अमीरी का ऐसा प्रदर्शन ! यह जीवन की बहुत बड़ी विसंगति है । आतिशबाजी अपने आप में अपव्यय है । फिर उससे होने वाली आगजनी में जानमाल की कितनी क्षति होती है । ऐसा करने वाले लोग दीपावली की सांस्कृतिक गरिमा को नीचे गिराने का काम कर रहे हैं । इस अवसर पर जुआ खेलने की परम्परा भी है, जो किसी भी दृष्टि से वांछनीय नहीं है ।

यदि मनुष्य क्षणिक खुशी के लिए आतिशबाजी, द्यूतक्रीड़ा जैसी प्रवृत्तियों को महत्त्व देता है तो वह उसकी भूल है । इससे भी बड़ी भूल यह है कि इसके विरोध में किसी दिशा से कोई स्वर नहीं उठ रहा । समाचार पत्र, रेडियो, टी० वी० सब मौन हैं । धर्मगुरु और समाजसुधारकों के स्वर भी थमे हुए हैं । आज कोई आवाज सुनाई देती है तो राजनीति के रंग की । शेष सब जगह मौन व्याप्त है, सन्नाटा छाया हुआ है । आज अपेक्षा है इस सन्नाटे को तोड़ने की, मौन को मुखर करने की। समाज और राष्ट्र के हितों में बाधा पहुंचाने वाली ऐसी परम्पराओं का अर्थ बदल दिया जाए और ऐसे दीए जलाए जाएं जो मन का अंधेरा भेद दें । ऐसी दीपावली की प्रासंगिकता आज है और आने वाले हर युग में रहेगी ।

९५. तमसो मा ज्योतिर्गमय

भारतीय संस्कृति में पर्वों, त्योहारों की एक महान परम्परा रही है। इस परम्परा का अपना इतिहास है, महत्त्व है और उपयोग है। कभी-कभी इसका इतिहास समय की सघन परतों के नीचे दब जाता है, फिर भी पर्व का महत्त्व कम नहीं होता। परम्परा एक ऐसी कड़ी है जो उसे लोक पर्व के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है।

दीपावली एक ऐसा पर्व है जो अन्य पर्वों से विलक्षण है और लोकजीवन को खुशियों से सराबोर कर देता है। इसके साथ दो बातें विशेष रूप से जुड़ी हुई हैं–संमार्जन और प्रकाश। संमार्जन वृत्तियों का भी होता है और पदार्थ का भी। सामान्यतः दीवाली को निमित्त बनाकर घर की झाड़-पोंछ की जाती है, बर्तनों को मांजा जाता है और मिठाइयां बांटी जाती हैं, अतिशबाजी की जाती है। प्रकाश का जहां तक सवाल है, मन को प्रकाशित करने की बात गौण है। दीयों, मोमबत्तियों एवं विद्युत बल्बों से घर को आलोकित किया जाता है।

दीवाली को लौकिक पर्व मानने और उसे लौकिक परिवेश में मनाने का प्रचलन ही अधिक है। कुछ लोग इसे श्री राम के आयोध्या पुनरागमन से जोड़ते हैं, कुछ लक्ष्मी से जोड़ते हैं, कुछ दयानन्द सरस्वती के साथ जोड़ते हैं और कुछ भगवान महावीर से जोड़ते हैं। दीवाली के दूसरे दिन परस्पर स्नेह मिलन की परम्परा भी है। उसके लिए 'रामा श्यामा' अथवा 'जयजिनेन्द्र' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उस मिलन से पारस्परिक सम्बन्धों में मधुरता घुलती है तथा नयी स्फुरणा का संचार होता है।

जैन परम्परा के अनुसार दीपावली प्रकाश का पर्व है। अमावस्या की रात्रि में भगवान महावीर का परिनिर्वाण होने पर देवों द्वारा रत्नों का उद्योत किया गया। रत्न-उद्योत से वह रात उजल उठी, अमावस्या पूनम बन गई। रात के भाल पर रत्न जड़ना मनुष्यों के वश की बात नहीं थी, इसलिए उन्होंने माटी के दीये जला कर उस परम्परा को आगे बढ़ाया।

लोकोत्तर दृष्टि से विचार किया जाए तो दीवाली को अंधकार से प्रकाश की

ओर ले जाने वाले पर्व के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जैसे सूक्त भी शायद ऐसे ही किसी पर्व की सूचना देने वाले हैं। ऊपर की खुशियों और प्रवृत्तियों को दूसरे स्थान पर रखकर इसे विशुद्ध रूप में प्रकाश की आराधना का पर्व माना जाए तथा प्रकाश के प्रतीक ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना की जाए तो यह पर्व अधिक आह्लादक, प्रकाशक और प्रेरक बन सकता है।

दीपावली के रहस्य तक नहीं पहुंचने वाले लोगों ने इसके साथ कुछ रूढ़ियों का प्रचलन भी कर दिया है, जैसे--घर का दरवाजा खुला रखना, रुपये की पूजा करना, पूजा-स्थल पर स्याही, कलम आदि रखना, ताकि विधाता उनके भाग्य का नया लेख लिख सके, दरवाजे के सामने गोबर का गोर्बधन बनाना, उस पर दीया जलाना आदि। इस प्रकार की अर्थहीन रूढ़ियों को आदमी पकड़ता बहुत जल्दी है, पर इन्हें छोड़ना बहुत मुश्किल हो जाता है। ऐसे अवसर पर एक बार गम्भीरता से सोचने की जरूरत है। जो रूढ़ियां व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को कोई आलोक नहीं दे सकतीं, उन्हें छोड़कर कुछ ऐसी परम्पराओं का सूत्रपात करना चाहिए, जिनसे प्रकाश मिल सके और मनुष्य का जीवन प्रकाशमय बन सके।

९६. रामायण और महाभारत का अन्तर

अध्यापक ने विद्यार्थियों से पूछा–'रामायण और महाभारत में क्या अन्तर है ?' विद्यार्थियों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिये। अध्यापक को संतोष नहीं हुआ। एक विद्यार्थी ने अनुरोध के स्वर में कहा–'सर, आप ही बताइए।'

अध्यापक बोला–'रामायण और महाभारत में सबसे बड़ा अन्तर है 'हक हकूक' का। रामायण के राम ने अपना अधिकार छोड़ा, राज्य छोड़ा और वे चौदह वर्षों तक वन में जाकर रहे। वे चाहते तो अधिकार के लिए लड़ाई कर सकते थे। दशरथ उन्हें वन में भेजना नहीं चाहते थे। अयोध्या की जनता उनके वन-गमन के संवाद से व्यथित थी। यदि वे मुहिम छेड़ते तो कैकेयी और मन्थरा के अतिरिक्त पूरा राज्य उनके साथ था। पर उन्होंने अपने कर्तव्य को अधिकार से ऊपर रखा। पिता के द्वारा दिए गए वचनों का पालन उनके जीवन का महान आदर्श था। एक क्षण के लिए भी उन्होंने कैकेयी के बारे में अन्यथा चिन्तन नहीं किया। निरन्तर चौदह वर्षों तक ऋषि-मुनियों के सान्निध्य का अवसर प्रदान करने के कारण वे कैकेयी के प्रति कृतज्ञता से भर गए। उनकी आंखों में कर्तव्य-निष्ठा के सपने थे और उनका व्यवहार ऐसा दर्पण था, जिसमें कर्तव्य के प्रतिबिम्ब रूपायित होते रहे।

महाभारत का सम्पूर्ण कथानक अधिकारों की लड़ाई का कथानक है। कौरव और पांडव आपस में चचेरे भाई थे। भाई-भाई के रिश्तों में जो गन्ध होती है, मिठास होती है, अपनापा होता है, उसका दर्शन ही वहां कहां होता है ? छल-बल से पांडवों को हराने का लक्ष्य। पांडव सब कुछ हार गए। उन्होंने राज्य हारा। पत्नी हारी। बारह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। एक वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। सब वादे पूरे कर वे वन से लौटे तो कौरवों को आग्रहपूर्वक समझाते हुए कहा–'अधिक नहीं तो पांडवों को बसने के लिए पांच गांव ही दे दो। इस पर दुर्योधन बोला–'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव ! आप पांच गांवों की बात करते हैं, पर मेरा संकल्प इतना मजबूत है कि मैं युद्ध के बिना सुई की नोक जितनी जमीन भी पांडवों को नहीं दूंगा।

ये दो उदाहरण हैं हमारे सामने। प्रथम उदाहरण अपनेपन से भरे आत्मीय सम्बधों का है। यह सम्बन्धों की मधुरता व्यक्ति को कभी आत्मकेन्द्रित नहीं होने देती। वह अपने बारे में जितना नहीं सोचता, परिवार, समाज और देश के बारे में सोचता है। वह एक सोची-समझी दिशा में आगे बढ़ता है। उसका अपना कोई स्वार्थ होता ही नहीं। पद प्रतिष्ठा और सुख-सुविधा के संस्कारों से भी वह ऊपर उठ जाता है। ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है जो कर्तव्य को अपने जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य मानता है।

वह संस्कृति सफल होती है जो कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों को जन्म देती है। वह शताब्दी सफल होती है, जो कर्तव्य की धारा को सतत प्रवाही बनाकर जन-जन तक पहुंचाती है। वह परम्परा सफल होती है, जो कर्तव्य का बोध देती है। कर्तव्यनिष्ठा की पारदर्शी आभा जब चारों ओर बिछती है तो वहां का वातावरण बदल जाता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान और सुख-सुविधा की अर्थहीन चिन्ता छोड़कर व्यक्ति अपने जीवन को कर्तव्य के लिए समर्पित कर दे। यह बात परिवार के लिए जितनी लागू है धार्मिक और सामाजिक संगठनों पर उतनी ही लागू है और उतनी ही लागू है राजनैतिक दलों पर। जो व्यक्ति सत्ता के लिए, प्रतिष्ठा के लिए अथवा अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए अन्धी दौड़ में सम्मिलित होता है, वह कर्तव्य की सीमाओं की रक्षा कैसे करेगा ?

रामायण और महाभारत की कथा दृश्य, श्रव्य और पाठ्य रूप में लाखों-करोड़ों लोग देखते हैं, पढ़ते हैं। इन कथानकों को देखने-सुनने में जितनी आतुरता है, उन्हें जीवन में उतारने की दृष्टि से उसका शतांश क्या, सहस्रांश भी नहीं है, यह आश्चर्य की बात है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र सबके लिए प्रेरणादायक है। आजकल दूरदर्शन पर रामायण का सीरियल बहुत लोकप्रिय हो रहा है। आफिस, दुकान, घर का काम सत्संग, प्रवचन सब कुछ छोड़कर रामायण देखा जाता है। जब-जब राम का उदात्त चरित्र सामने आता है, लोग उनकी प्रशंसा करते नहीं थकते हैं। पर राम बनने का प्रयत्न कौन करता है ? राम के चरित्र को जीने और दुर्योधन के चरित्र से उबरने का लक्ष्य कहां है ? सत्ता और स्वार्थ के व्यामोह से ऊपर उठकर अपने चरित्र की माप-तोल कौन करता है ?

अधिकार और लालसा की प्रेरणा से व्यक्ति नये-नये रास्ते खोज लेता है। पर कर्तव्यनिष्ठा के नाम पर वह खुले रास्तों को भी बन्द कर देता है। उसकी ऐसी हरकतों को देख मुझे अपनी लिखी हुई दो पंक्तियां याद आ जाती हैं–

सोचता समझता तू सब कुछ सही है।
करने कराने को कुछ भी नहीं है॥

जो व्यक्ति मूर्च्छा में हो, उसकी मूर्च्छा तोड़ने का उपाय किया जा सकता है। जो व्यक्ति नींद में हो, उसे जगाने का उपक्रम सोचा जा सकता है। पर जो व्यक्ति जान-बूझकर कर्तव्यपथ से आंख-मिचौनी करे, उसके लिए कोई क्या कर सकता है? आज सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि व्यक्ति अपनी सोच को बदले और अधिकार की बात छोड़ कर्तव्य को प्राथमिकता दे।

१७. जितने प्रश्न : उतने उत्तर

सत्ता के संचालन में शक्ति की अपेक्षा रहती है या नहीं ? यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न से जुड़े और भी कई सवाल हो सकते हैं। जितने सवाल, उतने जवाब। जितनी समस्याएं, उतने समाधान। कोई भी सवाल ऐसा नहीं, जिनका जवाब न हो। सत्ता संचालन का पक्ष तो बहुत साफ है। इसमें शक्ति के विना कोई काम नहीं होता। शक्ति दो प्रकार की होती ई–नैतिक शक्ति और उपकरण शक्ति। नैतिक शक्ति के बिना तो व्यक्ति सही ढंग से प्रशासन कर ही नहीं सकता। उपकरण शक्ति का जहां तक प्रश्न है, एक सीमा तक वह भी जरूरी है। किन्तु वह शक्ति ही एक मात्र तत्त्व नहीं है। उससे भी अधिक आवश्यक है–बुद्धि, विवेक, साहस और निर्णायक क्षमता। जिस शासक में ये चारों तत्त्व नहीं होते, वह सही रूप में सत्ता को संचालित नहीं कर सकता। एक शासक के पास बहुत बड़ी सेना हो, शस्त्रास्त्रों का विशद भण्डार हो, पर सही समझ न हो और समय पर सही निर्णय लेने की क्षमता न हो तो शक्ति भी अहितकर बन जाती है। सामान्यतः राष्ट्रीय एवं सामाजिक सत्ता के संचालन में शक्ति तत्त्व अपेक्षित रहता है, पर वही सब कुछ नहीं है, परम तत्त्व नहीं है। अधिकारी व्यक्ति की चरित्रनिष्ठा, जागरूकता और जनता की सहानुभूति का योग होने से ही सत्ता के गलियारों को पार किया जा सकता है। किसी एक तत्त्व की कमी होते ही प्रशासक विवादों के घेरे में खड़ा हो जाता है। उस समय वह सत्ता का संचालन करता है या सत्ता के द्वारा संचालित होता है, कुछ कहना कठिन है।

जैन आगमों में राजा चण्डप्रद्योत और उदयन का प्रसंग आता है। चण्डप्रद्योत एक शक्तिसंपन्न बड़ा सम्राट था। उदयन बहुत छोटा राजा था। उसकी शक्ति भी सीमित थी। चण्डप्रद्योत का चारित्रक पक्ष इतना उज्ज्वल नहीं था। उसने जनता का विश्वास खो दिया। फलतः उसे बन्दी बनना पड़ा। यदि शक्ति ही सब कुछ होती तो उसके साथ यह दुर्घटना नहीं घटती।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम और रावण का प्रसंग प्रसिद्ध है। रावण की सत्ता और

शक्ति से संसार कांपता था । इधर राम वनवासी थे । उनके पास न वैसी सेना थी, न वैसा शस्त्र -बल था और न कोई दूसरी सामग्री थी । फिर भी उन्होंने रावण की सत्ता को चुनौती दे दी । रावण धराशायी हो गया । क्योंकि उसका चरित्रबल क्षीण हो गया, सूझबूझ समाप्त हो गई, सही निर्णय लेने की क्षमता चुक गई और उसने जनता की सहानुभूति खोकर गृह-कलह के बीज वो दिए ।

शक्ति के सहारे सत्ता का संचालन होता तो न रावण मारा जाता और न कौरवों को पराजय का मुंह देखना पड़ना । इतने आगे न जाएं तो भारत का इतिहास सामने है । भारत का शासन-सूत्र अंग्रेज संभाल रहे थे । शक्ति की उनके पास कमी नहीं थी । उनके सामने भारत छोड़ने की विवशता शक्ति की कमी से नहीं थी । ये प्रसंग प्रमाणित करते हैं कि प्रबुद्ध जनता केवल शक्ति के आधार पर शासित नहीं हो सकती ।

धर्मशासन का नेतृत्व भी एक प्रकार से सत्ता का उपयोग है । लाखों-लाखों व्यक्तियों के संघ पर अनुशासन किया जाता है । वहां न कोई सेना होती है, न शस्त्र होते हैं और न वल प्रयोग होता है । फिर भी उसकी व्यवस्थाएं सुचारु रूप से संचालित होती हैं । इन सव तथ्यों पर विचार करने के वाद यही फलित होता है कि शक्ति के सहारे सत्ता के संचालन की वात आंशिक रूप से ही मान्य हो सकती है, वह भी अन्य तत्त्वों की सहकारिता में ।

१८. एक क्षण ही काफी है

क्षण जीवन का बहुमूल्य घटक होता है। जो व्यक्ति क्षण को पहचानता है, वह अपने आपको पहचान लेता है। जो क्षण की उपेक्षा करता है, वह अपनी उपेक्षा करता है। 'खणं जाणाहि' समय का मूल्यांकन करो। समय का मूल्यांकन स्वयं का मूल्यांकन है। समय की सिकता पर छोड़े गए निशान अमिट हो सकते हैं। समय के भाल पर लिखा हुआ आलेख भी अमिट हो सकता है। बशर्ते उसमें कुछ वैशिष्ट्य हो। समय एक प्रवाह है। वह निरन्तर बहता रहता है। उसे कोई बांधकर नहीं रख सकता। उसे बांधने का एक ही उपाय है। वह उपाय है उसका सही उपयोग। समय पर लिया या सही निर्णय और समय पर किया गया काम इतिहास का दुर्लभ दस्तावेज बन जाता है। इसलिए समय के प्रति जागरुक रहने की अपेक्षा है। वह हमारे दरवाजे पर किसी भी क्षण दस्तक दे सकता है। हम उसकी दस्तक को सुनें। संभव है, उससे जीवन की दिशा बदल जाए।

बाहुबलि मुनि-जीवन स्वीकार कर साधना के प्रति समर्पित हो गए। दिन बीते, महीने बीते, पूरा वर्ष बीत गया। इस वर्ष में उन्होंने न भोजन किया, न पानी पिया, न हिलेडुले और न आंखें खोलीं। पाषाण की प्रतिमा की भांति वे अडोल रहे। उनके शरीर के आसपास उगी हुई लताएं उनकी देह-यष्टि का सहारा लेकर ऊपर चढ़ गईं। पक्षियों ने वहां नीड़ बना लिये। सफलता नहीं मिली। भगवान ऋषभ की प्रेरणा से ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों साध्वियां वहां आयीं। उन्होंने एक गीत गाया। गीत के बोल बाहुबलि के कान में पड़े। कोई विशिष्ट क्षण था वह। बाहुबलि के अहं का शल्य निकला और वह केवलज्ञान के आलोक से उद्भासित हो उठा।

सम्राट श्रेणिक का पुत्र नंदीषेण मुनि बना। मन विचलित हुआ और वह एक स्त्री के मोहजाल में फंस गया। उस स्थिति में भी उसकी चेतना अन्तर्मुखी थी। उसने संकल्प किया–प्रतिदिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर भगवान महावीर के पास भेजूंगा। उसके बाद ही अन्नजल ग्रहण करूंगा। लगातार बारह वर्षों तक

यह क्रम चला। इस अवधि में वह अपने मुनि-जीवन को भूल गया। स्वीकृत संकल्प के अनुसार वह उस दिन भी नये लोगों को प्रतिबोध दे रहा था। नौ व्यक्ति समझे, चले गए। दसवां व्यक्ति एक स्वर्णकार उसके सामने था। वह उपदेश दे रहा था पर सामने वाले पर कोई असर नहीं पड़ा। उधर स्त्री भोजन के लिए उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। बहुत अधिक समय हो जाने पर भी नन्दीषेण भोजन के लिए नहीं पहुंचा। वह स्वयं उसे बुलाने के लिए चली आई। नन्दीषेण ने अपने अधूरे संकल्प को पूरा करने की बात कही तो वह बोली–'यह भी कोई बात है। प्रयत्न करना अपने हाथ में है। कोई नहीं समझेगा तो उसे जबरन कैसे समझाओगे। नौ व्यक्ति समझ गए। दसवां नहीं समझता है तो अपने आपको समझा मान लो।' स्त्री द्वारा सहज भाव से कही गई बात नन्दीषेण की चेतना को झकझोर गई। वह तत्काल उठा। बारह वर्ष पहले उतारा गया मुनिवेश धारण कर हाथ में रजोहरण ले घर की सीढ़ियां उतर गया। वह सीधा भगवान महावीर के पास पहुंचा और पुनः मुनिधर्म में दीक्षित हो गया।

अपने भाई शालिभद्र की दीक्षा की बात सुन सुभद्रा रो रही थी। उसके पति धन्यकुमार ने रोने का कारण पूछा सुभद्रा ने कहा–'मेरा भाई साधु बनेगा। वह अपनी बत्तीस पत्नियों में से एक-एक पत्नी का प्रतिदिन परित्याग कर रहा है।'

धन्यकुमार बोला–'सुभद्रे! तुम्हारा भाई कायर है। साधु ही बनना तो फिर यह नाटक क्यों? एक साथ सबसे नाता तोड़े और प्रभु की शरण में पहुंचे।'

सुभद्रा को ये शब्द अच्छे नहीं लगे। वह दुःखी स्वर में बोली–'कहना सरल है, करना बहुत कठिन। पहले कुछ करके दिखाओ। फिर किसी को अपने व्यंग्यबाणों से बींधना।'

सुभद्रा के ये बोल धन्यकुमार को लग गए। उसका पौरुष जाग उठा। वह उसी क्षण मुनि बनने के लिए तैयार होकर बोला–'अच्छा, सुभद्रा! अब मैं जाता हूं। मेरी प्रतीक्षा मत करना।'

रामभक्त-हनुमान विमान में बैठकर सुमेरुपर्वत की यात्रा कर रहा था। उसने अस्ताचल के ऊंचे शिखर की ओट में डूबते हुए सूरज को देखा। उगते हुए सूरज की अरुणाभ रश्मियां और मध्याह्न में तपते हुए सूरज के तेज की स्मृति से उसके मन में प्रतिक्रिया हुई–सूरज उगता है, तपता है, अस्त होता है। सभी प्राणियों की ऐसी दशा है। एक दिन मुझे भी अस्त होना पड़ेगा? बस, इस चिन्तनधारा ने उसको बेचैन कर दिया। एक क्षण की बेचैनी ने हनुमान को राज्य से निवृत्त कर साधु बना दिया।

एक युवक परिवार के साथ मोटरकार से कहीं जा रहा था। रास्ते में इंजिन

खराब हो गया। कार रुक गई। युवक ने बहुत कोशिश की। गाड़ी नहीं चली। वह हताश होकर बैठ गया। कुछ समय बाद उधर से कोई मैकेनिक गुजरा। उसने इंजिन ठीक करने के लिए एक हजार रुपये मांगे। रुपयों की मांग अधिक थी, पर अन्य उपाय न देख युवक ने मैकेनिक को काम सौंप दिया। मैकेनिक ने एक हथौड़ा हाथ में लिया और एक ही चोट में इंजिन को स्टार्ट कर दिया। युवक देखता रह गया। वह बोला–'महाशय! एक बार हथौड़ा चलाने का एक हजार रुपया! सौदा मंहगा हो गया।'

मैकेनिक बोला– 'यह सारा रुपया चोट करने का नहीं है। चोट करने का तो केवल एक रुपया है। शेष ९९९ रुपये तो चोट कहां करनी और कैसे करनी, इस बात के हैं।' सही स्थान पर की गई चोट ही कार्यकारी हो सकती है।

ऊपर दिए गए पांचों उदाहरण इस तथ्य के साक्षी है कि जीवन में बदलाव घटित करने के लिए एक क्षण ही काफी है। काश! हम उस क्षण को सही ढंग से पकड़ें और उसका सही ढंग से उपयोग करें।

९९. एक तपोवन, जहां सात सकारों की युति है

दो प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं—आयोजनात्मक और प्रयोजनात्मक। कुछ आयोजन स्थायी होते हैं। प्रतिवर्ष आयोजित होते हैं, तात्कालिक प्रभाव छोड़ते हैं और एक वर्ष बाद फिर से समायोजित होने के लिए चले जाते हैं। कुछ आयोजन प्रयोगात्मक होते हैं। चिरन्तर प्रयोजन सामने आता है, किसी व्यक्ति या समूह को कोई नयी बात सुझाता है और उसकी स्थायी परिणति हो जाती है। जितनी भी रचनात्मक प्रवृत्तियां चल रही हैं, उनके पीछे इसी प्रकार की प्रेरणा का इतिहास बोलता है।

तेरापंथ धर्मसंघ रचनात्मक प्रवृत्तियों का संगम है। आचार्य भिक्षु का रचनात्मक दृष्टिकोण इसकी बुनियाद में है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उस दृष्टिकोण को पकड़ा। श्रीमज्जयाचार्य ने उसको विकसित किया और हमें उसे अधिक व्यापकता देने का अवसर मिला। आज तेरापंथ धर्मसंघ के पास जितने रचनात्मक काम हैं, उनके लिए हमें सात्विक गर्व है और धर्मशासन के लिए यह गौरव की बात है।

बहुत वर्षों पहले एक विचार उठा कि भारत की प्राच्य विद्याओं पर शोध करने के लिए एक संस्थान की अपेक्षा है। जैन आगम, धर्म तथा दर्शन का अध्ययन एवं एतद्विषयक शोध हेतु विद्यार्थी और विद्वान आएं, उन्हें आवास, साहित्य आदि की सुविधा उपलब्ध हो तो जैन धर्म को व्यापकता दी जा सकती है। इस विचार का बीजारोपण हमारी दक्षिण यात्रा के समय नन्दीहिल, ६ जून, १९६८ को हुआ। उटकमण्ड २२ अप्रैल, १९६९ में गम्भीर विचार विमर्श के बाद निर्णय लिया गया और ४ अप्रैल, १९७१ तदनुसार वि० सं० २०२८ चैत्र शुक्ला नवमी, आचार्य भिक्षु अभिनिष्क्रमण दिवस के पावन अवसर पर विधिवत उसकी स्थापना हो गई। उस संस्थान का नाम रखा गया जैन विश्व भारती।

नागौर जिले का लाडनूं कस्बा। कस्बे के उत्तरी भाग में स्थित निर्जन एकान्त जंगल किसी समय अन्तर्राष्ट्रीय मंच बनेगा और वहां से विश्वशान्ति एवं अहिंसा पर उठे हुए स्वरों के प्रकम्पन पूरे संसार में पहुंचेंगे, यह कल्पना किसने की थी?

संस्कृत-प्राकृत भाषाओं, आयुर्वेद, गणित, इतिहास, ज्योतिष, मंत्रविद्या, ध्यान आदि का अध्ययन, अध्यापन और शोध—इस उद्देश्य के साथ सन् १९७५ में तात्कालीन उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती के द्वारा इस संस्थान के ग्रन्थागार और अतिथि भवन का उद्घाटन हुआ। उससे पहले तो वहां स्वास्थ्य-निकेतन सोसायटी का एक ही भवन था। सोसायटी के कार्यकर्ताओं के उदार चिन्तन से उस भवन का 'जैन विश्वभारती' में रूपान्तरण अपने आप में एक सुखद घटना है। आज इस संस्थान का बाह्य रूप भी इतना भव्य, विशाल और आकर्षक है, जिसके आधार पर उसके अंतरंग स्वरूप को समझा जा सकता है।

शिक्षा, शोध, साहित्य, साधना, सेवा, संस्कृति और समन्वय—इन सात महान प्रवृत्तियों को अपने आप में समेटे हुए यह एक तपोवन का रूप लेता जा रहा है। प्रारंभ में अधिकांश लोग इसके स्थायित्व को लेकर आशंकित थे। मुझे यह बराबर आभास हो रहा था कि 'जैन विश्व भारती' समाज के लिए कामधेनु है। काश! समाज के लोग इसका दोहन करना सीख लें। दोहन की कला का ज्ञान न हो तो अमृत पिलाने वाली धेनु लात भी मार सकती है। इस अपेक्षा को मैं आज भी बराबर अनुभव कर रहा हूं। सन्तोष की बात है कि समाज के अधिसंख्य चिन्तनशील लोगों का विधायक चिन्तन इसके साथ जुड़ता जा रहा है।

'जैन विश्व भारती' की स्थापना के प्रारंभिक काल में जो आशंका और निराशा थी उसका कुहासा अब पूरी तरह से छंट गया। आंख का स्थान विश्वास ने ले लिया। लोग अनुभव करने लगे हैं कि तेरापंथ धर्म संघ के विकास की एक नियति है यह संस्थान। इसके माध्यम से अनेक अच्छे काम हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में ऐसे काम हो सकेंगे, जिनके सम्बन्ध में अभी कोई कल्पना नहीं की जा सकती।

निराशा की बात करने वालों को एक चिन्ता थी कि जैन विश्व भारती कब तक चलेगी ? यह चिन्ता अस्वाभाविक नहीं थी क्योंकि अनेक संस्थान योग्य और समर्पित कार्यकर्ताओं के अभाव में अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख पाते। जैन विश्व भारती का जहां तक प्रश्न है, इसका सम्बन्ध पूरे धर्मसंघ के साथ है। इसके शरीर-निर्माण का दायित्व समाज के हाथ में है और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा का काम हमारा है। ऐसी स्थिति में कार्यकर्ताओं का उत्साह मंद कैसे हो सकता है ? इस संस्थान में जो रचनात्मक काम हो रहे हैं, उनका भी स्थायी मूल्य है। ऐसी मूल्यवान् प्रवृत्तियों को बन्द करने की बात कोई भी क्यों सोचेगा ? किसी भी संस्थान का अस्तित्व तब तक समाप्त नहीं हो सकता जब तक उसे जीवट भरे कार्यकर्ता उपलब्ध होते रहते हैं। जैन विश्व भारती की यह नियति है कि उसको अदम्य विश्वास वाले कार्यकर्त्ता मिलते जा रहे हैं। जब तक यह योग है, इसके सम्बन्ध में आशंका

या निराशा टिक ही नहीं सकती ।

सन् १९८९ में जैन विश्व भारती वयस्क होने जा रही है । अठारह वर्ष की इस अवधि में शिक्षा, शोध, साधना, सेवा और साहित्य के क्षेत्र मे यहां उल्लेखनीय काम हुआ है, हो रहा है । इसके मंच से समन्वय को पोषण मिला है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के साथ ही जागतिक सांस्कृतिक मूल्यों के आदान-प्रदान की सशक्त कड़ी जुड़ गई है । इसी वर्ष जैन विश्व भारती परिसर में योगक्षेम वर्ष के प्रशिक्षण और प्रयोगमूलक कार्यक्रमों—प्रज्ञापर्व समारोह के समायोजन से पूरे समाज की दृष्टि इस ओर केन्द्रित हो गई है । व्यक्तित्व निर्माण के इस महान अनुष्ठान में संपूर्ण समाज की साझेदारी है । योगक्षेम वर्ष का समायोजन देश के अन्य किसी भी भाग में हो सकता था पर जैन विश्व भारती की भी अपनी नियति है । स्थान, साहित्य आदि उपकरण सामग्री की सुविधा के साथ इस तपोभूमि के विशिष्ट विकिरणों का भी एक आकर्षण है । एक वर्ष की इस लम्बी और सुनियोजित यात्रा में हम अपने चतुर्विध धर्मसंघ को रूपान्तरण की मंजिल उपलब्ध करा सकेंगे, यह अतिवाद है । हमारा विश्वास यथार्थ में है । यथार्थ की ठोस धरती पर खड़े रहकर ही हम व्यक्तित्व-निर्माण के आकाश से सम्बन्ध स्थापित करना चाहेंगे । हजारों-हजारों व्यक्तियों की यह सहयात्रा कुछ निश्चित पड़ावों तक पहुंच सकेगी, एक नयी जीवन शैली के विकास में निमित्त बनेगी और जैन विश्व भारती की भी जैन विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठा हो सकेगी, ऐसी संभावना है ।

१००. मंजिल तक ले जाने वाला आस्था-सूत्र

भगवान महावीर त्रिकालदर्शी थे। वे प्रवृत्ति को जानते थे, परिणाम को भी जानते थे। वे तथ्यों के आधार पर सत्य का बोध नहीं करते थे। सत्य के साथ उनका सीधा संबंध था। उन्होंने अनेकान्त का दर्शन दिया। एकान्त में आग्रह नहीं होता, वहां लचीलापन होता है। सत्य को पकड़ने की जितनी दृष्टियां होती हैं, अनेकान्त में उन सबका समावेश है। सत्य का नवनीत उसे मिलता है, जो आगे बढ़ने के साथ पीछे हटना भी जानता है। इस सत्य को नहीं समझना आज की सबसे बड़ी समस्या है।

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—पदार्थ में आसक्त और पदार्थ में विरक्त। आसक्ति के पथ पर आगे बढ़ने वाले अपनी आकांक्षाओं को विस्तार देते हैं। उनकी इच्छाओं का इतना विस्तार हो जाता है, जहां से लौटना संभव नहीं है। उस विस्तार में व्यक्ति का अस्तित्व विलीन हो जाता है। फिर वह अपने लिए नहीं जीता। उसके जीवन का आधार पदार्थ बन जाता है। पदार्थ जब मनुष्य पर हावी हो जाए तो समस्या क्यों नहीं होगी? असक्ति अपने आप में समस्या है। इस समस्या का समाधान पदार्थ के विस्तार में नहीं, संयम में है। संयम के पथ पर वही चल सकता है, जो पदार्थ से विरक्त होने लगता है।

जिन लोगों को विरक्ति का पथ प्राप्त है, जो जीवन-भर इस पथ पर चलने के लिए कृतसंकल्प हैं, उनके सामने किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं होना चाहिए। पदार्थ जीवन की आवश्यकतापूर्ति का साधन है, यह भाव जब तक प्रबल रहता है, उसके प्रति मूर्च्छा नहीं होती। किन्तु जब पदार्थ साध्य बन जाता है, तब व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है। बदला हुआ दृष्टिकोण व्यक्ति को स्वच्छन्द बनाता है, सुविधावादी बनाता है और उसे संग्रह की प्रेरणा देता है। स्वच्छन्दता, सुविधावाद और संग्रहवृत्ति—ये तीन सकार साधना के विघ्न हैं। साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए इनका सीमाकरण करना ही होगा।

वैचारिक स्वतंत्रता का जहां तक प्रश्न है, साधना के साथ उसका कोई विरोध

नहीं है। पर विचार की स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति अपनी सीमा, संविधान और परम्परा से विमुख होकर उच्छृंखल बन जाए। यह उच्छृंखलता या स्वच्छन्दता जहां प्रवेश पा लेती है, वहां से अनुशासन, व्यवस्था आदि तत्त्वों का पलायन हो जाता है। यह स्थिति व्यक्ति और समूह दोनों के लिए हितकर नहीं है।

सुविधा के साथ भी साधना का विरोध नहीं है। साधना के नियम जिस सीमा तक स्वीकृति देते हैं, उस सीमा में सहज रूप से कोई सुविधा प्राप्त होती हो तो उसका उपयोग सम्मत है। जैन साधना पद्धति में शरीर को साधने का विधान तो है पर उसे कष्ट देना कभी अभीष्ट नहीं है। स्वीकृत साधनापथ में कष्ट की उपस्थिति स्वाभाविक है। उस कष्ट को समता के साथ सहना आवश्यक है। इस भूमिका पर सुविधावादी मनोवृत्ति को कोई स्थान नहीं है। जहां सुविधावाद पनपता है, वहां लक्ष्य की विस्मृति हो जाती है।

संग्रह की वृत्ति बहिर्मुखता का लक्षण है। साधक क्षणजीवी होता है। अतीत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता वह करता है, जो आत्मस्थ नहीं होता। वर्तमान में जीना आत्मस्थता का प्रतीक है। एक साधक कल की जरूरत को ध्यान में रखकर संग्रह नहीं करता पर एक व्यवसायी सात पीढ़ियों के लिए पूरी व्यवस्था जुटाने में संलग्न रहता है। यह बात सही है कि साधक अशरीरी नहीं होता। शरीर की अपेक्षाओं को वह गौण नहीं कर सकता। पर दैहिक अपेक्षाओं को लेकर वह मूढ़ नहीं हो सकता। उसका विवेक जागृत रहता है। वह अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखता है और आकांक्षाओं पर नियंत्रण रखता है। इस कारण उसमें अनावश्यक संग्रह का भाव नहीं जाग सकता।

कभी-कभी साधक के जीवन में भी स्वच्छन्दता, सुविधावाद और संग्रहवृत्ति जाग सकती है। प्रश्न उठता है कि इन वृत्तियों का उत्स क्या है? कौन-सी अभिप्रेरणा इन्हें उभरने का अवसर देती है? मेरे अभिमत से इन तीन संस्कारों का उद्भव तीन आकारों से होता है। वे तीन आकार हैं—अहं, अश्रम और असंतोष।

स्वच्छन्दता की मनोवृत्ति वहीं सक्रिय होती है, जहां अहंकार का नाग फन उठाए रखता है। अहंवादी व्यक्ति स्वयं को सब कुछ समझता है। उसे अपने सामने अन्य सभी लोग बौने दिखाई देते हैं। वह अपनी सोच को मौलिक मानता है और अपने क्रियाकलापों को प्रमाण मानता है। ऐसी स्थिति में वह न तो किसी से मार्गदर्शन ले सकता है और किसी के नियंत्रण में रह सकता है।

सुविधावाद का भाव वहां विकसित होता है, जहां व्यक्ति श्रम से जी चुराता है, अपनी क्षमता का उपयोग नहीं करता और पुरुषार्थ में विश्वास नहीं करता।

पुरुषार्थी व्यक्ति कभी सुविधावादी नहीं हो सकता। वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा कठिन से कठिन काम को सरल कर लेता है। दूसरों के भरोसे जीने वालों का कोई निश्चित भविष्य नहीं होता। अश्रम का बीज ही आगे जाकर सुविधावाद के रूप में पल्लवित होता है। इस दृष्टि से साधना के साथ श्रमशीलता की युति आवश्यक है।

संग्रह वृत्ति का बीज है असंतोष। जिस व्यक्ति को पदार्थ में संतोष नहीं होता, वह संग्रह करने की बात सोचता है। अप्राप्त की आकांक्षा भी वहां होती है, जहां व्यक्ति अपनी स्थिति में संतुष्ट नहीं होता। आगमों में लोभ के पारावार को पार करने के लिए संतोष में सेतु का प्रतीकन किया है। जिस समय जैसा पदार्थ उपलब्ध होगा, उसी से आवश्यकता की पूर्ति हो जाएगी, यह विधायक चिन्तन असंतोष की जड़ को काट सकता है और संग्रह की मनोवृत्ति को बदल सकता है। साधना की सफलता स्वच्छंता, सुविधावाद और संग्रहवृत्ति में नहीं है। इस सिद्धान्त की स्वीकृति के साथ ही अनुशासन, श्रमशीलता और असंग्रह में आस्था जाग जाती है। इसी आस्था के सूत्र को जीवन के साथ संयोजित कर साधक अपनी मंजिल को निकट करता है।

१०१ बदलाव जीवन-शैली का

राजस्थान पत्रिका और नवभारत टाइम्स में एक लेख पढ़ा । उस लेख में आर्मीनिया के भूकंप में खड़े रहे एवं ढह पड़े पुराने और नये मकानों के सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल उठाए गए हैं । आम आदमी के लिए उन सवालों का विशेष मूल्य नहीं है पर वैज्ञानिकों, वास्तुविदों आर इंजीनियरों को चौंकाने वाले हैं। एक ओर बढ़ता हुआ वैज्ञानिक विकास, दूसरी ओर बढ़ते हुए प्राकृतिक खतरे । क्या इन दोनों के बीच सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है ? सोवियत नेता गोर्बाच्येव ने आश्वासन दिया है कि वे पुराने मकानों की मजबूती और नये मकानों के खोखलेपन की जांच कराएंगे । जांच का जहां तक प्रश्न है, वह इस शताब्दी की संस्कृति हो गई है । मुख्य मुद्दा यह है कि क्या जांच से उजागर हुए तथ्यों को ध्यान में रखकर मनुष्य अपनी जीवनशैली में बदलाव लाएगा ?

चालू दशक में रूस, चीन आदि कई देशों में नयी विचार-क्रान्ति जन्म ले रही है । कहा जाता है कि इससे पूरे विश्व की व्यवस्था में बदलाव की संभावना तीव्र हो रही है । व्यवस्था विश्व की हो या किसी एक राष्ट्र की, उसके बदलाव का मूलभूत आधार है व्यक्ति । जब तक व्यक्ति का चिन्तन नहीं बदलता है, दृष्टिकोण नहीं बदलता है, उसके जीने के तौर-तरीके नहीं बदलते हैं और और समाज के मूल्यमानक नहीं बदलते हैं तब तक व्यवस्था परिवर्तन के नारे अनुगूंज का क्षणिक प्रभाव तो छोड़ सकते हैं पर उनसे कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता । स्थायीऔर सार्थक परिवर्तन के लिए व्यक्ति की सोच ही नहीं, उसकी जीवनशैली को भी बदलना आवश्यक है ।

जीवनशैली के मुख्य अंग हैं—खानपान, रहनसहन, भाषा, परिधान, रीतिरस्म, व्यवसाय, सभ्यता, संस्कृति आदि । इनका सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति, वर्ग, समाज या देश के साथ नहीं है । एक ही राज्य या देश में रहने वाले व्यक्तियों के खानपान, रहनसहन आदि में काफी अन्तर रहता है । इन बातों पर धार्मिक आस्थाओं का प्रभाव भी होता है । वैसे समय के साथ जीवन का प्रवाह बदलता ही है । वैसे

की मद्धिम रोशनी से जगमगाने वाले घर आज डेलाइट्स की चकाचौंध से दमकते हैं। विज्ञान और नयी तकनीक ने चुपचाप मानव-जीवन में प्रवेश पा लिया है। विकास की सोपान पर खड़े व्यक्ति के सामने अब कुछ ऐसी प्राकृतिक चुनौतियां हैं, जिन्हें झेलने के लिए जीवनशैली को बदलना होगा। आधुनिकता के रथ पर आरूढ़ मनुष्य रास्ते के तमाम आरोहों एवं अवरोहों को पार कर जीवन के समतल पर आगे बढ़े, इसके लिए उसे एक बार पीछे मुड़कर देखना होगा।

२१ फरवरी १९८९ को हम योगक्षेम वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। इस वर्ष प्रशिक्षण और प्रयोग का प्रस्तावित अभिक्रम विलक्षण है। इसकी विलक्षणता का एक बिन्दु यह है कि अब तक ऐसा कभी नहीं हुआ तो दूसरा बिन्दु है अध्यात्म और विज्ञान की युति। वर्ष शुरू हो, प्रशिक्षण और प्रयोग चलें, वर्ष बीते और उसका समापन हो जाए, इतना मात्र ही हमें अभीष्ट नहीं है। इस वर्ष की संपन्नता के बाद भी कुछ ऐसे चिह्न बने रहें, जिनको समय की धूल ढांक न सके तो यह आयोजना अधिक सार्थक और प्रासंगिक बन सकेगी। चिन्तन के स्तर पर इस पक्ष को अनदेखा नहीं किया गया है। उसका एक बिन्दु है जैन जीवन-शैली का विकास। इसके द्वारा जैन समाज में गुणात्मक बदलाव आए और इस बात की संपुष्टि हो कि जैनत्व केवल पढ़ने या बोलने का तत्त्व नहीं, जाने का तत्त्व है, तो बड़ी उपलब्धि हो सकती है।

वर्तमान युग की धारा में जैन लोगों के जीवन में किन तत्त्वों की अपेक्षा है, इस बात को ध्यान में रखकर एक जीवन-शैली का निर्धारण किया गया है। उसके आधारभूत तत्त्व नौ हैं—सम, शम, श्रम, अहिंसा, इच्छा परिमाण, आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति, अनेकान्त, समता की उपासना तथा साधर्मिक वात्सल्य। समानता, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व, श्रमशीलता, आत्मौपम्य भाव का विकास, बढ़ती हुई इच्छाओं का नियंत्रण, मद्य, मांस, जुआ, चोरी आदि का परिहार, विरोधी विचारों वाले व्यक्तियों को सहने की क्षमता, जागृत उपासना की सार्थकता और साधर्मिकों के साथ मधुर संबंध—इन नौ उद्देश्यों का समन्वित फलित है यह जीवन-शैली। इसमें भी प्रशिक्षण और प्रयोग की बात जुड़ी हुई है। सैद्धान्तिक रूप से इन तत्त्वों को समझना, यह पहली आवश्यकता है। योगक्षेम वर्ष के प्रशिक्षण-क्रम में जीवन-व्यावहार विषय के अन्तर्गत एक-एक तत्त्व को विस्तार से समझाने का लक्ष्य है।

जैन आगमों में शिक्षा के दो रूप बताए गए हैं—ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा। ग्रहणशिक्षा का सम्बन्ध तत्त्व के बोध तक सीमित है। आसेवन शिक्षा उन तत्त्वों को आत्मसात् करने की दिशा बताती है। जैन जीवन शैली में जिन तत्त्वों का निर्धारण किया गया है, वे दुरूह तो नहीं हैं पर उनकी अपनी पहचान है। मैं सबसे पहले

तेरापंथ समाज में इस शैली को प्रतिष्ठित देखना चाहता हूं। समाज का एक-एक व्यक्ति मेरी इस चाह को समझे, पकड़े और वैसा जीवन जीने के लिए संकल्पित बने। प्रारंभ में संख्या पर ध्यान न देकर कुछ ठोस और साहसी व्यक्ति इस अभियान को उठाएं। जैसे-जैसे इसकी उपयोगिता प्रमाणित होगी, नये-नये व्यक्ति इसके साथ जुड़ते जाएंगे। एक अवधि के बाद वे मुड़कर देखेंगे तो उनके मुंह से अनायास ही किसी शायर की ये पंक्तियां निकल पड़ेंगी—

> वे अकेले ही चले थे मंजिल की ओर,
> हमसफर आते गए, कारवां बनता गया ॥

□□